पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबंध

हिन्दी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (1870–1910)

(HINDI AUR URDU KE AARAMBHIK UPANYASON KA TULNATMAK ADHYAYAN (1870-1910))

A Comparative Study of Early Novels in Hindi and Urdu (1870-1910)

प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे
(शोध–निर्देशक)

प्रो. नामवर सिंह
(सह शोध–निर्देशक)

चित्तरंजन कुमार
(शोधार्थी)

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

(2017)

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Date: 21/07/2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. thesis entitled (**HINDI AUR URDU KE AARAMBHIK UPANYASON KA TULNATMAK ADHYAYAN 1870-1910**) (**A Comparative Study of Early Novels in Hindi and Urdu (1870-1910)** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Chitranjan Kumar

Chitranjan Kumar
(Research Scholar)

Prof. Devendra Kumar Choubey
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

21/7/17

Prof. Namwar Singh
(Co-Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Prof. Gobind Prasad
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

भूमिका

हिंदी और उर्दू के उपन्यासों का उद्‌भव हुए तकरीबन एक सौ पचास साल हो चुके हैं। डेढ़ शताब्दी की इस यात्रा में उपन्यास ने कई पड़ावों को पार किया। विभिन्न चरणों से गुजरते हुए उसने कई प्रतिमान भी स्थापित किए। आज समकालीन उपन्यासों पर शोध करने वालों की कमी नहीं है, परंतु समकालीनता के अतिशय आग्रह के कारण उपन्यासों का आरंभिक काल उपेक्षित रह जाता है। हिंदी में आरंभिक उपन्यासों को लेकर बहुत ही कम शोध हुए हैं। हिंदी का पहला उपन्यास किसे माना जाए, आरंभिक उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ क्या थी जैसे विषयों से हम आगे बढ़ ही नहीं पाते। बहुत हुआ तो हमने चार–पाँच आरंभिक उपन्यासों का प्रकाशन वर्ष याद कर लिया। हमें हिंदी के आरंभिक उपन्यासों का नाम तो याद रहता है, पर हम इन्हें पढ़ने की जहमत नहीं उठाते। ये हमारे पाठ्‌यक्रम का भी हिस्सा नहीं है। हिंदी के छात्र इनका नामोल्लेख करके अपने कर्तव्य की इतिश्री कर लेते हैं। अधिकांश लोगों की नजर में आरंभिक उपन्यास एक पुरानी पोथी की तरह हैं। हमने इनकी 'प्राचीनता' का सम्मान करते हुए पुस्तकालयों में स्थान तो दे दिया है पर इन्हें पलट कर पढ़ने वाले कम ही हैं। ये प्राचीन उपन्यास पुस्तकालयों की ठंडी हवा में बैठे–बैठे अपने पाठकों का इंतजार करते रहते हैं। इन पर जमी हुई धूल बताती है कि इनसे संवाद करने वाला कोई नहीं है। इन पर जमी धूल को झाड़कर देखने पर हमारे सामने 19वीं सदी का हिंदुस्तान झिलमिलाने लगता है। ये उन छोटे–छोटे झरोखों की तरह हैं, जिनसे झांककर हम अपना अतीत देख सकते हैं। लाला श्रीनिवास का 'परीक्षागुरु' (1882) मुंशी ईश्वरप्रसादी और मुंशी कल्याण राय की 'वामा शिक्षक' (1883), श्रद्धाराम

फुल्लौरी की 'भाग्यवती' (1887), गौरीदत्त की 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870), राधाकृष्ण दास का 'निःसहाय हिंदू' (1890), बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान' (1906), जैनेन्द्र किशोर की 'गुलेनार' (1907) और भुवनेश्वर मिश्र की 'घराऊ घटना' (1894) को एक साथ पढ़ा जाए तो 19वीं सदी के उत्तर भारतीय समाज को गहराई से समझा जा सकता है। हिंदी के इन आरंभिक उपन्यासों में हमारा समाज अपनी समस्त आकांक्षाओं, आशाओं और वेदनाओं के साथ व्यक्त हुआ है। उपन्यास केवल 'लिटरेरी कंस्ट्रक्ट' यानी साहित्यिक संरचना मात्र नहीं है, वरन् यह एक 'सोशल कंस्ट्रक्ट' यानी सामाजिक संरचना भी है।

हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों की उत्पत्ति नवजागरण के दौर में हुई। यह भी याद रखा जाना चाहिए कि इन उपन्यासों का उद्भव रीतिकालीन परंपरा के तुरंत बाद हुआ। रीतिकालीन काव्य सामंतवाद का पोषक है, उपन्यास प्रगतिवाद का। इस काल में हमारी गद्य भाषा का निर्माण बहुत ही आरंभिक अवस्था में था। कविता हम ब्रज में लिख रहे थे और गद्य खड़ी बोली में। इन संदर्भों पर विचार करते हुए आरंभिक उपन्यासों को पढ़ा जाए तो कई अर्थ खुलेंगें।

मैंने अपने शोध में हिंदी के साथ उर्दू के आरंभिक उपन्यासों को भी शामिल किया है। काशी हिंदू विश्वविद्यालय से स्नातक करके जब मैं एम.ए. करने जे.एन.यू. आया तो पहली बार मैंने उर्दू पढ़ी। जे.एन.यू. में एम.ए. प्रथम समेस्टर के छात्रों को हिंदी के साथ उर्दू भी पढ़नी पड़ती है। पहले तो थोड़ा अटपटा लगा, फिर रफ़्ता–रफ़्ता मैं उर्दू की ओर झुकता चला गया। शुरू में शीन, काफ़ से खासी दिक्कत होती थी। कई बार नुक़्ते के फेर से खुदा 'ज़ुदा'

हो जाता था। बहुत पहले जब प्रेमचंद की कहानियाँ पढ़ी थी, तभी से उर्दू के कुछ लफ़्ज मुझे लुभाते थे। जे.एन.यू. में यह मौका मिला तो मैं इस रास्ते पर बढ़ते हुए शोध तक चला आया।

हिंदी और उर्दू बोलने वाले लोगों का भूगोल मोटे तौर पर एक ही है। दोनों के आरंभिक उपन्यासों की उत्पत्ति भी लगभग एक ही काल में हुई। दोनों के विकास में फोर्ट विलियम कॉलेज का योगदान है। कई बार मैंने इस बात को महसूस किया कि दोनों भाषाओं के आरंभिक उपन्यासों को एक साथ पढ़ा जाना चाहिए। एम.फिल. पूरा होने के बाद मैंने गुरुदेव नामवर सिंह से इस विषय पर चर्चा की। दो–एक बार की चर्चा के बाद अंततः यही विषय तय हो गया।

प्रस्तुत शोध प्रबंध पाँच अध्यायों में विभाजित है। **प्रथम अध्याय** का शीर्षक है– *'उपन्यास की अवधारणा और पश्चिम में उपन्यास का उदय'*। इस अध्याय में पश्चिम में उपन्यास के उदय की पड़ताल की गई है। उन ऐतिहासिक संदर्भों का विशेष तौर पर उल्लेख किया गया है, जिनके कारण 'नॉवेल' की उत्पत्ति संभव हो सकी। 'रेनेसॉ', सामंतवाद, मध्यवर्ग, छापखाना और प्रेस की भूमिका का भी विश्लेषण किया गया है। उन सैद्धांतिक बहसों की भी चर्चा की गई है, जिन्होंने उपन्यास की संरचना को निर्धारित किया।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक है– *'भारत में उपन्यास का उदय'*। इस अध्याय को दो उपशीर्षकों में विभाजित किया गया है। 'हिंदी में गद्य और उपन्यास का उदय' तथा 'उर्दू में गद्य और उपन्यास का उदय।' इस अध्याय में हिंदी और उर्दू के आरंभिक गद्य की चर्चा की गई है। दोनों भाषाओं के आरंभिक गद्य निर्माण में फोर्ट विलियम कॉलेज के योगदान की भी चर्चा की

गई है। आरंभिक हिंदी उपन्यासों की उत्पत्ति पर चर्चा करते हुए इस बात को रेखांकित किया गया है कि क्या भारतीय उपन्यासों का कोई देशज ढंग भी था? आरंभिक हिंदी उपन्यासकार 'पारंपरिक भारतीय कथा पद्धति' से ज्यादा प्रभावित थे या 'अंग्रेजी ढंग के नॉवेल' से। इसी प्रकार आरंभिक उर्दू गद्य के निर्माण के लिए मौजूदा परिस्थितियों की चर्चा की गई है। आरंभिक उर्दू उपन्यासों में 'यथार्थवाद' के साथ–साथ 'दास्तानगोई' के भी तत्व मिलते हैं, उस पर भी प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय का शीर्षक है– *'आरंभिक हिंदी उर्दू उपन्यास और भारतीय समाज'*। इस अध्याय में 'हिंदी और उर्दू की साझा संस्कृति' पर विचार किया गया है। सच में हिंदी और उर्दू की कोई साझा संस्कृति है या हम यूं ही उसका ढ़ोल पीटते रहते हैं? नवजागरण के दौर में हिंदी और उर्दू के बीच जो भाषायी विवाद पैदा हुआ क्या उसके लिए ब्रिटिश राज भी जिम्मेदार था? हिंदी हिन्दुओं की और उर्दू मुस्लिमों की अस्मिता का प्रतीक कैसे बन गई– जैसे प्रश्नों पर इस अध्याय में विस्तार से चर्चा की गई है। इसी अध्याय में नवजागरण, आधुनिकता और मध्यवर्ग के विविध आयामों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है– *'हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन'*। इस अध्याय के तीन उप–शीर्षक हैं– 'स्त्री जीवन का संदर्भ', 'घरेलू स्त्री बनाम वेश्या जीवन' तथा 'मध्यवर्ग, यथार्थवाद और तत्कालीन समाज'। हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों के केन्द्र में स्त्री सुधार का प्रश्न था। उपन्यासकार घर के भीतर एक कुशल स्त्री का निर्माण करने के लिए प्रयासरत थे। इस दौर में मध्यवर्ग का विकास हुआ।

पढ़ा–लिखा, नौकरीपेशा युवा अपने लिए पढ़ी–लिखी स्त्री चाहता था जिस स्त्री का 'निर्माण' इस दौर के उपन्यासों में हुआ क्या वह सच में प्रगतिशील थी? घरेलू स्त्री के समानांतर वैश्या कही जानी वाली स्त्रियों की मार्मिक कथा भी इसी दौर में रची गई। इस दौर के उपन्यासों में परंपरा और आधुनिकता का जो द्वंद दिखता है, उसे भी रेखांकित करने की कोशिश की गई है।

पंचम अध्याय का शीर्षक है– *'हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों का शिल्पगत अध्ययन'*। इस अध्याय में आरंभिक उपन्यासों की औपन्यासिक संरचना, कथा–विन्यास, शिल्प और प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं पर विस्तृत चर्चा की गई है। शेष बातें आगे के अध्यायों में है, यहाँ बस इतना और

सारा बदन अजीब सी खुशबू से भर गया।
शायद तेरा ख्याल हदों से गुज़र गया।।
उर्दू के इस ख़ुलूस को हम ढुंढते कहाँ।
अच्छा हुआ ये ख़ुद ही लहू में उतर गया।। *(आलोक श्रीवास्तव)*

गुरुदेव नामवर सिंह ने न सिर्फ इस विषय पर शोध कार्य करने के लिए प्रेरित किया, बल्कि उन्होंने कई बार मेरा उत्साहवर्धन भी किया। उनके साथ सैकड़ों शोधार्थियों ने शोध किया है। उन पर न जाने कितनी पुस्तकें लिखी जा चुकी है। कितनी पत्रिकाओं के विशेषांक निकल चुके हैं। लेखों की तो गिनती भी मुमकिन नहीं। आभार, स्नेह और कृतज्ञता के सारे उपमान उन्हें दिये जा चुके हैं। तुलसीदास ने लिखा था 'हरित भूमि तृण संकुलित समुझि परै नहिं पंथ'। आज मेरी यही दशा है। मेरे पास 'आभार' व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं। कई बार अनकहा कहे से ज्यादा महत्वपूर्ण होता है। पिछले एक–दो वर्षों से गुरुदेव नामवर सिंह का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। 'नेशनल हार्ट इंस्टीट्यूट' के चक्करों से वे स्वयं परेशान हो जाते हैं। उनके चिकित्सक डॉ. सुनील

बाधवा ने उन्हें आराम करने की सलाह दे रखी है। बावजूद इसके वे कहते रहे 'बहुत दिन हो गए तुमने अगला चैप्टर दिखाया नहीं।' कई बार लगा कि शोध को लेकर मुझसे ज्यादा चिंतित नामवर जी हैं। उनके इस स्नेह ने मुझपर 'नैतिक दबाव' का काम किया। सच में आकाशधर्मा गुरु स्वयं से ज्यादा अपने शिष्यों की चिंता करते हैं। 92 वर्ष की अवस्था में भी अपने शिष्यों के प्रति सजग गुरुदेव को मेरा विनम्र आभार।

प्रो. रामबक्ष जी का स्नेह एम.ए. की कक्षाओं से ही मिल रहा है। उन्होंने बार–बार चेतावनी दी कि समय पर अध्याय लिखकर दिखाते रहो। उनकी इस 'चेतावनी' का ही असर है कि मैं समय पर शोध–प्रबंध लिख सका। अंत समय में होने वाली भागा–दौड़ी से बचा रहा।

प्रो. देवेन्द्र चौबे जी ने रामबक्ष जी की सेवानिवृत्ति के बाद मेरा शोध–निर्देशक बनना स्वीकार किया। पिछले 7–8 माह में मैंने उनके साथ वही सहजता महसूस की, जैसी रामवक्ष जी के साथ करता था। उन्होंने शोध के कई अनावश्यक बातों को निकालकर इसे गठीला बनाया। उनका आभार।

शोध के सिलसिले में जिन मित्रों का सहयोग मिला उनका विशेष आभार। मीता सोलंकी, कविता, अभिषेक कुंदन, पूनम साव आदि ने निरंतर सहयोग किया। मीता ने जोधपुर में रहते हुए कई पुस्तकें भेजी। पण्डित गौरीदत्त और किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों पर केन्द्रित आलोचनात्मक पुस्तकें भेजकर उन्होंने बड़ी मदद की।

मित्र वंशीधर उपाध्याय का कमरा जे.एन.यू. में हम मित्रों का अस्थायी अड्डा है। उन्हीं के कमरे पर जामिया, दिल्ली विश्वविद्यालय और मुखर्जी नगर

के दोस्त इकट्ठे होते हैं। वंशीधर प्यारे मित्र तो हैं ही, कुशल मेजबान भी है। उन्होंने मुझे गुप्त रूप से यह छूट दे रखी है कि जब चाहूँ मैं उनके कमरे से किताब ले सकता हूँ। उनका आभार। कॉमरेड विजय, नवनीत राय, शैलेन्द्र, अभिषेक राय, अरमान आनंद, अनिल सूर्यधर, अमित शर्मा जैसे मित्रों के कारण घर से बाहर एक 'परिवार' मिला। आभार कहने से इनके स्नेह का मोल कम न हो जाए, इसलिए इनका आभार फिलहाल स्थगित किया जाता है। मित्र चंद्रकांत मणि और नीलेश विश्वकर्मा ने मेरी एम.फिल. देखकर कहा था कि तुम्हारी एम.फिल. में हमारा नाम नहीं है। उन दोनों मित्रों को चक्रवृद्धि ब्याज के साथ आभार। शशिशंकर जी ने पिछले एक सालों में बहुत सहयोग किया। उनके सकारात्मक सहयोग का आभार। मित्र कृष्ण कुमार, दीपक भृगुवंशी और वेद मित्र के सहयोग का आभार।

इस यात्रा में काशी हिंदू विश्वविद्यालय और जे.एन.यू. के शिक्षकों का आत्मीय सहयोग मिला। काशी हिंदू विश्वविद्यालय की शिक्षिका प्रो. चंपा सिंह का स्नेह मुझे एक दशक से मिल रहा है। उनका आभार।

शोध के दौरान मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय के तीन कॉलेजों में अध्यापन का मौका मिला। जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज, दयाल सिंह कॉलेज और सेंट स्टीफेंस कॉलेज। सेंट स्टीफेंस कॉलेज की मेरी विभागाध्यक्ष प्रो. नीलम सक्सेना ने मुझे बेहद प्रभावित किया। उनमें विद्वत्ता और सज्जनता का दुर्लभ मेल है। उन्होंने मुझ 'अस्थायी सहयोगी' को जो स्नेह दिया, वह एक अभिभावक ही दे सकता है। उनके पति प्रो. राजेन्द्र कुमार सक्सेना की साहित्यिक रुचि काबिल–ए–तारीफ है। मैं इन दोनों का आभार व्यक्त करके 'ऋणमुक्त' नहीं होना चाहता।

शोध विषय से जुड़ी सामग्री के लिए कई संस्थाओं का दरवाजा खटखटाना पड़ा। नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस से मुझे कई दुर्लभ उपन्यास और पुस्तकें प्राप्त हुईं। साहित्य अकादमी, नई दिल्ली में उर्दू उपन्यासों पर काफी सामग्री है, जिनका मैं प्रयोग कर पाया। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों का आभार, जहाँ से मुझे शोध की महत्वपूर्ण सामग्री मिली। जामिया के मित्र हैदर अली का आभार, उन्होंने महत्वपूर्ण सामग्री देकर सहायता दी। जे.एन.यू. के प्रो. अनवार पाशा और प्रो. मजहर हुसैन ने सुझाव देकर मेरा मार्गदर्शन दिया। सबका आभार।

जे.एन.यू. की लाल दीवारों का आभार। मैंने अपने जीवन के 9 वर्ष यहाँ बिताए। यहाँ मैंने सीखा कि किसी भी नजारे का अंधा तमाशबीन बनकर नहीं रहा जा सकता। यहीं मैंने प्रतिरोध में उठने वाली मुठ्ठियों का सौंदर्यशास्त्र जाना। मुझे इस विश्वविद्यालय ने असहमति का साहस और सहमति का विवेक दिया। यहाँ मैंने सीखा कि 'बेपनाह अंधेरों को सुबह कहना' दरअसल अपनी आत्मा को धोखा देना है। जे.एन.यू. में मैंने अपने आप को जाना। इससे पहले–

हाथों में अंगारों को लिये सोच रहा था,
कोई मुझे अंगारों की तासीर बताए। *(दुष्यंत कुमार)*

भूमिका लंबी हो रही है, फिर भी बहुत कुछ छूट रहा है। एक आभार बी.एच.यू. और जे.एन.यू. के उन कमरों का जहाँ मैंने उच्च शिक्षा के 12 साल गुजारे। आमतौर पर हमें अपने रिश्तेदारों, मित्रों, अध्यापकों की याद आती है। मुझे इन सबसे ज्यादा याद उन कमरों की आती है, जहाँ मैं कभी रहा करता था। पता नहीं अब उन कमरों में कौन रहता होगा? दीवार पर किसकी तस्वीर

होगी? मैं अपने कमरे में प्रेमचंद, मदनमोहन मालवीय और भगत सिंह के लिए जगह निकाल ही लेता था। इन्हीं कमरों में मैंने और मेरे जैसे युवाओं ने अपनी जिंदगी के बेहतरीन साल गुजारे हैं। घर से सैकड़ों मील दूर यही हमारा 'घोंसला' हुआ करते हैं। ऐनी बेसेंट के कमरा नं.–39, बिरला 'अ' हॉस्टल के कमरा नं.–237 और 309, सतलज हॉस्टल के कमरा नं.–125, कावेरी हॉस्टल के कमरा नं.–221 और वंशीधर के कमरा नं.–307 (पेरियार हॉस्टल) का आभार। मुझे इन कमरों से एक मोह जैसा हो गया है। मैं वर्षों बाद भी इन कमरों की गंध पहचान लूँगा। हाँ, ये कमरे भी मुझे पहचानते हैं, शायद आप यकीन न करें।

माँ और पापा–मेरे जीवन की धुरी है। माँ ने ही पहली बार स्लेट पर क, ख, ग लिखना सिखाया था। उन्हीं के कारण यहाँ तक पहुँच पाया।

पापा जिन्होंने सिखाया कि जीवन में कभी हौसला मत हारो; कि जिसने आत्मविश्वास खो दिया उसने सब कुछ खो दिया; कि हजार–हजार लोगों की भीड़ हो और तुम अकेले हो तो भी अपनी टेक पर डटे रहो। पापा, जो हमेशा हँसते रहते हैं और किसी की भी हँसी सुनकर खुश हो जाते हैं। जिन्होंने कभी अपने मन में मैल नहीं रखा। कभी किसी का बुरा नहीं चाहा। उनके जैसा बनने की आशा में उनके प्रति नम्र आभार। छोटी बहन पूनम जिसके साथ पिछले 20 सालों से मेरा 'युद्ध' चल रहा है। 'भाई–बहन' का यह 'झगड़ा' कब खत्म होगा पता नहीं। उसके साथ 'मित्रतापूर्ण युद्ध' करने में ना जाने क्यों आनंद की अनुभूति होती है। छोटे भाई आलोक और उसकी नन्हीं सी बिटिया 'गौरी' ने मुझे शोध के दौरान होने वाले तनावों से दूर रखा। छः–सात माह की नन्हीं 'गौरी' की मीठी आवाज सुनकर सारा तनाव पल में दूर हो जाता है।

बच्चों की अस्पष्ट आवाज बाँसुरी से भी मधुर होती है। रह–रह कर नानी जी की याद आती है। उन्होंने मुझे बहुत प्यार दिया था। वे हमें असमय छोड़कर चली गई। उनकी स्मृति को प्रणाम।

उन सारी रचनाओं का आभार, जिन्हें पढ़कर मैं 'आदमी' से 'इंसान' बन सका। तुलसीदास, कबीर, जायसी, गालिब, प्रेमचंद, रेणु, मुक्तिबोध का आभार। 'मैला आँचल' की उन पंक्तियों का आभार, जो अक्सर मेरे मन में गुंजती रहती है– "मैं प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आँसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहाऐंगे। मैं साधना करूँगा, ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले आँचल तले। कम–से–कम एक गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाए ओठों पर मुस्कराहट लौटा सकूँ, उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूँ।"

चित्तरंजन कुमार

भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

अनुक्रमणिका

भूमिका **i--x**

प्रथम अध्याय : **उपन्यास की अवधारणा और पश्चिम में उपन्यास का उदय** **1—24**

1.1 उपन्यास की अवधारणा

1.2 उपन्यास, यथार्थवाद एवं व्यक्तिवाद

द्वितीय अध्याय : **भारत में उपन्यास का उदय** **25—77**

2.1 हिंदी में गद्य और उपन्यास का उदय

2.2 उर्दू में गद्य और उपन्यास का उदय

तृतीय अध्याय : **आरंभिक हिंदी—उर्दू उपन्यास और भारतीय समाज** **78—133**

3.1 हिंदी और उर्दू : साझा संस्कृति का प्रश्न

3.2 औपनिवेशिक शासन व्यवस्था और नवजागरण

3.3 मध्यवर्ग, आधुनिकता और स्त्री प्रश्न

चतुर्थ अध्याय : **हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन** **134—210**

4.1 स्त्री जीवन का संदर्भ

4.2 'घरेलू स्त्री' बनाम 'वेश्या जीवन : एक दुनिया समानांतर'

4.3 मध्यवर्ग, यथार्थवाद और तत्कालीन समाज

पंचम अध्याय : **हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों का शिल्पगत अध्ययन** **211—237**

5.1 औपन्यासिक संरचना, कथा—विन्यास एवं शिल्प

5.2 प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ एवं भाषा शैली

उपसंहार **238—245**

ग्रंथानुक्रमणिका **246—255**

(i) आधार ग्रंथ

(ii) संदर्भ—ग्रंथ

(iii) सहायक पत्र—पत्रिकाएं

समर्पण

'किंस्विद्गुरूतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात्'- (यक्ष)
'माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चरस्तथा'- (युधिष्ठिर)

पृथ्वी से भारी माँ
आकाश से ऊँचे पिता
को सादर

साथ ही,

जो नहीं हो सके पूर्ण–काम
मैं उनको करता हूँ प्रणाम।

जो छोटी–सी नैया लेकर
उतरे करने को उदधि–पार;
मन की मन में ही रही, स्वयं
हो गए उसी में निराकार!

– उनको प्रणाम!

प्रथम अध्याय

उपन्यास की अवधरणा और पश्चिम में उपन्यास का उदय

1.1 उपन्यास की अवधारणा

1.2 उपन्यास, यथार्थवाद एवं व्यक्तिवाद

1.1 उपन्यास की अवधरणा

"भारत में उपन्यास के उदय और विकास पर कोई भी विचार तब तक समीचीन नहीं हो सकता है, जब तक हम 'उपन्यास' शब्द के मूल 'नावेल' के उदय और विकास पर विचार न करे। 'नावेल' नामक रूप विधा की चर्चा करते हुए स्वभावतः हमें केवल अंग्रेजी नहीं, बल्कि सम्पूर्ण योरोप में नावेल के उदय और विकास की चर्चा करनी पड़ेगी।... योरोप का यह दावा है कि योरोप ने कुछ ऐसी विधाएँ दी हैं जो ठेठ योरोपीय सभ्यता और समाज की अपनी सृष्टि हैं और विश्व साहित्य को उसकी अपनी देन हैं। उस प्रसंग में जिन चीजों की गणना योरोप करता है उनमें एक है ट्रेजेडी और दूसरा है नावेल। अब इससे किसी के स्वाभिमान को ठेस लगे तो लगे लेकिन यह विचार का भी विषय हो सकता है कि योरोप का दावा सही है कि नहीं।"[1]

– नामवर सिंह

उपन्यास आधुनिक काल के मनुष्य के सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत संघर्ष को अभिव्यक्त करने वाला गद्य का ऐसा कला रूप है जिसमें वह अपनी समस्त आकांक्षाओं और वेदनाओं के साथ व्यक्त होता है। उपन्यास का ढाँचा इतना लचीला, साथ ही इतना व्यापक होता है कि इसमें जीवन की सभी प्रकार की जटिल और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का चित्रण संभव हो जाता है। उपन्यास केवल 'लिटरेरी कंस्ट्रक्ट' या साहित्यिक संरचना मात्र नहीं है वरन् यह एक 'सोशल कंस्ट्रक्ट' भी है। साहित्यिक विधाओं में देखा जाय तो उपन्यास सामाजिक और ऐतिहासिक अंतर्विरोधों का सूत्रीकरण करने वाली सबसे कारगर विधा है। यह उपन्यास ही है जो मनुष्य, समाज और व्यक्ति के अंर्तद्वंद्वों को संपूर्णता से टटोलता है। उपन्यास ऐसा कर पाता है क्योंकि उपन्यास में कथा और कथानक के सफल निर्वाह के लिए व्यापक गुंजाइश होती है। घटनाओं का सूक्ष्म चित्रण–चरित्रों का बहुआयामी प्रसार, संवादों की प्रचुरता परिस्थितियों का सूक्ष्म चित्रण जैसी स्थितियाँ जिस सहजता से एक उपन्यासकार को उपलब्ध होती है वैसी सहजता एक नाटककार या निबंधकार के लिए लगभग दुर्लभ है। उपन्यास ने लगभग चार सौ साल की यात्रा तय कर ली है। यदि देखा जाए तो अपनी इस विकास यात्रा में उपन्यास ने

विषय–वस्तु से लेकर रूप–रचना तक कई बार अपने को बदला है। इन परिवर्तनों के चलते ही उसका 'नावेल' होना बार–बार सार्थक होता रहा है। हेनरी जेम्स ने जब बहुत पहले यह घोषणा की थी कि, "उपन्यास एक ऐसा साहित्य–रूप है जिसमें एक साथ कथा व नाटक, कविता व संगीत, चित्रकला व स्थापत्य सभी का अंतर्भाव रहता है" तो वे न सिर्फ उसकी व्यापकता की बात कर रहे थे, बल्कि उसके सामाजिक प्रकृति की ओर भी इशारा कर रहे थे। अपने इसी समावेशी चरित्र के कारण विश्व भर में उपन्यासों के ढाँचे, रूप और कथानक संबंधी बदलाव होते रहे हैं। वाल्टर बेसेंट का प्रसिद्ध कथन है "उपन्यास प्रयोग के आधार पर जीवित रहता है और प्रयोग का अर्थ है उन्मुक्ति।" वस्तुतः प्रयोगशीलता ही उपन्यास की जान है। उपन्यास मर नहीं सकता, समय के साथ होने वाले बदलाव उसे बचाए रखेंगे।

भारत में हम आम तौर पर उपन्यास के लिए अंग्रेजी शब्द 'नॉवेल' (Novel) का इस्तेमाल करते हैं। अगर व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाए तो नॉवेल शब्द का मूल रूप लैटिन भाषा के 'नावेला' या 'नावेलस' से जुड़ता है। कई आलोचकों ने माना है कि नॉवेल शब्द के मूल में फ्रेंच भाषा का 'Novel' तथा इटैलियन भाषा का 'Novella' शब्द भी है। इस संदर्भ में इटली के लेखक 'गियोवानी बैकेशिया' (Giovanni Boccaccio) का उल्लेख आवश्यक है। सन् 1348 से 1368 के बीच इटली के इस लेखक ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'डी कैमेरॉन' (De Cameron) की रचना की।[2] वस्तुतः यह रचना आज की 'शॉर्ट स्टोरी' विधा के समान भी। लगभग इसी कालखंड में जेफ्री चौसर (Geofferey Chaucer) ने 'कैन्टबरी टेल्स' (1386–1400 ई.) की रचना की। मूलतः ये दोनों रचनाएँ यथार्थपरक गद्यकथाएँ थीं। बोकैशियों की रचना के कारण इटली में नावेला शब्द प्रचलित हो गया और इसके अनुकरण पर रचनाएँ हुई।

कैलाशप्रकाश का मत है कि "दो शताब्दियों तक इटली के लेखक बहुसंख्या में बोकैशियों के अनुकरण पर 'नॉवेला' लिखते रहे। एलिजाबेथ के शासनकाल में ये रचनाएँ अंग्रेजी में आ गई और उनके साथ उन अनूदित रचनाओं या उनकी अनुकृत रचनाओं के लिए नावेल शब्द का व्यवहार प्रारंभ हो गया। इस प्रकार सन् 1566 से अंग्रेजी में 'नॉवेल' शब्द का व्यवहार बोकैशियों की यथार्थपरक गद्यकथाओं के अनुकरण या लिखी गई रचनाओं के लिए पाया जाता है।[3] भले ही बोकैशियों की अनुवादित रचनाओं के लिए 'नॉवेल' पद का व्यवहार हुआ हो, परंतु यह भी याद रखने वाली बात है कि उस काल में यूरोप में गद्यकथाओं के लिए प्रयुक्त होने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण शब्द था– 'रोमांस'। रोमांस मध्यकालीन यूरोप की महत्वपूर्ण विधा थी। 1785 में क्लारा रीव ने अपनी पुस्तक 'दि प्रोग्रेस ऑफ द रोमांस' में रोमांस और नॉवेल का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा "नॉवेल यथार्थ जीवन और रीति–व्यवहारपूर्ण उस युग का चित्र है जिसमें इसकी रचना होती है। रोमांस अतिरंजित एवम् आकर्षक भाषा में उसका वर्णन करता है जो न कभी घटित हुआ और न जिसकी संभावना है।"[4]

हम स्पष्ट देख सकते हैं उपन्यास का उदय कोई तत्कालिक घटी घटना नहीं थी। कई प्रचलित दंत कथाओं, प्राचीन आख्यानों और रोमांस की परंपरा से जुड़कर ही यह धीरे–धीरे विकसित हुआ। रोमांस में जहाँ कल्पना के तत्व की प्रधानता थी, वहीं उपन्यास में यथार्थपरकता की। यूरोप ही नहीं, वरन् भारत में आरंभिक उपन्यासों पर इसकी छाप है। इसी कारण आरंभिक उपन्यासों में 'कल्पना और यथार्थ' का स्पष्ट विभाजन नहीं दिखता। कई यूरोपिय उपन्यासों में 'कल्पना' और 'यथार्थ' न सिर्फ एक–दूसरे से गुंथे हुए हैं बल्कि वे कई जगहों पर एक–दूसरे का अतिक्रमण भी करते हैं। इस संदर्भ में आयन वॉट और उनकी पुस्तक 'उपन्यास का उदय' काफी प्रकाश डालती है।

आयन वॉट का स्पष्ट मानना था कि "आज के 'नावेल' शब्द का प्रयोग तो अठारहवीं शताब्दी के अंत तक भी पूर्णरूपेण स्थापित नहीं हो पाया था।"[5] आयन वॉट ने अपनी इस पुस्तक में डेफो, रिचर्डसन और फील्डिंग के उपन्यासों की आलोचना प्रस्तुत की है। वे कहते हैं "यह ठीक है कि रिचर्डसन और फील्डिंग अपने आपको नवलेखन के प्रवर्तक मानते हैं और दोनों ही अपनी रचनाओं को पुराने ढंग की रोमानी शैली से कटी हुई समझते हैं, किंतु इन लेखकों तथा इनके समकालीन अन्य रचनाओं ने नयी विधा की विशेषताएँ प्रस्तुत नहीं की जिनकी हमें आवश्यकता है। सच तो यह है कि इस परिवर्तित पद्धति के कथा साहित्य की रचना को पृथक संज्ञा देकर उन्होंने इसे प्रामाणिक भी नहीं ठहराया।"[6] आयन वॉट की आलोचना से सहमत होते हुए भी कुछ प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं। पहली बात तो यह कि डेफो, रिचर्डसन और फील्डिंग का महत्व इस कारण कम नहीं हो जाता, क्योंकि उनके समकालीनों ने नयी विधा प्रस्तुत नहीं की। एक रचनाकार अपनी रचना के लिए जिम्मेदार होता है। हर रचनाकार की अपनी रचना–प्रक्रिया होती है। कुछ ही रचनाकार अपने समय का अतिक्रमण कर पाते हैं। दूसरा तथ्य यह है कि रिचर्डसन और फील्डिंग ने अपने आपको नवलेखन का प्रवर्तक माना है। यानी उनके सामने यह स्पष्ट था कि उन्हें कुछ नए किस्म की रचना करनी है। जाहिर है यह 'नया' 'पुराने' की पुनरावृत्ति नहीं थी। वस्तुतः इससे स्पष्ट है कि अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक रोमांस और नॉवेल का फर्क साफ–साफ उभर आया था। इतना जरूर है कि तब नई विधा के रूप में नॉवेल की प्रवृत्तियाँ नहीं थीं और उसका रूप साफ उभर नहीं पाया था।

रोमांस का अंत और नॉवेल का उदय यूरोप की कोई क्षणिक गतिविधि नहीं थी। हमें गंभीरता से इस तथ्य को भी देखना होगा कि एक साहित्यिक

विधा से दूसरी साहित्यिक विधा की यात्रा कहीं समाज के रूपांतरण की भी यात्रा तो नहीं थी। आखिर वे कौन सी परिस्थितियाँ थी जिनके कारण रोमांस मर रहा था और 'उपन्यास का उदय' हो रहा था। क्या उपन्यास के जन्म को एक नए समाज के जन्म से जोड़ा जा सकता है?

लगभग सारे इतिहासकारों ने यूरोप के इतिहास में पाँचवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक के काल को मध्ययुग या अंधकार युग माना है। यह वह काल था जब यूरोपिय समाज में जड़ता थी, चर्च और पोप का बोलबाला था, नवीनता का अभाव था। इस काल में एक ओर जहाँ चर्च का आतंक था वहीं दूसरी तरफ सामंतवादी व्यवस्था ने समाज को जकड़ रखा था; ऐसी स्थिति मोटे तौर पर तेरहवीं शताब्दी तक विद्यमान थी, परंतु इसके बाद धीरे–धीरे ही सही परिवर्तन की बयार चली। लालबहादुर वर्मा इस बदलाव को रेखांकित करते हुए लिखते हैं "तेरहवीं शताब्दी के बाद जैसे भोर की हवा चली। यूरोप ने अंगडाई ली... विचार, साहित्य और कला के क्षेत्र में यूनान और रोम से प्रेरणा लेकर एक ऐसे समाज की रचना मनुष्य ने शुरू की जिसमें यथास्थिति के प्रति मोह न हो, जहाँ मनुष्य अपने बंधनों को काट सके, जहाँ धर्म केन्द्रित समाज (थियोसेंट्रिक सोसायटी) के स्थान पर मानव केन्द्रित समाज (ऐंथ्रोपोसेंट्रिक सोसायटी) संभावनाओं को उचित स्थान मिल सके। इसी प्राचीन यूरोप की प्रेरणा के आधार पर यूरोप के निर्माण के प्रारंभ को पुनर्जागरण कहते हैं।"[7]

तेरहवीं शताब्दी की इस पृष्ठभूमि ने नए यूरोप का मार्ग प्रशस्त किया। वह यूरोप जो आगे सामंतवाद और चर्च के प्रभुत्व से मुक्त होने वाला था। वह यूरोप जो पूँजीवाद और औद्योगिक समाज की ओर बढ़ने वाला था। चौदहवीं शताब्दी का यूरोप व्यापारिक पूँजीवाद के दौर में प्रवेश कर चुका था, जहाँ

सामंतवाद पीछे छूट रहा था। यही वह दौर था जब नगरीकरण का आभास मिलने लगा और एक नए मध्यवर्ग के उदय की परिस्थितियाँ तैयार हुई। साथ ही साथ यूरोप पर सदियों से चली आ रही लैटिन भाषा का प्रभुत्व दरकने लगा और जर्मन, स्पेनिश, इतालवी फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी भाषाओं का साहित्य विकसित होने लगा। चौदहवीं शताब्दी में यूरोप अपनी जकड़बंदी से आजाद हुआ और इसके नाविकों ने दुनिया भर में नवीन खोजी यात्राऐं की। सन् 1415 ई. में पुर्तगालियों ने अफ्रीका के समुद्र तटों पर अधिकार जमा लिया। सन् 1492 में कोलबंस अमरीका पहुँचा और 1498 में वास्कोडिगामा अफ्रीका को चक्कर लगाते हुए एक नए समुद्री मार्ग से भारत पहुँचा। इन यात्राओं का व्यापारिक महत्व तो है ही पर इनसे यूरोप और शेष विश्व परस्पर निकट आए। ज्ञान–विज्ञान के क्षितिज का विस्तार हुआ। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पश्चिम के आरंभिक उपन्यासों में सामुद्रिक यात्राओं और नये भौगोलिक क्षेत्रों की गूँज सुनाई पड़ती है। 1605 में रचित 'डॉन क्विज्वेट या दोन किखेत' (Do Quixote) 1719 में रचित 'राबिन्सन क्रूसो' (Robinson Crusoe) तथा 1726 में रचित 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' (Gulliver Travels) में समुद्री यात्रा या नए भौगोलिक क्षेत्रों की काफी गहरी झलक है।

तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी के इन परिवर्तनों को सबसे ज्यादा गति मिली पंद्रहवीं शताब्दी के धर्मसुधार आंदोलन से। अब तक यूरोप में बेशक उल्लेखनीय परिवर्तन हुए थे, पर धर्म का शिकंजा अभी भी नई चेतना को कसे हुए थे। इस काल में जर्मनी के प्रसिद्ध सुधारक 'मार्टिन लूथर किंग' ने सीधे–सीधे पोप की सत्ता को चुनौती दी। मार्टिन लूथर (1483–1546) ने 1522 ई. में बाइबिल के New Testament का जर्मन अनुवाद प्रस्तुत किया। मार्टिन लूथर का यह अनुवाद काफी लोकप्रिय हुआ और इससे जर्मन भाषा का काफी

प्रसार हुआ। मार्टिन लूथर का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था चर्च यानी धार्मिक सत्ता को सीधे–सीधे चुनौती देना। लूथर ने Ninety-five Theses (1517) लिखकर चर्च से 95 सवाल पूछे। मार्टिन लूथर ने जड़ हो रहे ईसाई धर्म में सुधार की पुरजोर कोशिश की और प्रोटेस्टेंट आंदोलन को गति दी।

तेरहवीं, चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी के इन परिवर्तनों ने यूरोप का रूप ही बदल दिया। पुनर्जागरण के प्रभाव से यूरोप की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों में व्यापक बदलाव हुए। व्यापारिक पूँजीवाद ने एक नए वर्ग 'मध्यवर्ग' को पैदा किया। वस्तुतः उपन्यास के उदय के लिए जिस पूँजीवादी समाज और मध्यवर्ग की बात कही जाती है वे दोनों तत्व अब उपस्थित थे। इन परिवर्तनों को स्पष्ट करते हुए लालबहादुर वर्मा कहते हैं– "सत्ता के संघर्ष में सामंत, राजा और मध्यवर्ग के त्रिकोण में सामंत अकेला पड़ने लगा... पुनर्जागरण के साथ–साथ नागरिक जीवन का महत्व बढ़ने लगा क्योंकि नगरों में धन था और धन का अर्जन और संग्रह करने वाला मध्यवर्ग भी नगरों में रहता था। मध्यवर्ग को सम्मान पाने के लिए शताब्दियों तक संघर्ष करना पड़ा, पर सोलहवीं शताब्दी से ही समाज में इस वर्ग का महत्व बढ़ना शुरू हो गया।"[8] पूँजीवाद मध्यवर्ग और नगरीकरण का परस्पर संबंध भी स्पष्ट होने लगा। "पंद्रहवीं शताब्दी आते–आते उत्पादन के साधन बदलने लगे। व्यापार का क्षेत्र बढ़ा। साधन बढ़े और परिमाण भी बढ़ा। उथल–पुथल मच गई। लोग नगरों की ओर आकर्षित हुए। धन संचय हुआ और स्टॉक कंपनियों एवम् बैंकों का जन्म हुआ। पूँजीवादी व्यवस्था का सूत्रपात हो गया।"[9]

उपन्यास के उदय की चर्चा करते हुए आरंभ में हम इटली के लेखक 'गियोवानी बैकेशिया' की कृति 'डी कैमेरॉन' (De Cameron) और जेफ्री चौसर

की कृति 'कैन्टवरी टेल्स' (Canterbury Tales) की चर्चा कर आए हैं। इन आरंभिक मध्ययुगीन गाथाओं से गुजरते हुए सन 1605 में मिगुल द सरवान्तीस की कृति डॉन क्विग्जोट (Don Quixote) प्रकाशित हुई। डॉन क्विग्जोट का प्रकाशन उपन्यास की दुनिया में मील का पत्थर साबित हुआ। डॉन क्विग्जोट का महत्व बताते हुए प्रख्यात स्काटिश आलोचक जेम्स बिती ने अपनी पुस्तक 'ऑन फेबल एण्ड रोमांस' (1783) में लिखा "गल्प अब से उसकी विशालकाय आकृति जबर्दस्त स्वरूप और उन्मत भाव–भंगिमा में विनिवेशित हो गया तथा वह साधारण जन–जीवन के स्तर तक च्युत हो गया। अब मनुष्य के समान होने की बातें की जाने लगीं, एक विनम्र और उत्साही सभी के रूप में।"[10] हालांकि इस बात को लेकर काफी मतभेद है कि डॉन क्विग्जोट के साथ रोमांस का अंत हुआ था नहीं, पर इसके प्रकाशन से यथार्थवाद को एक ठोस जमीन तो मिल ही गई। अर्नाल्ड केटल उन विचारकों में हैं जिन्होंने स्वीकार किया कि सरवान्तीस ने आधुनिक उपन्यास की स्थापना की। केटल के अनुसार डॉन क्विग्जोट अभिजात और सामंती रोमांस के विरुद्ध मध्यवर्गीय विद्रोह का प्रतिनिधित्व करता है। अपनी पुस्तक 'एन इंट्रोडक्शन टू दि इंग्लिश नॉवेल' (1951) में केटल लिखते हैं "जहाँ रोमांस ऐसे लोगों के बोरडम और सिनिसिज़्म, उबाऊ और क्लान्त अतृप्ति पर पनपता है, जिनके पास करने के लिए बहुत कम होता है और जो वे करते हैं उसमें भी उद्देश्य या संतुष्टि न के बराबर है।... गद्य साहित्य में यथार्थवाद की तरफ बढ़ता आवेग सामंतवाद के ध्वस्त होने और जिस क्रांति ने सामंती विश्व को रूपांतरित किया है, का ही एक अंग है।"[11]

स्पष्ट है कि पाश्चात्य आलोचकों की नजर में उपन्यास के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण चीज थी– यथार्थ साथ ही वे रोमांस और यथार्थ को भी

अलग–अलग नजरिए से देख रहे थे। रोमांच की न्यूनता और यथार्थ की प्रधानता ही उपन्यास की मूल कसौटी थी। वाल्टर स्कॉट ने 1824 में प्रकाति 'ऐसे ऑन रोमांस' में इस अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा कि "रोमांस गद्य अथवा पद्य में प्रस्तुत एक काल्पनिक आख्यान है जिसमें अद्‌भुत और असामान्य घटनाओं में अधिक रुचि ली जाती है... जबकि उपन्यास एक रोमांस से अलग प्रकार का काल्पनिक आख्यान है, क्योंकि इसमें घटनाएँ रोजमर्रा के मानवीय जीवन तथा समाज के आधुनिक स्वरूप से समायोजित की जाती है।"[12]

यह अकारण नहीं है कि हीगल ने उपन्यास को 'आधुनिक युग का महाकाव्य' कहा। पश्चिम में उपन्यास के उदय के साथ ही यथार्थ केन्द्रीय भूमिका में था। यह 'यथार्थ' सिर्फ समाज का हू–ब–हू चित्रण नहीं था। यह अपनी प्रवृत्ति में काल्पनिक तो था पर अविश्वसनीय नहीं। यथार्थ का आग्रह उपन्यास को कहीं नीरस और बोझिल न बना दे अतः यथार्थ की अभिव्यक्ति का प्रश्न भी महत्वपूर्ण था। अपनी पुस्तक 'उपन्यास का उदय' में इन्हीं संदर्भों पर आयन वाट लिखते हैं "हकीकत यह है कि उपन्यास में मानव जीवन के विविध अनुभवों को चित्रित किया जाता है न किसी एक विशेष साहित्यिक परिदृष्टि के अनुरूप ही उसे ढाल दिया जाता है। उपन्यास में चित्रित यथार्थवाद इस बात में निहित नहीं कि इसमें किस प्रकार के जीवन का निरूपण है बल्कि इस बात में है कि उसे किस ढंग से रूपायित किया गया है।"[13]

तेरहवीं से पंद्रहवीं सदी तक आते–आते यूरोप काफी बदल चुका था। मनुष्य ज्ञान–विज्ञान और तर्क की दुनिया में प्रवेश कर चुका था। इन कारणों से यूरोप में रोमांसधर्मी नायकों को अलौकिक करतबों के प्रति अरुचि पैदा हुई। मनुष्य अब अविश्वसनीय के बजाए विश्वसनीय चीजों की तरफ मुड़ रहा था।

रोमांस का स्थान 'यथार्थ' द्वारा भरा जा रहा था। यह अकारण नहीं है कि डॉन क्विग्जोट (Don Quixote) के रचनाकार सरवान्तीस ने उपन्यास की भूमिका में ही स्पष्ट कर दिया कि वे एक यथार्थपरक रचना लिख रहे हैं। यह भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। उनके शब्द हैं "तुम्हारी कहानी के काल्पनिक तत्व कोई महान सत्य की खोज में तत्पर नहीं हैं, न ही वे किसी ज्योतिषीय प्रेक्षण में लगे हैं, न ही उनके लिए ज्यामितिक मानदंड ही महत्वपूर्ण है। तुम्हें अपनी कहानी के शब्दाडंबर से संबंधित प्रश्नों पर विवाद नहीं करना है ना ही इसे उपदेश देने की किसी प्रक्रिया में भाग लेना है जिसमें अक्सर मानवीय और दैवीय का घालमेल हो जाता है और जिसका चोगा पहनने से किसी भी ईसाई को बचना चाहिए। तुमने तो केवल वही नकल की है जो तुमने देखा है, जितनी ही पूर्ण तुम्हारी नकल होगी उतनी ही श्रेष्ठ तुम्हारी कहानी होगी।... तुम्हें केवल इतना करना है कि तुम अर्थपूर्ण शब्दों का चयन कर ईमानदारी व सही ढंग से उनका प्रयोग करो ताकि तुम्हारे संवेदना व स्पष्ट रूप से वह सब समझा सकें जो तुम इतने बलपूर्वक कहना चाहते हो। तुम्हारे विचार साफ व सीधे ढंग से बिना भ्रमित और पेचीदा लगे व्यक्त होने चाहिए।"[14]

पंद्रहवीं शताब्दी तक यूरोप अंधकार की धुंध से बहुत कुछ निकल चुका था, वह उजाले की ओर बढ़ रहा था। ऐसे में सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में प्रेस और पत्रकारिता के विकास ने इस उजालों को दोपहर की रौशनी में तब्दील कर दिया। हालांकि पंद्रहवी शताब्दी के मध्य में जर्मनी में जान गुटेनबर्ग नामक व्यक्ति ने टाईप मशीन का इस्तेमाल प्रारंभ कर दिया था, तथापि प्रेस और प्रिटिंग का व्यापक विस्तार सत्रहवीं शताब्दी में ही हुआ। प्रेस विस्तार होते ही छपी हुई पुस्तकों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। सन् 1666 से 1756 तक जहाँ पुस्तकों का वार्षिक उत्पादन औसत 100 से कम था

वहीं सन् 1792 से 1802 तक की अवधि में यह 372 हो गया।"[15] पुस्तकों की संख्या में वृद्धि तो हुई पर उसी अनुपात में साक्षरता दर नहीं बढ़ पाई। इस काल में जो साक्षरता थी वह थी अधिकांश शहरों तक सीमित थी। गाँवों और शहरों में निर्धन वर्ग शिक्षा से दूर था। इस काल के बार में विचार करते हुए आयन वॉट ने माना है कि निर्धन और संपन्न वर्ग के बीच एक ऐसा मध्यवर्ग विकसित हो रहा था जो आगे चलकर पाठक समुदाय में वृद्धि का कारण बना। अपनी पुस्तक 'उपन्यास का उदय' में वे लिखते हैं "संभवतः यह वृद्धि शहरों में अधिक लक्षित हुई क्योंकि ऐसा सोचा जाता है कि छोटे भूमिहार किसानों की संख्या इस अवधि में बहुत कम हो गई है, जबकि पूरी अठारहवीं शताब्दी में, दुकानदारों, स्वतंत्र व्यापारियों, प्रशासकीय कर्मचारियों व लिपिकों की संख्या और संपत्ति में एक उल्लेखनीय वृद्धि हुई। उनका बढ़ता हुआ धन प्राचुर्य उन्हें मध्यवर्गीय संस्कृति जो पहले सुखी संपन्न व्यापारियों दुकानदारों तथा महत्वपूर्ण सौदागरों की एक छोटी संख्या के लिए ही सुरक्षित थी, की परिधि में ले आया। संभवतः पुस्तक खरीदने वाले समुदाय का एक–एक ठोस भाग बहुसंख्यक निर्धनों की अपेक्षा इन्हीं से आया।"[16]

गौरतलब है कि पाठक वर्ग में वृद्धि हो रही थी। पुस्तकों की बिक्री में भी इजाफा हो रहा था तथापि पुस्तकों का मूल्य इस काल में इतना कम नहीं था कि साधारण लोग उसे आसानी से खरीद सके। पुस्तक के रूप में छपे उपन्यास अभी भी जनसामान्य की पहुँच से काफी दूर थे। अभी भी जनसामान्य की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। वह रोजी–रोटी को छोड़कर पुस्तक की ओर नहीं जा सकता था। इस कमी को गतिशील या चल पुस्तकालयों ने पूरा किया।

सन् 1740 ई. में लंदन में पहली चल पुस्तकालय की स्थापना हुई। एक दशक के अंदर सात अन्य पुस्तकालय स्थापित हो गए। इन पुस्तकालयों में बहुत कम शुल्क पर पुस्तकें पढ़ने हेतु उधार दी जाती थी। उपन्यास के

विकास में इन गत्वर पुस्तकालयों का बड़ा योगदान है। इन पुस्तकालयों ने एक ओर जहाँ पाठकों को सस्ती दरों पर पुस्तकें उपलब्ध करवाई, वहीं दूसरी ओर इससे पुस्तक पढ़ने की संस्कृति का भी विकास हुआ। इन पुस्तकालयों ने एक और बात सिद्ध कि अधिकांश पाठकों को उपन्यासों ने ही ज्यादा आकर्षित किया। इस परिदृश्य का मूल्यांकन करते हुए ऑयन वॉट लिखते हैं "अधिकतम गत्वर पुस्तकालयों में समस्त प्रकार का साहित्य संग्रहीत था परन्तु मुख्य रूप से उपन्यास साहित्य ही पाठकों का प्रधान आकर्षण था। इस विषय में तनिक भी शंका नहीं किया उपन्यासों ने इस शताब्दी में दीख पड़ने वाले कथा साहित्य के पाठक समुदाय में महती एवम् स्मरणीय वृद्धि की आगवानी की।"[17]

संदर्भ

1 नामवर सिंह : भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद, प्रेमचंद और भारतीय समाज, दूसरी आवृत्ति, मार्च 2011, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 54

2 गिल्बर्ट फेल्यस : फ्रॉम मिथ टू मॉडर्निज्म, अ शार्ट गाइड टू द वर्ल्ड नॉवेल, दि फोलियो सोसायटी, लंदन, 1987, पृ. 39

3 कैलाशप्रसाद : प्रेमचंद पूर्व हिंदी उपन्यास, हिंदी साहित्य संसार, दिल्ली, संस्करण 1962, पृ. 5–6

4 ऑयन वॉट : उपन्यास का उदय, धर्मपाल सरीन (अनु.) हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, संस्करण 1990, पृ. 6

5 उपरोक्त, पृ. 2

6 उपरोक्त, पृ. 2–3

7 लालबहादुर वर्मा : यूरोप का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, संस्करण 1998, नई दिल्ली, पृ. 22

8 उपरोक्त, पृ. 35

9 उपरोक्त, पृ. 38

10 एलिनॉर मैक्नीज (एड.) : दि डेवलपमेंट ऑफ दि नॉवेल, लिटरेरी सोसेज़ एण्ड डाक्यूमेंट्स, वॉल्यूम–I, ओरिजिन्स थ्रू दि एटीन्थ सेन्चुरी : बिगिनिंग्स : सरवान्तीस टू ऑस्टेन, हेम इन्फॉर्मेशन, 2006, पृ. 8

11 उपरोक्त, पृ. 9

12 उपरोक्त, पृ. 10

13 ऑयन वॉट : उपन्यास का उदय, वही, पृ. 4

14 डॉन क्विग्जोट : मिगेल दे सेरवांतेस, प्रथम भाग, विभा मौर्य (अनु.), कान्फ्लुएंस इंटरनेशनल, नई दिल्ली, 2008, पृ. 30

15 उपन्यास का उदय, वही, पृ. 38–39

16 उपरोक्त, पृ. 43

17 उपरोक्त, पृ. 46

1.2 उपन्यास, यथार्थवाद एवं व्यक्तिवाद

पश्चिम में उपन्यास के उदय के साथ ही सैद्धांतिक बहसों ने भी जन्म लिया। हम अक्सर सुनते हैं कि उपन्यास के लिए कुछ महत्वपूर्ण तत्वों का होना अनिवार्य है। जिनमें से प्रमुख हैं, कथावस्तु, चरित्र–चित्रण, संवाद, भाषा शैली, देशकाल आदि। कहानी के लिए भी यही तत्व आवश्यक माने गए हैं। स्वाभाविक सा प्रश्न उठता है कि अगर उपन्यास और कहानी के तत्व समान हैं तो फिर दोनों में किस आधार पर भेद किया जाए? क्या कहानी का विस्तार ही उपन्यास है? या फिर दोनों में मूलतः कोई भेद है? इस संदर्भ में फ्रैक ओ कोन्नौर का मानना है कि "जब हम उपन्यास की खूबियों को मान्यता देते हैं तो काफी हद तक कहानी के गुणों को ही मान्यता देना प्रतीत होता है।"[1] इस कथन से कहानी और उपन्यास के बीच समानता स्थापित होती है। कहानी और उपन्यास में निसंदेह समानता के कई तत्व है, पर इसी कारण हम कहानी को उपन्यास या उपन्यास को कहानी नहीं कह सकते। उपन्यास अपने भीतर वस्तुतः जीवन के विविध आयामों को समेटता है, इसके लिए कई चरित्रों का निर्माण किया जाता है। जबकि कहानी में कुछ ही चरित्र होते हैं, कहानी में गहराई पर ज्यादा जोर दिया जाता है, उपन्यास में व्यापकता पर। उपन्यास जीवन और समाज के विविध प्रसंगों को समेटता है, कहानी जीवन के सीमित क्षेत्रों तक ही पहुँच पाता है।

कई आलोचकों और रचनाकारों ने कहानी और उपन्यास में 'लंबाई' को मुख्य अंतर माना है। जेन स्माइली ने अपनी पुस्तक 'थर्टीन वेज टू लुकिंग ऐट द नॉवेल' में माना है कि 'कहानी के लंबेपन की आवश्यकता के कारण ही उपन्यास का जन्म हुआ। पुराने कहानीकार जब संक्षिप्त तरीके से अपनी बात

कहने में अक्षमता महसूस करने लगे तो उन्होंने उपन्यास जैसी विधा का चुनाव किया।'[2] कहानी और उपन्यास के मध्य लंबाई का जो अंतर है उसे ओ कोन्नोर भी स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि– "इस अंतर के बारे में हम सर्वाधिक सामान्य बात केवल यह कह सकते हैं कि कहानी का आकार छोटा होता है। हालांकि यह अनिवार्यतः सही नहीं है, लेकिन सरलीकरण के लिए यह बात चल सकती है।"[3] जेन स्माइली और ओ कोन्नोर का उपन्यास की लंबाई पर जोर देकर उसे कहानी से अलग बताना अकारण नहीं है। उपन्यास पाठक और प्रस्तुत की गई कहानी के बीच तादात्म बनाकर ही सफल होता है। महत्वपूर्ण है कि तादात्म स्थापित करने की संभावना काफी हद तक लंबाई से जुड़ी होती है। उपन्यास की लंबाई कहानी के मुकाबले पाठक को बारीक और सूक्ष्म ब्यौरे उपलब्ध करवाती है। इस कारण पाठक स्थितियों को गहराई से समझ पाता है। उपन्यास अपनी लंबाई के कारण पाठक को दूर तक साथ चलने का मौका देता है। लंबाई का तत्व सिर्फ कहानी और उपन्यास के भेद को ही स्पष्ट नहीं करता बल्कि यह संरचना को भी प्रभावित करता है। आखिर क्या कारण है कि तमाम सैद्धांतिक बहसों के बावजूद किसी आम पाठक के लिये कहानी और उपन्यास का मुख्य अंतर लंबाई पर ही टिका होता है।

हीगल ने उपन्यास को 'आधुनिक युग का महाकाव्य' कहा है। उनके अनुसार यथार्थ के प्रति आग्रह के कारण ही उपन्यास प्रामाणिक कला रूप है। उपन्यास की यह यथार्थपरकता एक ओर जहाँ कथानक रूढ़ियों और पारलौकिकता का निषेध करती है वहीं वह अपने केंद्र में मानव को स्थान देती है। पश्चिम में उपन्यास के स्वरूप का निर्माण करने में यथार्थ की महत्वपूर्ण भूमिका थी। पुनर्जागरण काल के मूल्यों के कारण अलौकिक और अवैज्ञानिक तत्व संदेह के दायरे में आ गए। तर्क, अनुभववाद और वैज्ञानिकता ने समाज

को गहराई से प्रभावित किया। इस संदर्भ में देकार्त का यह कथन महत्वपूर्ण है कि "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।"[4] (Cogito ergo sum)। इस आधुनिकता ने मानव चेतना को तो प्रभावित किया ही, उपन्यासों को नए मूल्यों से भी जोड़ा। तर्क और अन्वेषण करने की प्रवृत्ति ने अलौकिक और आश्चर्यजनक चीजों पर प्रश्न चिन्ह् लगा दिया। सरवान्तीस ने डॉन क्विग्जोट की भूमिका में स्पष्ट कर दिया था कि वे एक यथार्थपरक रचना कर रहे हैं। वैसी रचना जिसमें अलौकिक और अतिमानवीय स्थितियों से इतर 'साधारण के वीरत्व' पर जोर है। उनके वाक्य हैं– "तुम्हारी कहानी के काल्पनिक तत्व कोई महान सत्य की खोज में तत्पर है नहीं, न ही वे किसी ज्योतिषीय प्रेक्षण में लगे हैं न ही उनके लिये ज्यामितिक मानदंड ही महत्वपूर्ण है। तुम्हें अपनी कहानी में शब्दाडंबर से संबंधित प्रश्नों पर विवाद नहीं करना है ना ही इसे उपदेश देने की किसी प्रक्रिया में भाग लेना है जिसमें अक्सर मानवीय और दैवीय का घालेमल हो जाता है और जिसका चोगा पहनने से किसी भी ईसाई को बचना चाहिए। तुमने तो केवल वही नकल की है जो तुमने देखा है, जितनी ही पूर्ण तुम्हारी नकल होगी उतनी ही श्रेष्ठ तुम्हारी रचना होगी। चूँकि तुम्हारी किताब तो केवल उस प्रभुत्व व प्रभाव को ध्वस्त करने का प्रयास है जो इन वीरगाथाओं के कारण दुनिया पर व पब्लिक पर हावी है। इसीलिए तुम्हें क्या ज़रुरत है कि तुम दार्शनिकों से उनका ज्ञान माँगों या धार्मिक ग्रंथों से परामर्श लो, कवियों से अलकारिक भाषा सीखो, संतों से चमत्कार सीखो या वक्ताओं से वाग्मिता प्राप्त करो। तुम्हें केवल इतना करना है कि तुम अर्थपूर्ण शब्दों का चयन कर ईमानदारी व सही ढंग से उनका प्रयोग करो ताकि तुम्हारे वाक्य और अनुच्छेद प्रभावकारी सिद्ध हों और वे संवेदना व स्पष्ट रूप से वह सब समझा सकें जो तुम इतने बलपूर्वक कहना चाहते हो। तुम्हारे विचार साफ व सीधे ढंग से बिना भ्रमित और पेचीदा लगे व्यक्त होने चाहिए।"[5] मिगेल द सेरवांतेस का यह

कहना काफी महत्वपूर्ण है कि उपन्यास लेखकों को धार्मिक ग्रंथों से परामर्श लेने या चमत्कार सीखने की कोई जरूरत नहीं है। वस्तुतः डॉन क्विग्जोट के माध्यम से तर्क, यथार्थ और अन्वेषण की जो यात्रा आरंभ हुई थी, वह 'रॉबिन्सन क्रूसो' में प्रकृति पर विजय पाने से पूरी हुई। सदियों तक प्रकृति से डरने वाला मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा था। इस प्रक्रिया पर विचार करते हुए ऑयन वॉट लिखते हैं "उपन्यास एवं आधुनिक चिंतन की समस्याओं की परिभाषा समान रूप से उस समय स्थापित हुई जब नैतिक एवं सामाजिक संबंधों की पुराचीन व्यवस्था का जलयान, रॉबिन्सन क्रूसो के साथ व्यक्तिवाद के चढ़ रहे ज्वार–भाटे द्वारा नष्ट–भ्रष्ट कर दिया गया था।"[6]

उपन्यास के उदय में यथार्थवाद और व्यक्तिवाद का योगदान था। इन गुणों के कारण ही उपन्यास में उपेक्षित वर्गों की स्थापना हुई। उपन्यास ने अपने केंद्र में उन स्वरों को स्थान दिया, जिन्हें पहले अनसुना कर दिया गया था। उपन्यास के उदय से मध्यवर्ग की कहानी समाज के केंद्र में आ गई। इसी के साथ नारी स्वर को भी स्थान मिला। "योरोप के आरम्भिक उपन्यासों में यह तथ्य दृष्टिगोचर करने योग्य है कि इतिहास में जिस नारी को वाणी नहीं प्राप्त हुई थी, जो मूक थी, मुखर नहीं हुई थी, वह उपन्यास विधा के साथ कर्त्ता या कर्त्री के रूप में सामने आई है। यह आकस्मिक नहीं है कि आरंभिक अंग्रेजी साहित्य की तीन महान और प्रसिद्ध उपन्यास लेखिकाएँ नारियाँ ही थीं। जेन आस्टिन, ब्रोके सिस्टर्स और जार्ज इलियट ये तीनों सामान्य लेखिकाएँ ही न थीं। बल्कि निर्विवाद रूप से उच्च कोटि की, क्लासिक की रचना करने वाली महिलाएँ थी। मदाम स्टील और उनके बाद भी फ्रांस में भी उसकी महिमा है। इसलिए एक तो कर्त्री के रूप में आना महत्वपूर्ण है। इससे बढ़कर नारी इस नई विधा के केन्द्र में थी। हीरो कहने के लिए भले ही पुरुष हो लेकिन अधिकांश उपन्यास नारी केन्द्रित थे।"[7]

यूरोप में नॉवेल के विकास के साथ ही कई प्रश्न भी खड़े हुए। सबसे पहला प्रश्न तो यही उठा कि जो भी कथात्मक गद्य साहित्य लिखा गया, क्या वह सारा नॉवेल ही माना जाए। यूरोप में इस प्रश्न पर कई आलोचकों ने गंभीरतापूर्वक विचार किया। "उन्होंने कहा कि इस तरह के जितने कथात्मक गद्य प्रबंध लिखे गए हैं, सब नावेल नहीं हैं, बल्कि नावेल उसमें से कुछ ही हैं। इस कथन को स्पष्ट करने के लिए मैं कहना चाहता हूँ कि अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ. एफ.आर. लेविस ने 1948 में 'ग्रेट ट्रेडीशन्स' नाम की किताब लिखी। लेविस जिसको इंगलिश नावेल कहते हैं उस इंगलिश नावेल में उन्होंने केवल 6 लेखकों का नाम लिया। उसमें सबसे पहला नाम जेन आस्टिन और जार्ज इलियट का है। इस क्रम में हेनरी जेम्स और जासेफ फोनरॉड पर सूची समाप्त हो जाती है। जेन आस्टिन से पहले रिचर्डसन और फीलि्डग जैसे बड़े उपन्यासकारों को एफ.आर. लेविस उपन्यासकार नहीं मानते। उनका मानना था कि इन्होंने उपन्यास की पृष्ठभूमि तैयार की थी। सच्चे अर्थों में इंग्लिश नावेल की शुरुआत जेन आस्टिन से होती है। यहाँ तक कि सबसे लोकप्रिय उपन्यासकार चार्ल्स डिकेन्स को लेविस ने यह कहते हुए खारिज कर दिया कि वह एक बड़े मनोरंजनकर्त्ता (इण्टरटेनर) थे किन्तु उपन्यासकार नहीं। अब आप देखे कि स्वयं इंग्लिश में ही नावेल केवल वर्णनात्मक शब्द नहीं रहा, बल्कि नावेल एक मूल्य बोधक शब्द हो गया।"[8]

नामवर सिंह के इस मत से कई प्रश्न उठते हैं। उपन्यास निःसंदेह मनुष्य जीवन का आख्यान है। परंतु नामवर सिंह ने जिस संदर्भ की चर्चा की है, वह अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। एफ.आर. लेविस के मत का उल्लेख करते हुए कहीं न कहीं वे उनसे सहमत दिखते हैं। वस्तुतः लेविस के हवाले से नामवर सिंह ने जिस प्रश्न को उठाया है वह प्रश्न उपन्यास की संरचना और ढाँचे का

है। लेविस ने केवल 6 लेखकों की उपन्यासकार के रूप में चर्चा की है, क्या बाकी रचनाकारों के उपन्यास में कथातत्व या कथानक का अभाव था। वस्तुतः 'कथानक' उपन्यास का ढाँचा तो बन सकता है, स्वयं उपन्यास नहीं बन सकता। कथानक या पात्र उपन्यास के लिए जरूरी हो सकता है, पर उपन्यासकार का असली काम तो इसके बाद शुरू होता है। उपन्यासकार अपनी शैली के अनुसार कथानक को शिथिल कर सकता है, उसे तोड़ सकता है या घटनाओं को बढ़ा सकता है। वह चाहे तो घटनाओं अथवा कार्यव्यापार के स्थान पर प्रतीकों या बिम्बों का प्रयोग करके कथा कह सकता है। वस्तुतः 'कथानक' उपन्यास का पहला पड़ाव है, उपन्यास की असली यात्रा तो उसके बाद आरंभ होती है। वस्तुतः उपन्यास मानव जीवन की अभिव्यक्ति करता है। मानव जीवन की अभिव्यक्ति को ठीक–ठीक परिभाषित करना आसान नहीं है, पर हम सभी अपने अनुभव से जानते हैं कि 'जीवन' अपनी विविधता और व्यापकता में जितना अधिक उपन्यास में अभिव्यक्त हो सकता है, उतना साहित्य की किसी दूसरी विधा में नहीं। उपन्यास जीवन के प्रति समर्पित होता है, घटनाओं के प्रति नहीं। एफ.आर. लेविस और नामवर सिंह इन्हीं कारणों से सिर्फ 6 लेखकों को ही अंग्रेजी का आरंभिक उपन्यासकार मानते हैं। गद्य साहित्य लिखने वाले समस्त रचनाकार उपन्यासकार नहीं माने जा सकते।

उपन्यास के जरूरी तत्व क्या हो, इस पर जार्ज लुकाच (लुकाच मूलतः जर्मन भाषा में लिखते थे) ने 1910–11 में 'थ्योरी ऑफ नावेल' नामक किताब लिखी। नावेल क्या है और नावेल का सिद्धांत क्या हो, इस पर विचार करने वाले आलोचकों ने जार्ज लुकाच का महत्वपूर्ण स्थान है। लुकाच का मानना है कि "नावेल एक विशेष प्रकार का रूप विधान है, जिसकी आत्मा और निर्धारक तत्व है Proiematic Hero अर्थात् समस्याग्रस्त नायक।.... समस्याग्रस्त नायक

ऐसा पुरुष है जिसकी अपने समाज से अनबन हो, जिसको पूरा अहसास हो कि उसके आस–पास का पूरा समाज भ्रष्ट है, मूल्यहीन है। ऐसे भ्रष्ट और मूल्यहीन समाज में अपने अकेलेपन के गहरे अहसास के साथ वह वांछित मूल्यों और आदर्शों के लिए छटपटाता रहता है। जिस कृति में यह मिले वह उपन्यास है न मिले वह उपन्यास नहीं है। इस दृष्टि से लुकाच ने स्टेन्डिल, फ्लाबेयर, दोस्त्योवस्की और तोल्सतोय के उपन्यासों को चुना तो दूसरी ओर बहुत सारे उपन्यास इस कसौटी पर खरे नहीं उतरे।"[9]

इन्हीं कारणों से यूरोप में लिखे गए सारे लम्बे कथात्मक गद्य 'नावेल' नहीं माने गए। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि "हेनरी जेम्स ने तोल्सतोय के 'वार एण्ड पीस' और 'अन्ना केरेनिना' तक को कहा कि यह नावेल नहीं है। ये ऐसा ढीला–ढाला जेली है, जो उपन्यास की विधागत शर्तों को पूरा नहीं करता है। यह कृति महान होगी लेकिन यह नावेल नहीं है। इसलिए आप देखें कि 'उपन्यास' संज्ञा वर्णनात्मक (Formal Description) रूपविधा नहीं रहा है। अंग्रेजी शब्द इस्तेमाल करूँ तो ये Juridical रहा है ये निर्णयगत रहा है। निर्णय का मतलब है मूल्य निर्णय। इस संदर्भ में हम योरोप के पूरे विमर्श को ध्यान में रखें। मैंने कहा कि मध्यवर्ग का उदय सबसे पहले योरोप में हुआ था। उस मध्यवर्ग के उदय के साथ उसकी एक जीवन दृष्टि भी विकसित हुई थी। उसकी कुछ ऐसी विचारधारायें थी जो नई रूपविधा को आकार देने में सहायक हुई। उनमें से एक व्यक्तिवाद है और दूसरा अनुभववाद है। इसके साथ उपन्यास में कुछ और विशेषताएँ हैं, जैसे जीता जागता इंसान अपने वास्तविक परिवेश के साथ चित्रित किया जाता है, जहाँ परीकथाओं की कपोल कल्पना न हो, केवल रोमांस न हो या जिसे दास्तान या किस्सा कहा है वह न हो।

अंग्रेजी में कहा जाए तो एक 'फॉर्मल रियलिज़्म' के साथ नावेल जुड़ा हुआ है। इस रूपगत यथार्थ के साथ एक नई विधा का जन्म हुआ था।"[10]

उपन्यास के साथ जो प्रश्न गंभीरता से जुड़ा हुआ है वह है 'औपन्यासिक संरचना का प्रश्न'। औपन्यासिक संरचना को हम अन्य ललित कलाओं की तरह आसानी से व्याख्यायित नहीं कर सकते। वास्तुकला, मूर्त्तिकला या चित्रकला को देखकर एक नजर में काफी कुछ कह सकते हैं, पर उपन्यास की औपन्यासिक संरचना पर विचार करना टेढ़ी खीर है। अन्य ललित कलाएँ जैसे वास्तुकला या मूर्त्तिकला हमारे समक्ष ठोस, दृश्य या स्थिर रूप में प्रकट होती हैं जबकि उपन्यास में उपन्यासकार द्वारा प्रदत्त अनुभव और संवेदना से भरापूरा कल्पना संसार होता है। शब्द रूप में छपे इस कथासंसार के धुँधले और छायामय रूप को पकड़ना लेखक द्वारा निर्मित बिम्ब को ग्रहण करना पाठक के लिए ही नहीं, अपितु कई बार आलोचना के लिए भी कठिन होता है। 'औपन्यासिक संरचना' इतना महत्वपूर्ण तत्व है जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। टालस्टॉय की रचना 'वार एण्ड पीस' को हेनरी जेम्स ने अकारण ही 'नावेल' मानने से इंकार नहीं किया है।

टालस्टॉय की रचना 'युद्ध और शांति' के विषय में आलोचकों का मानना है कि वह एक महान रचना तो है, पर उसकी संरचना दोषपूर्ण है। पर्सी लब्बॉक के अनुसार 'युद्ध और शांति' में कथा सामग्री का दुरुपयोग हुआ है। 'वार एण्ड पीस' की औपन्यासिक संरचना का दूसरा दोष यह माना जाता है कि उसमें दो विषय एक दूसरे से चिपके हुए हैं। टालस्टॉय एक ओर 'यौवन और उम्र' कहानी कहते हैं और दूसरी तरफ उसमें रूसी इतिहास के एक संकटपूर्ण संघर्ष को चित्रित करने का प्रयास भी करते हैं। पर्सी लुब्बॉक के

अनुसार यदि टालस्टॉय इन दो विषयों के आधार पर दो स्वतंत्र उपन्यास लिखते तो भी उसकी अद्वितीयता में कोई कमी नहीं आती। टालस्टॉय ने अपने समस्त अनुभव को एक विशाल ढाँचे में खपाने की कोशिश की। उन्होंने सामग्री चयन और छँटाई पर ध्यान नहीं दिया, जो उपन्यास की संरचना का मूल तत्व है। हालांकि टालस्टॉय का अनुभव संसार इतना विशाल है कि संरचना की कमजोरी पर सहसा ध्यान नहीं जाता।

गौरतलब है कि 'वार एण्ड पीस' उपन्यास का शीर्षक होने पर भी यह केन्द्रीय विषय नहीं है। पर्सी लुब्बॉक 'वार एण्ड पीस' की तुलना इलियट और एनीड से करते हुए मानते हैं कि यह इलियड की तरह कुछ व्यक्तियों की कहानी भी है और एनीड की तरह राष्ट्र की गाथा भी। शायद टालस्टॉय ने इन दोनों कहानियों को साभिप्राय एकबद्ध नहीं किया है। बिना किसी पूर्व–सूचना के एक कहानी समाप्त होती है और दूसरी शुरू हो जाती है। पहली कहानी में टालस्टॉय युवा पीढ़ी के प्रेम और महत्वाकांक्षा की कहानी कहते हैं और दूसरी कहानी में सेनाध्यक्ष, सामंत और सम्राट रंगमंच पर उपस्थित हो जाते हैं। पहली कहानी जो अब तक केंद्र में दिख रही थी, एकाएक किनारे पड़ कर ओझल हो जाती है। इस कारण 'वार एण्ड पीस' में औपन्यासिक संरचना का अभाव दिखाई पड़ता है। पर्सी लुब्बॉक निराशा के स्वर में कहते हैं कि 'वार एण्ड पीस' में सुसंगत ढाँचे का अभाव है। उनका मानना है कि उपन्यास होने के लिए एक औपन्यासिक संरचना का होना बेहद जरूरी है।

हालांकि हमारे पास लुब्बॉक के मत से असहमत होने के भी पर्याप्त तर्क हैं। यदि लुब्बॉक को 'वार एण्ड पीस' में केंद्र नहीं दिखायी देता तो यह उपन्यास के 'रूप' की कमजोरी नहीं है। वस्तुतः यह रचना केन्द्र से परिधि की

ओर अग्रसर होने वाली रचना नहीं है। वस्तुतः यह एक ऐसे बृहद् वृत्त की तरह है, जिसमें अनेक छोटे–बड़े वृत्त हैं और ये सभी वृत्त किसी अदृश्य केन्द्र से जुड़े हुए हैं। यह केन्द्र है मनुष्य की नियति। 'वार एण्ड पीस' के पात्र प्रिंस एंड्रयू, नताशा, पीटर बेजुकोव आदि उसी प्रकार नियति के समक्ष विवश हैं, जैसे अपनी सारी सेनाओं और सेनाध्यक्षों के साथ नेपोलियन और कुतुजोब। उपन्यास के कुछ पात्र प्रेम और अपनी पहचान के लिए संघर्ष करते हैं तो सामंती परिवार अपने–अपने दुःखों से संघर्ष करते हैं, वही नेपोलियन अपनी साम्राज्य–लिप्सा और शक्ति के नशे में अंधा है। रूस आत्मरक्षा की लड़ाई में लगा हुआ है। इन सारी घटनाओं का केंद्र नियति के अलावा और क्या हो सकता है; जैसे महाभारत का केंद्र 'धर्म' और उसके लिए 'युद्ध' है उसी प्रकार 'वार एण्ड पीस' का केंद्र नियति और उससे व्यक्ति तथा राष्ट्र का संघर्ष है।

संदर्भ

1 देवीशंकर अवस्थी (संपा.) : साहित्यिक विधाओं की प्रकृति, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृ. 114

2 जेन स्माइली : थर्टीन वेज टू लुकिंग ऐट द नॉवेल, अल्फ्रेड ए. नॉफ पब्लिशर, 2005, पृ. 18

3 देवीशंकर अवस्थी (सं.) : साहित्यिक विधाओं की प्रकृति, पूर्वोक्त, पृ. 119

4 पार्थसारथी गुप्त (सं.) : आधुनिक पश्चिम का उदय, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2001, पृ. 187 देखें

5 मिगेल दे सेरवांतेस : दोन किखोते, प्रथम भाग, विभा मौर्य (अनुवाद), कान्फ्लुएंस इंटरनेशनल, नई दिल्ली, 2006, पृ. 29

6 ऑयन वाट : उपन्यास का उदय, धर्मपाल सरीन (अनु.), हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1990, पृ. 13

7 नामवर सिंह : प्रेमचंद और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, मार्च, 2013, पृ. 58

8 भारतीय समाज और प्रेमचंद : नामवर सिंह, वही, पृ. 56

9 उपरोक्त, पृ. 56–57

10 उपरोक्त, पृ. 57

द्वितीय अध्याय

भारत में उपन्यास का उदय

2.1 हिंदी में गद्य और उपन्यास का उदय

2.2 उर्दू में गद्य और उपन्यास का उदय

2.1 हिंदी में गद्य और उपन्यास का उदय

"पुराने जमाने के 'वासवदत्ता', 'दशकुमार–चरित', 'कादंबरी' आदि काव्यों से ये आधुनिक उपन्यास भिन्न श्रेणी के हैं। उपन्यास नये यंत्र–युग की उपज है।... यह गलत धारणा है कि उपन्यास और कहानियाँ संस्कृत की कथा आख्यायिकाओं की सीधी संतान है।... यंत्र–युग ने पश्चिम में जिस व्यावसायिक क्रांति को जन्म दिया उसके कई फलों में एक है वैयक्तिक स्वाधीनता। यह वैयक्तिक स्वाधीनता ही उपन्यासों का आदर्श है और काव्य–काल का रूढ़ि–निर्धारित और परंपरा–समर्थित सदाचार कथा–आख्यियाओं का आदर्श है।"[1]

– हजारीप्रसाद द्विवेदी

"बात ऐसी है कि भारतेंदु के समय से तो हिंदी–उपन्यास का लिखित मुद्रित और साहित्यिक रूप शुरू हुआ किंतु हिंदी–उपन्यास की परंपरा उतनी पुरानी है जितनी हिंदी–काव्य की। अंतर इतना ही है कि हिंदी के प्राचीन काव्य का पर्याप्त अंश हस्तलिखित पोथियों में सुरक्षित रह गया जबकि उसका गल्प–साहित्य मौखिक ही बना रहा।"[2]

– नलिन विलोचन शर्मा

भारत में उपन्यास का उदय किन परिस्थितियों में हुआ, यह सर्वविदित है, परंतु उपन्यास का उदय कैसे हुआ यह पर्याप्त विवादित है। कई आलोचकों का मानना है कि भारतीय उपन्यास का उदय पाश्चात्य उपन्यासों के कारण ही संभव हो पाया। यहीं दूसरे मत के आलोचकों के अनुसार भारत में कथा और आख्यान की हजारों साल पुरानी परंपरा है, ऐसे देश में उपन्यास का विकास स्वाभाविक है। इस पर किसी पाश्चात्य शैली का प्रभाव नहीं है। प्रश्न यह है कि उपरोक्त दोनों मतों में कौन सा मत सही है? या फिर दोनों ही मत आंशिक सत्य है? कहीं सच्चाई इन दोनों के बीच तो नहीं?

हम भारतीयों की स्वाभाविक रुचियों से एक है किस्सा–कहानी सुनना। न सिर्फ सुनना बल्कि सुनाना भी। कथा कहने और कथा सुनने वाले लोगों की सहज उपलब्धता हमारे समाज का अनिवार्य सच है। हर शहर, हर गाँव यहाँ तक कि तकरीबन हर परिवार में एक 'किस्सागो' व्यक्ति मौजूद रहता ही है। किसी बात को गप्प की शैली में कहना अपनी तरफ से कुछ जोड़ देना, थोड़ी सी कल्पना का सहारा लेकर सामान्य बात को भी आकर्षक बना देना, घटना

का ऐसे वर्णन करना जैसे मौका–ए–वारदात पर स्वयं मौजूद हो आदि विशेषताएँ हमारे आस–पास के कहे लोगों में पाई जाती है। जिस समाज में ऐसी चीजें सहजता से पाई जाती हों, वहाँ 'कथा' और 'उपन्यास' का विकास कोई आश्चर्यजनक तथ्य नहीं।

"कालिदास ने लिखा है, उज्जयिनी के गाँव के बड़े–बूढ़े लोग, उदयन की प्रेम–कथाऐं सुनाने में दक्ष होते थे उज्जयिनी ही क्यों, देश के प्रत्येक ग्राम और नगर में 'कथा–कोविद' होते थे– उनके चरितनायक उदयन के बदले गोपीचंद या हीर ही क्यों न हों। जिस युग में छापेखाने नहीं खुले थे और बहुत मूल्यवान साहित्यिक ग्रंथ ही बड़े परिश्रम से हाथ से लिखे जाते थे उस युग में भी उपन्यासों का अस्तित्व था, किंतु इसी मौखिक रूप में। जहाँ और जब संस्कृत का प्रभाव था, वहाँ संस्कृत की 'बेतालपंचविंशति' और 'सिंहासनद्वात्रिंशिका' जैसे यथार्थवादी उपन्यास 'बेतालपच्चीसी' और 'सिंहासनबत्तीसी' के रूप में बोलचाल की हिंदी में प्रचलित थे, जब मुसलमानों से संपर्क बढ़ा तो 'तिलस्म–इ–होशरूबा' और 'दास्तान–इ–अमीर हम्जा; भी जनप्रिय बने।"[3]

हिंदी उपन्यासों का पारंपरिक भारतीय कथा पद्धति से कितना अटूट संबंध है यह नलिन विलोचन शर्मा जी के उपरोक्त कथन से स्पष्ट होता है। नलिन जी का कथन जितना भावनात्मक है, उतना ही भ्रामक भी। उन्होंने किन आधारों पर 'बैतालपच्चीसी' और 'सिंहासनबत्तीसी' को 'यथार्थवादी उपन्यास' कहा है, यह स्पष्ट नहीं हैं। उनका यह लेख भारतीय उपन्यासों की 'भारतीयता के पक्ष' में तर्क तो देता है पर यह नहीं बताता कि आखिर किन कारणों से 'हिंदी के प्राचीन काव्य का पर्याप्त अंश हस्तलिखित पोथियों में सुरक्षित रह गया, जबकि गल्प–साहित्य मौखिक ही बना रहा।'[4]

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठता है कि भारत में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग जिन प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में मिलता है क्या उनका वही अर्थ है जो आधुनिक 'उपन्यासों' का है। "यद्यपि वैदिक साहित्य में गद्य–पद्य में लिखी हुई कहानियों की कमी नहीं है पर जिसे हम अलंकृत गद्य काव्य कहते हैं, जिसका प्रधान उद्देश्य रससृष्टि है निश्चित रूप से उसका प्रचार गुप्त सम्राटों की छत्रछाया में ही हुआ। यद्यपि यह निश्चित है कि जिस रूप में सुविकसित गद्य का प्रचार इस युग में दिखाई देता है, उस रूप को प्राप्त होने में उसे कई शताब्दियाँ लग गई होगी। सौभाग्यवश हमारे पास कुछ ऐसी प्रशस्तियाँ प्राप्त हैं जिन पर से अलंकृत गद्य के प्राचीन अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं रह जाता। गिरनार के महाक्षत्रप रुद्रदामा (साधारणतः रुद्रदामन् नाम से परिचित) का खुदवाया हुआ जो लेख मिला है उससे निस्संदिग्ध रूप से प्रमाणित होता है कि सन् 150 ई. के पूर्व संस्कृत में सुन्दर गद्य काव्य लिखे जाते थे। यह सारा लेख गद्य काव्य का एक नमूना है। इसमें महाक्षत्रप ने अपने को 'स्फुटलघु–मधुर–चित्र–कांत–शब्द–समयोदारालंकृत–गद्य–पद्य' का मर्मज्ञ बताया है जिससे अलंकृत गद्यों के ही नहीं अलंकार शास्त्र के अस्तित्व का भी प्रमाण पाया जाता है। यह गद्य–काव्य क्या थे, यह तो हमें नहीं मालूम, पर उनकी रचना प्रौढ़ और गुम्फ आकर्षण होते होंगे, इस विषय में संदेह की जगह नहीं है। सम्राट समुदगुप्त ने प्रयाग के स्तम्भ पर हरिषेण कवि द्वारा रचित जो प्रशस्ति खुदवायी थी, यह एक दूसरा सबूत है। हरिषेण ने इस प्रशस्ति को सम्भवतः सन् 530 ई. में लिखा होगा। इसमें गद्य और पद्य दोनों का समावेश है और रचना में काव्य के सभी गुण उपस्थित है। सुबन्धु और बाण ने अपने रोमांसों के लिए जिस जाति का गद्य लिखा है। इस प्रशस्ति का गद्य उसी जाति का है। हरिषेण के इस काव्य से निश्चित रूप से प्रमाणित होता है कि इससे पहले भी गद्य–काव्य का अस्तित्व था।"[5]

यह बात अनेक जगह कही जाती है कि उपन्यास तीन शब्दों के मेल से बना है– उप, नि और आस। हिंदी का न्यास संस्कृत के न्यासः से बना है, जिसकी व्युत्पत्ति नि+अस् में घञ् प्रत्यय लगने से हुई है। न्यास का अर्थ है– रखना। इसमें 'उप' उपसर्ग लगने से 'उपन्यास' बनता है। जिसका अर्थ हुआ– निकट रखना। अमरकोश में तमाम अर्थों का सार बताते हुए उपन्यास का अर्थ बातचीत करना बताया गया है। सर मोनियर विलियम्स के विश्व प्रसिद्ध संस्कृत अंग्रेजी शब्दकोश में उपन्यास शब्द के अर्थ– 'परिकथा', 'कल्पित–कथा', 'उपाख्यान', 'आख्यान', 'प्रबंध कल्पना' आदि दिये गए हैं।[6]

वस्तुतः एक साहित्यिक विधा के तौर पर दुनिया भर के साहित्य में 'उपन्यास' की सशक्त मौजूदगी है। हालांकि कई भारतीय विद्वान भारत में लिखे गए उपन्यासों की बात करते हुए उसे अन्य देशों के उपन्यासों से अलगाते हैं। इस संदर्भ में बात करते हुए कई आलोचकों ने 'भारतीय उपन्यास' पद का प्रयोग किया है। 'भारतीय उपन्यास' की इस धारणा से ऐसा लगता है मानो उपन्यास की सामान्य विशेषताओं और 'भारतीय उपन्यास' की सामान्य विशेषताओं में कोई मूलभूत अंतर है। 'भारतीय उपन्यास' की बात करते हुए कई आलोचकों ने इसे 'अंग्रेजी ढंग' के उपन्यास के विरोध में रखा है। हालांकि भारतीय उपन्यास होने के लिए यह अनिवार्य तथ्य है कि वह उपन्यास किसी भारतीय द्वारा ही लिखा जाए पर भारतीय लेखक द्वारा लिखा जाना भर उसे 'भारतीय उपन्यास' बनाने हेतु पर्याप्त नहीं है। जाहिर है इस अध्याय में हम यह भी पड़ताल करेंगे कि वह कौन सी चीज है जो किसी रचना को 'भारतीय उपन्यास' बनाती है।

इस पूरे साहित्य पर विचार करते हुए एक महत्वपूर्ण तथ्य से हमारा साक्षात्कार होता है। वह है– भारत में आधुनिक उपन्यास के उदय की चर्चा करते वक्त हम मुख्यतः अंग्रेजी उपन्यास को ही केंद्र में रखते हैं। ऐसा करना

विश्व–साहित्य में उपन्यास के विकास को एकांगी रूप में देखना है। साथ ही स्वयं अंग्रेजी उपन्यास के विकास को भी अधूरा देखना है क्योंकि अंग्रेजी उपन्यास भी दूसरी भाषाओं के साहित्य से प्रभावित होकर विकसित हुआ है। जहाँ तक हिंदी उपन्यास का प्रश्न है, उसके विकास में निश्चित ही अंग्रेजी उपन्यासों की प्रभावी भूमिका रही है। अतः भारतीय उपन्यास के विकास संबंधी स्थापनाओं के संदर्भ में अंग्रेजी उपन्यासों की चर्चा आवश्यक है।

हिंदी में 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' की बात सबसे पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने की। उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा कि "अंगरेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले पहल हिंदी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' ही निकला था।"[7] शुक्ल जी के कई 'जगत प्रसिद्ध वाक्यों' की तरह यह वाक्य भी लोकप्रिय हो गया। परवर्ती आलोचकों ने इस वाक्य को हाथों–हाथ लपक लिया। धीरे–धीरे शुक्ल जी का यह कथन स्वयं सिद्ध वाक्य की तरह हो गया। दुर्भाग्यवश इस वाक्य की जाँच पड़ताल करने की अनिवार्यता किसी बड़े विद्वान तक को नहीं महसूस हुई।

शुक्ल जी ने जिस 'परीक्षागुरु' को 'अंग्रेजी ढंग' का पहला उपन्यास बताया है, वह ऐसा भी अंग्रेजी ढंग का नहीं है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में 'परीक्षागुरु' पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है "अंगरेजी उपन्यासों के ढंग पर भाषण के बीच में या अंत में 'अमुक ने कहा', 'अमुक कहने लगा' ध्यान देने योग्य है। खैरियत हुई कि इस प्रभा का अनुसरण हिंदी के उपन्यासों में नहीं हुआ।"[8] शुक्ल जी 'परीक्षागुरु' को 'अंग्रेजी ढंग' का कह रहे हैं, 'अंग्रेजी की नकल' नहीं कर रहे। 'ढंग' का अर्थ उनके लिए 'पद्धति' जैसा था, इसीलिए ये उन विशेषताओं की ओर इशारा करते हैं, जो उन्हें नई लगी और अंग्रेजी से ग्रहण की हुई मालूम पड़ी।

शुक्ल जी 'परीक्षागुरु' की आलोचना करने में जितने सतर्क हैं, उतने ही सतर्क उपन्यास के लेखक लाला श्रीनिवासदास हैं। श्रीनिवासदास ने 'निवेदन' नाम से 'परीक्षागुरु' के आरंभ में जो भूमिका लिखी है, वह काफी महत्वपूर्ण है। वे लिखते हैं– "अब तक नागरी और उर्दू भाषा में अनेक तरह की अच्छी–अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं, परंतु मेरे जान इस रीति से कोई नहीं लिखी गई, इसलिए अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी, परन्तु नई चाल होने से ही कोई चीज अच्छी नहीं हो सकती बल्कि साधारण रीति से, तो नई चाल में तरह–तरह की भूल होने की संभावना रहती है और मुझको अपनी मन्द बुद्धि से और भी अधिक भूल होने का भरोसा है इसलिए मैं अपनी अनेक तरह की भूलों से क्षमा मिलने का आधार केवल सज्जनों की कृपा दृष्टि पर रखता हूँ। यह सच है कि नई चाल की चीज देखने को सबका जी ललचाता है परन्तु पुरानी रीति के मन में समाये रहने और नई रीति को मन लगाकर समझने में थोड़ी मेहनत होने से पहले पहल पढ़ने वाले का जी कुछ उलझने लगता है और मन उछट जाता है।"[9]

लाला श्रीनिवासदास के समक्ष यह स्पष्ट था कि वे नया कार्य करने जा रहे हैं। पुरानी रीति की पुस्तकों से वे भली–भाँति अवगत थे इसलिए बार–बार कहते हैं कि उनकी यह पुस्तक 'नई चाल की' होगी। 'नई चाल की' होने से उनका स्पष्ट अभिप्राय है कि यह पुराने और पारंपरिक कथा पुस्तकों से सर्वथा भिन्न है। श्रीनिवासदास जी ने 'नई चाल' का प्रयोग, 'नए फॉर्म और शिल्प' के संदर्भ में किया है। उन्हें यह भी ज्ञात था कि यह नयापन कुछ पाठकों के लिए उलझन पैदा करेगा। इस कारण भूमिका में वे स्पष्ट करते हैं कि इस पुस्तक को 'कैसे पढ़ा जाए?' जिन आलोचकों ने भारतीय उपन्यासों को 'अंग्रेजी ढंग' के नॉवेल से अलग माना है उन्हें यह बताना चाहिए कि अगर हिंदी उपन्यास

पारंपरिक भारतीय कथा पद्धति का स्वाभाविक विकास है तो उपन्यासकार श्रीनिवासदास इस बात से आशंकित क्यों है कि उनकी पुस्तक पढ़ते समय 'अतिरिक्त धैर्य' की आवयकता होगी। कि पहले–पहल पढ़ने वाला का जी कुछ उलझने लगेगा। स्पष्ट है कि वे 'नई शैली में' जो लिख रहे थे वह हिंदी भाषा में पहले से मौजूद नहीं थी।

इस 'निवेदन' रूपी 'भूमिका' का एक अन्य अंश भी महत्वपूर्ण है। श्रीनिवासदास लिखते हैं "इस पुस्तक में दिल्ली के एक कल्पित (फर्जी) रईस का चित्र उतारा गया है और उसको जैसे का तैसा (अर्थात् स्वाभाविक) दिखाने के लिए संस्कृत अथवा फारसी अरबी के कठिन शब्दों की बनाई हुई भाषा के बदले दिल्ली के रहने वालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि रखी गई। अलबत्ता जहाँ कुछ विद्याविषय आ गया है वहाँ विवश होकर कुछ, कुछ शब्द संस्कृत आदि के लेने पड़े हैं परन्तु जिनको ऐसी बातों के समझने में कुछ झमेला मालूम हो उनकी सुगमता के लिए ऐसे प्रकरणों पर ऐसा चिह्न लगा दिया गया है जिससे उन प्रकरणों को छोड़कर हरेक मनुष्य सिलसिले वार वृतान्त पढ़ सकता है। इस पुस्तक में संस्कृत, फारसी, अंग्रेरजी की कविता का तर्जुमा अपनी भाषा के छंदों में हुआ है परंतु छंदों के नियम और दूसरे देशों का चाल–चलन जुदा होने की कठिनाई से पूरा तर्जुमा करने के बदले कहीं–कहीं भावार्थ ले लिया गया है।"[10]

हिंदी का प्रथम उपन्यास माने जाने वाले उपन्यासकार की यह सूक्ष्म दृष्टि हमें आश्चर्यचकित भी करती है, और गौरवान्वित भी। उपन्यासकार को पूरी तरह यह ज्ञात है कि 'नई चाल की' पुस्तक को पढ़ते वक्त पाठक के समक्ष क्या–क्या दिक्कतें आऐंगी। उन्हें ज्ञात है कि संस्कृत, फारसी और

अंग्रेजी का तर्जुमा करते वक्त दिक्कतें होंगी। श्रीनिवासदास की यह भूमिका वस्तुतः 'उपन्यास कैसे पढ़ें' पर प्रकाश डालती है। एक सजग रचनाकार जान लेता है कि उसकी कृति से गुजरते वक़्त पाठक क्या–क्या सोचेगा, उसे कहाँ–कहाँ कैसा अनुभव होगा। श्रीनिवासदास इस मामले में वाकई कुशल रचनाकार थे। उन्होंने इस संक्षिप्त सी भूमिका में ही कई सूत्र–वाक्य कह दिए। 'हिंदी का प्रथम उपन्यास' लिखने वाले रचनाकार के लिए ऐसा करना वक़्त के हिसाब से ठीक ही था।

इस अध्याय के आरंभ में हमने प्रश्न उठाया था कि भारत में उपन्यास का उदय कैसे हुआ? सामान्यतः यह बात कही जाती है कि उपन्यास सीधे–सीधे पश्चिम से आयातित हुआ था। यह तथ्य अपनी जगह कायम है कि एक आधुनिक विधा के रूप में उपन्यास पश्चिम की ही उपज है। परंतु भारत में उपन्यास के उदय का पूरा श्रेय पश्चिम को देना सरलीकरण को स्वीकार करना है। साथ ही ऐसा कहना कहीं–न–कहीं अंग्रेजी राज के योगदान को साहित्यिक क्षेत्र में बढ़ा–चढ़ा कर प्रस्तुत करना भी है। मीनाक्षी मुखर्जी का विचार है कि "भारत में उपन्यास के उदय को जैसा कि कई बार किया जाता है, रेलवे और क्रिकेट की तरह पूर्णरूपेण ब्रिटिश साम्राज्य की देन बताना एक साहित्यिक विधा के जटिल सांस्कृतिक निर्धारकों को अनदेखा करना है।"[11] मीनाक्षी मुखर्जी का यह कथन काफी महत्वपूर्ण है। वे उपन्यास के उदय में अंग्रेजों की भूमिका को सिरे से नहीं नकारती, बल्कि उसी को एकमात्र केन्द्रीय तत्व मान लेने का विरोध करती है। इस संदर्भ में एक अन्य विद्वान वी.वी. जॉन का विचार है कि अगर अंग्रेज न भी आये हो, तो भी भारत में उपन्यास को एक विधा के रूप में पैदा होना ही था। वी.वी. जॉन मानते हैं– "यह मानना संभव है कि यदि 19वीं सदी के आस–पास ब्रिटिश यहाँ नहीं होते और अंग्रेजी

तथा अन्य यूरोपिय भाषाओं से देश में उपन्यास नहीं पहुँचे होते, तब भी यह पाठकों की एक नई प्रजाति के दाय के रूप में एक नये प्रकार की कहानी की उत्पत्ति हेतु वह समय उर्वर था।"[12] वी.वी. जॉन ने उपन्यास के उदय के समय की पाश्चात्य और भारतीय परिस्थितियों की तुलना करते हुए कहा है कि "उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक परिवर्तनों ने एक अलग प्रकार के सांस्कृतिक लेखन की माँग की, उससे अलग जो कि कवि प्रदान कर रहे थे। साथ ही धीरे–धीरे एक पढ़ने वाला जनसमुदाय भी आकार ले रहा था, यद्यपि यह बहुत बड़ा नहीं था, वह उच्चस्तरीय शिक्षण और नसीहत नहीं चाहता था, अपितु वह सामान्यतः मनोरंजन और विश्रांति की खोज में था।"[13] वी.वी. जॉन के मत से इस बात की पुष्टि होती है बदलते समय के साथ भारतीय रचनाकार भी बदल रहे थे। वे कथ्य और शिल्प के नए आयाम की खोज में थे। समाज का बदलता परिवेश के नए रूप और फार्म की ओर धकेल रहा था। ये महसूस कर रहे थे कि अब हर बात कविता की शैली में नहीं कही जा सकती। भारतीय समाज की संरचना में होने वाले बदलावों का असर साहित्यिक जगत पर पड़ना स्वाभाविक ही था।

भारत में उपन्यास के जन्म हेतु जिन भौतिक परिस्थितियों की जरूरत की उनका उदय कमोबेश अंग्रेजी शासन का परिणाम था पर सिर्फ इस कारण सारा श्रेय अंग्रेजी शासन और साहित्य को दे देना उचित नहीं। महत्वपूर्ण है कि भारतीय उपन्यासों ने रचनात्मक स्तर पर जो रूप ग्रहण किया, यह तो लगभग देशज था। बंकिमचंद्र का उदाहरण देते हुए नामवर सिंह ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं "छब्बीस वर्ष की कच्ची उम्र में बकिमचंद्र ने 'दुर्गेशनन्दिनी' (1865), नाम का अपना पहला बंगला उपन्यास प्रकाशित किया और एक साल के बाद 'कपालकुंडला' (1866) फिर तीन साल के अन्तराल के

बाद 'मृणालिनी' (1869)। इनमें से एक भी 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' नहीं है। जगमोहन सिंह के 'श्यामास्वप्न' के समान ही ये तीनों उपन्यास किसी 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' की अपेक्षा संस्कृत की 'कादम्बरी' की याद दिलाते हैं। यह भी एक विडम्बना ही है। एक लेखक कथा की पुरानी परम्परा से युक्त होकर एकदम आधुनिक ढंग की नई कथाकृति रचना चाहता है और परम्परा है कि उसके सर्जनात्मक अवचेतन का संचालन कर रही है।... उपन्यास का अर्थ जिनके लिए 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' है– फिर उसकी परिभाषा जो भी हो– वे इसे बंकिमचंद्र की विफलता मानेंगे लेकिन मेरी दृष्टि से लेखक की इस विफलता में ही भारतीय उपन्यास की सार्थकता निहित है। उपन्यास के मूलाधार उन्नीसवीं शताब्दी के ये 'रोमांस' ही है, न कि तथाकथित अंग्रेजी ढंग के उपन्यास। उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपालकुंडला' करती है 'परीक्षागुरु' नहीं।"[14]

नामवर सिंह अपने इस कथन में 'कपालकुंडला' और 'दुर्गेशनन्दिनी' को 'परीक्षागुरु' की अपेक्षा ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके मत से 'कपालकुंडला' पारंपरिक भारतीय कथा पद्धति का स्वाभाविक विकास है, जबकि 'परीक्षागुरु' 'अंग्रेजी ढंग का उपन्यास'। यह कथन सुनने में प्रीतिकर लगता है और हमारे भारतीय गौरव बोध को संतुष्ट भी करता है परंतु नामवर सिंह इस प्रसंग में एक चूक कर बैठते हैं। 'उपन्यास' और 'रोमांस' में 'कल्पना' ओर 'यथार्थ' का जो मूल अंतर है वे उसकी अनदेखी कर जाते हैं। उनकी स्थापना है कि भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपालकुंडला' करती है 'परीक्षागुरु' नहीं। ऐसे में यह सवाल उठना लाजमी है कि बकिमचंद्र के जिन 'दुर्गेशनन्दिनी' और 'कपालकुंडला' जैसे रोमांसधर्मी उपन्यासों को भारतीय उपन्यासों की मौलिक विकास प्रक्रिया से जोड़ा गया है, क्या उसमें यथार्थधर्मिता का भी निर्वाह हो

सकता था? भारतीय राष्ट्र और जीवन की निरंतर जटिल हो रही स्थितियों को क्या रोमांसधर्मिता प्रधान कथानक के बल पर व्यक्त किया जा सकता था? वस्तुतः उपन्यास केवल यथार्थ की खोज और उसकी गति की पहचान का आख्यान ही नहीं है, वह नवीन संभावनाओं की तलाश का आख्यान भी है। उसमें वर्तमान की सीमाओं के पार जाने की आकांक्षा के कारण एक बेहतर संभावित संसार की रचना की कोशिश भी होती है।

नामवर सिंह ने अपने लेख 'अंग्रेजी ढंग का नावेल और भारतीय उपन्यास' में 'परीक्षागुरु' के बजाए 'कपालकुंडला' को महत्वपूर्ण माना है। वे बकिमचंद्र को सर्जनशील रचनाकारों का सिरमौर मानते हैं। "ऐसे सर्जनशील रचनाकारों के सिरमौर हैं बकिंमचन्द्र जिन्हें प्रथम भारतीय उपन्यासकार होने का गौरव प्राप्त है।" [15] बकिंमचन्द्र की प्रतिष्ठा कहीं 'लाला श्रीनिवासदास' के अवमूल्यन की कीमत पर तो नहीं की गई है। लाला श्रीनिवासदास यथार्थ के रास्ते पर कदम रख कर उपन्यास की ओर बढ़ते हैं, जबकि बकिमचंद्र के रोमांसधर्मी पाँव अतीत की ओर मुड़े हुए हैं। वैभव सिंह अपनी पुस्तक 'परीक्षागुरु' में यह भी बताने की चेष्टा की गई कि देश के लोग अगर लाल मदनमोहन की तरह बुरे व्यसनों में पड़े बगैर अपना काम ईमानदारी से करे तो देश का विकास हो सकता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा 1884 ई. में बलिया में दिए भाषण 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो' में भी देशवासियों से आलस्य और अन्य बुरे व्यसन छोड़कर मेहनत से अपना उद्योग करने का आह्वान किया गया है। परीक्षागुरु में भी लाला ब्रजकिशोर एक ऐसी बैठक में जहाँ लाल मदनमोहन और उनके चापलूस बैठे हैं, यही कहते नजर आते हैं कि जिस देश में बहुत मनुष्य सावधान और उद्योगी होते हैं, उसकी उन्नति हो जाती है।... परीक्षागुरु भारत में उभरती कारोबारी संस्कृति के मूल्यों को लेकर रचा गया हिंदी का पहला उपन्यास है।"[16]

परीक्षागुरु का औपन्यासिक ढाँचा भले थोड़ा कमजोर हो, उसका शिल्प कहीं–कहीं शिथिल हो, उसमें नीति–कथाओं के लंबे उद्धरण हो पर इसमें कोई शक नहीं वह तत्कालीन यथार्थ को व्यक्त करने में शत–प्रतिशत सफल है। 'परीक्षागुरु' अपने समय के साथ कदमताल करती है, अपने वक़्त का नक़्शा दिखाती है। इस कारण उसकी छोटी–मोटी भूलों पर पर्दा डाला जा सकता है। किसी भी कार्य का आरंभ करने में छोटी–मोटी भूल का होना अस्वाभाविक नहीं है। 'कपालकुंडला' पूर्वी भारत की उपलब्धि है 'परीक्षागुरु' उत्तरी भारत की। हर समाज अपनी अभिव्यक्ति के लिए अलग–अलग पैमाने तलाशता है। किसी एक के ढाँचे को सब पर लागू करने की जिद न तो तार्किक है न ज़रूरी।

भारतीय उपन्यासों का उदय अचानक होने वाली क्रिया नहीं थी। उन पर 'अंग्रेजी ढंग के नॉवेल' का कितना प्रभाव था, यह विवादास्पद है। परंतु उनके उदय की परिस्थितियों पर कोई विवाद नहीं है। आखिर वे कौन से कारण थे कि भारत में गद्य का विकास संभव हो सका। समाज की किन बदलती परिस्थितियों ने हिंदुस्तान में उपन्यास को संभव बनाया।

कहना न होगा कि गद्य उपन्यास के लिए अनिवार्य शर्त है। हालांकि यह बात बहुत ही साधारण जान पड़ती है पर भारत के संदर्भ में इसका गहरा अर्थ है। यह ज्ञात तथ्य है कि हिंदी साहित्य में लंबे समय तक पद्य ही अभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम रहा। हालांकि साहित्य में पद्य की प्रधानता सिर्फ भारतीय साहित्य की ही विशेषता नहीं है, बल्कि दुनिया की कई अन्य भाषाओं को इसी प्रक्रिया से गुजरना पड़ा है। शिवदान सिंह चौहान का विचार है "विश्व की सभी भाषाओं में गद्य साहित्य का विकास प्रायः पद्य साहित्य की रचना के बहुत बाद में ही शुरू हुआ। इसके अनेक ऐतिहासिक कारण है। आदिकाल में

भाषाओं का लिखित रूप प्रचलित नहीं था। तब लिपियों और अक्षरों का विकास नहीं हुआ था। इसलिए उन दिनों जीवन के मार्मिक अनुभवों और प्रयोगसिद्ध तथ्यों की ज्ञान–राशि को छंदोबद्ध करके कंठाग्र किया जाता था और श्रुति–परंपरा द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी समाज के इस बढ़ते हुए ज्ञान का संरक्षण और विनिमय होता था।"[17] यहाँ इस बात को समझना आवश्यक है कि भले ही साहित्य में पद्य की प्रमुखता रही हो पर इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज में बोलचाल का माध्यम भी पद्य था। साहित्य के उलट समाज में गद्य ही बोलचाल के लिए स्वीकृत था।

प्राचीन भारतीय समाज की आवश्यकताओं ने साहित्य के पद्य रूप को ही अपनाया। लंबे समय तक हमारे साहित्यिक रचनाकारों ने पद्य रूप में ही रचना की। बीच–बीच में अवश्य गद्य के कुछ छिटपुट प्रमाण मिलते हैं, लेकिन वे साहित्य में गद्य के मौजूद होने के प्रमाण नहीं है। वे सिर्फ इस बात की ओर इशारा करते हैं कि लिखित साहित्य में गद्य की संभावना मौजूद है कि गद्य भी साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बन सकता है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि गद्य अक्षम नहीं है, लेकिन गद्य अपनी संपूर्णता में साहित्य का अंग तभी बन सकता था, जबकि समाज में उसकी जरूरत महसूस की जाए। गद्य को सराहा जाए और सबसे महत्वपूर्ण कि गद्य के पाठक हों।

हिंदुस्तान में गद्य को विकसित करने में कॉलेजों ने महत्वपूर्ण काम किया। सन् 1800 ई. में लार्ड वेलेजली ने फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। इस "कॉलेज में ईस्ट इंडिया कम्पनी के सिविल कर्मचारी शिक्षा प्राप्त करते थे। कॉलेज में विविध विषयों की शिक्षा दी जाती थी। फारसी, अरबी, संस्कृत, हिंदुस्तानी, बंगला, तेलुगु, मराठी, तमिल, कन्नड़, हिंदू–कानून,

नीति–विज्ञान, न्याय–पद्धति, अंग्रेजी–कानून, अर्थशास्त्र, भूगोल, गणित, यूरोप की आधुनिक भाषाएँ, रसायन–शास्त्र, नक्षत्र–विज्ञान आदि अनेक विषयों की उचित शिक्षा की व्यवस्था कॉलेज में की गई थी।"[18] हालांकि इस समय कॉलेज के पाठ्यक्रम में हिंदी को स्थान नहीं मिल सका था। इसके अलावा "सन् 1816 ई. में अंग्रेजी के समर्थक डेविड हेअर ने राजा राममोहनराय की सहायता से कलकत्ते में एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की। 1830 में ऐलेक्जेण्डर डफ ने कलकत्ते में ही एक कॉलेज की नींव डाली।"[19]

प्रेस हो या शिक्षा के लिए कॉलेज की स्थापना दोनों ही की शुरुआत का मूल उद्देश्य था ब्रिटिश उपनिवेशवाद का संरक्षण। अंग्रेजी राज का कार्य सुचारू और व्यवस्थित ढंग से चल सके इसके लिए आवश्यक था कि वे यहाँ की भाषा से परिचित हो सके। फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना का मूल उद्देश्य भारतीय भाषाओं का विकास नहीं था। इसकी स्थापना के मूल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सिविल कर्मचारियों का शिक्षण था। यह दूसरी बात है कि इस कारण अप्रत्यक्ष रूप से ही भारतीय भाषाओं के विकास का रास्ता खुला।

इन कॉलेजों ने जो महत्वपूर्ण काम किया वो था विभिन्न भारतीय भाषाओं में पुस्तकों का प्रकाशन। कई आलोचकों ने 'खड़ी बोली हिंदी' के लिखित (गद्य) रूप के विकास में फोर्ट विलियम कॉलेज के योगदान को महत्वपूर्ण माना है। सन् 1800 ई. में जॉन गिलक्राइस्ट फोर्ट विलियम कॉलेज में हिंदुस्तानी भाषा के प्रोफेसर बने। गिलक्राइस्ट वस्तुतः अरबी–फारसी मिश्रित 'हिंदुस्तानी' के पैरोकार थे। इसके बावजूद कॉलेज की नीतियों के कारण उन्हें 'भाषा मुंशियों' की नियुक्ति करनी पड़ी। इन 'भाषा मुंशियों' में लल्लू लाल और सदासुखलाल थे। लल्लू लाल ने 'प्रेमसागर' (1802) सदासुखलाल ने

'नासिकेतोपाख्यान' (1803) की रचना की। ये दोनों रचनाऐं खड़ी बोली गद्य की रचनाएँ की। इनके रचनाकारों ने बहुत ही सचेत रूप से इन रचनाओं को अरबी–फारसी की मिलावट से बचाया था। इस संदर्भ में मीनाक्षी मुखर्जी 'इंशा अल्ला खाँ' को भी रेखांकित करती है, जिन्होंने स्वतंत्र रूप से 'रानी केतकी की कहानी' (1803) की रचना की थी।"[20]

इन कारणों से हिंदी गद्य के विकास की अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित हुई। हिंदी में इससे पूर्व ब्रजभाषा आदि में गद्य की कुछ रचनाऐं हुई थी पर अब हिंदी गद्य का निर्माण सांस्थानिक रूप से हो रहा था। किसी व्यक्तिगत प्रयास के बजाए इसका दीर्घकालिक और गहरा महत्व था। आगे चलकर 1823 में विलियम प्राइस फोर्ट विलियम कॉलेज में 'हिंदुस्तानी विभाग' के अध्यक्ष नियुक्त हुए। विलियम प्राइस की भाषा नीति गिलक्राइस्ट के ठीक उलट थी। विलियम प्राइस ने 'हिंदुस्तानी' के बजाए 'हिंदी' को प्राथमिकता दी। रामचंद्र तिवारी का मानना है "विलियम प्राइस के हिंदी को प्राथमिकता देने के कारण हिंदी को कॉलेज के पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया गया।"[21]

हजारीप्रसाद द्विवेदी अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास' में फोर्ट विलियम कॉलेज की महत्वपूर्ण भूमिका से साफ–साफ इंकार करते हैं। इस पुस्तक में उन्होंने 'फोर्ट विलियम कॉलेज का हाथ कितना था' उप–शीर्षक से एक अनुच्छेद लिखा है और माना कि "वस्तुतः हिंदी गद्य उन दिनों अपनी भीतरी प्राणशक्ति के बल भर ही आगे बढ़ा।"[22] द्विवेदी जी तर्क देते हैं "कॉलेज जिन दिनों नए साहित्य के निर्माण की ओर दत्तचित था उन दिनों निश्चित रूप से खड़ी बोली शिष्टजन के व्यवहार की भाषा हो चली थी। सुप्रसिद्ध राजा राममोहन राय के लिखे एक पैंफलेट से पता चलता है कि यह भाषा उन दिनों

शास्त्रार्थ–विचार के लिए भी व्यवहृत होने लगी थी। यह पैंफलेट 1816 ई. में छपकर प्रकाशित हुआ था। इसलिए यह समझना ठीक नहीं है कि फोर्ट विलियम कॉलेज के अधिकारियों की प्रेरणा से ही आधुनिक हिंदी गद्य का निर्माण हुआ। डॉ. लक्ष्मीसागरजी वार्ष्णेय फोर्ट विलियम कॉलेज की कार्यवाहियों के विवरण के अध्ययन से इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि कॉलेज की नीति हिंदी के बहुत अनुकूल नहीं थी। सर गिलक्राइस्ट के बाद इस विभाग में प्राइस की नियुक्ति हुई थी। वे हिंदी के अधिक अनुकूल थे; पर उनके कार्यकाल में भी हिंदी गद्य के निर्माण में विशेष उन्नति नहीं हुई।"[23]

हजारीप्रसाद द्विवेदी फोर्ट विलियम कॉलेज के योगदान को नकारते हैं पर यह नहीं बताते कि हिंदी गद्य की वह कौन सी भीतरी प्राणशक्ति थी, जिसके बल पर वह आगे बढ़ रही थी। यह प्राणशक्ति आखिर 1800–1820 के आसपास ही क्यों जगी? द्विवेदी जी 'खड़ी–बोली' पर विचार करते हुए कहते हैं "कुछ विदेशी विद्वानों का ऐसा विश्वास था कि अंग्रेजों के आने के बाद उन्हीं की प्रेरणा से हिंदुओं ने इस भाषा में साहित्य लिखना शुरू किया, पर यह बात गलत है। अपभ्रंश के ग्रंथों में उत्तर–मध्यकाल के संतों की बानियों में और विनोदपूर्ण ढंग से लिखी गई संस्कृत कविताओं में इस भाषा के नमूने मिल जाया करते हैं। मुगल दरबार के समकालीन गंग कवि का लिखा बताया जाने वाला 'चंद–छंद–वरनन की महिमा' नाम की एक रचना प्राप्त हुई है। इसकी भाषा आधुनिक खड़ी बोली के आसपास है, इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में है।"[24]

हजारीप्रसाद द्विवेदी जी अपनी धारणा को पुष्ट करने वाले जो तथ्य देते हैं, वह पूर्णतः सत्य हैं, परंतु इस तथ्य की कई विसंगतियाँ भी है। द्विवेदी जी

ने अपभ्रंश के ग्रंथों और मुगलकालीन रचना 'चंद–छंद–वरनन की महिमा' का उल्लेख करते हुए माना है कि हिंदी गद्य का आरंभिक रूप वहाँ देखा जा सकता है। परंतु द्विवेदी जी इस तथ्य को नहीं देख पाए कि हिंदी गद्य के ये सारे उदाहरण अल्पकालीन है। गद्य के ये नमूने कभी प्रकट होते हैं, कभी छिप जाते हैं। इन सारी कड़ियों में निरंतरता नहीं है, जबकि फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के बाद हिंदी गद्य की अविच्छिन्न धारा चली। फोर्ट विलियम कॉलेज ने हिंदी गद्य के प्रसार को सांस्थानिक रूप दिया और गद्य पुस्तकों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इससे पहले होने वाले प्रयास चूँकि व्यक्तिगत थे, अतः उनकी सीमाऐं भी थी।

कॉलेज के साथ–साथ गद्य को विकसित करने में इसाई मिशनरियों की भूमिका भी काफी महत्वपूर्ण थी। इसाई मिशनरियों ने विभिन्न भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद करवाए। साथ ही "कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी (1817 ई.) और मिशनरियों द्वारा संचालित आगरा स्कूल बुक सोसायटी (1833 ई.) ने अंग्रेजी ग्रंथों का लोकभाषाओं में अनुवाद करके बड़ा ही स्तुत्य कार्य किया।"[25]

इस प्रकार धीरे–धीरे ही सही पर हिंदी गद्य का प्रसार हो रहा था। पर क्या इतना होना ही पर्याप्त था? पुस्तकें प्रकाशित हो रही थी, पर उसके पाठक कहाँ थे? पुस्तकों के प्रसार के लिए पाठक वर्ग का होना भी आवश्यक था। उस समय एक ओर जहाँ पाठक वर्ग सीमित था, वहीं दूसरी तरफ प्रकाशित होने वाली पुस्तकों की कीमत भी काफी अधिक हुआ करता था। गोपाल राय लिखते हैं "प्रेम सागर का मुद्दा भी पहले पाठ्य पुस्तक के रूप में ही हुआ था और उसकी कीमत तेरह रुपये रखी गई थी। 1850 ई. तक प्रेम सागर सामान्य जनता के बीच नहीं पहुँचा था।"[26] इसके अलावा 'बेताल पचीसी' और 'सिंहासन

बत्तीसी' का मूल्य क्रमश 13 रुपए और 16 रुपए था। क्या 1840–1850 के दौर में इतनी मूल्य की पुस्तकें आम पाठकों के लिए प्रकाशित हो रही थी? क्या तब का आम पाठक इतना सक्षम था कि पुस्तकों पर 13 और 16 रुपए खर्च कर सके? जवाब है नहीं। रजनी पाम दत्त के अनुसार "बिना खुराक के 1942 में एक मजदूर की रोजाना मजदूरी 1 आना थी।"[27] जाहिर है 1940 से सौ साल पहले 1840 में प्रकाशित होने वाली ये पुस्तकें आम पाठक को ध्यान में रख कर प्रकाशित नहीं की जा रही थी। फिर इनके प्रकाशन का क्या मतलब था? वस्तुतः 1840 से 1870 के बीच का वक़्त हिंदी में पाठक निर्माण का प्रक्रिया का वक़्त था। "सिंहासन बत्तीसी का मूल्य प्रति पुस्तक सोलह रुपये और बेताल पचीसी का मूल्य प्रति पुस्तक तेरह रुपये रखा गया था; ये पुस्तकें सरकार द्वारा खरीदी जाती थीं और हिंदी सीखने वाले सिविल सर्विस के कर्मचारियों को उपलब्ध करायी जाती थीं। यह स्थिति लगभग 1850 ई. तक बनी रही। सामान्य पाठकों को ध्यान में रखकर बेताल पचीसी का पहला मुद्रण सम्भवतः 1839 में हुआ था। सिंहासन बत्तीसी के विभिन्न संस्करणों के प्रकाशन काल से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसे 1840 ई. के बाद पाठकों में विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई। 1840–70 ई. की अवधि में सिंहासन बत्तीसी के कम से कम तेरह और 1870–1880 के बीच कम से कम चौदह संस्करण प्रकाशित हुए।"[28]

हिंदी गद्य का निर्माण कहीं न कहीं (Trickle down effect) 'ट्रिकल डाउन इफेक्ट' के अनुसार हो रहा था। जैसे धन का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है उसी तरह गद्य निर्माण भी पहले शीर्ष स्तर पर हुआ धीरे–धीरे वह सामान्य जन तक पहुँचा। 1840–1850 के भारत में सामान्य जन की आर्थिक स्थिति बहुत ही चिंताजनक थी।

किसी भी समाज या क्षेत्र में पाठक वर्ग का निर्माण एकाएक नहीं होता। पाठकों के निर्माण की प्रक्रिया का गहरा जुड़ाव वहाँ की आर्थिक स्थिति पर निर्भर होता है। जिस समाज के पाठक की क्रय शक्ति न्यून होगी, वहाँ स्वाभाविक तौर पर पुस्तकों का प्रकाशन भी कम होगा। "ईस्ट इंडिया कम्पनी और ब्रिटिश संसद ने सौ वर्षों के भीतर ही भारत को एक दरिद्र और साधनहीन देश के रूप में परिणत कर दिया था। मुगल शासन के अन्तिम दिनों में कारीगरों, छोटे व्यवसायियों और सरकारी कर्मचारियों के रूप में 'एक मध्य वर्ग विद्यमान था जिसे कम्पनी शासन ने नष्ट प्राय कर दिया।' कम्पनी शासन में उत्तर भारत में मध्य वर्ग नाममात्र को ही रह गया था। कारीगर और मध्यम स्तर के व्यवसायी बेरोजगार होकर कृषक बनने को विवश हो गये थे। कृषकों पर भी भूमिकर का इतना अधिक बोझ लाद दिया गया था कि वे निम्न वर्ग में आ गये थे। कम्पनी शासन देश की सम्पदा का शोषण इतने बड़े पैमाने पर कर रहा था कि लगभग सत्तर वर्षों के भीतर (1800–1869) दस भयानक अकाल पड़े जिसमें लाखों आदमी भूख से मर गए। एक सर्वेक्षण के अनुसार 1807 ई. में पटना और बिहार जिले में एक हलवाहे की वार्षिक मजदूरी 16 रु. से लेकर 22 रु. तक थी।"[29]

ऐसी विषम आर्थिक परिस्थिति में पाठक वर्ग का निर्माण करना असंभव था। इस दौरान हिंदी में जो भी समाचारपत्र प्रकाशित हुए वे साल दो साल से ज्यादा नहीं चल पाए। सन् 1826 ई. में युगलकिशोर शुक्ल ने कलकत्ता से हिंदी का पहला साप्ताहिक समाचार पत्र प्रकाशित करना शुरू किया। नाम था 'उदन्त मार्तण्ड'। यह बमुश्किल डेढ़ वर्ष चल पाया। अल्प अवधि में ही 'मार्तण्ड' अंधकार में खो गया। "उदन्त मार्तण्ड के बाद 'बंगदूत' (1829) प्रकाशित होना शुरू हुआ पर उसकी भी 11–12 संख्याएँ ही प्रकाशित हो

पायीं। इसके बाद 1845 ई. तक हिंदी में कोई समाचारपत्र प्रकाशित नहीं हुआ। 1845 ई. में शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' के संरक्षण में 'बनारस अखबार' 1846 में कलकत्ता से 'मार्तण्ड या इंडियन सन' और 'ज्ञानदीप' 1848 में इन्दौर से 'मालवा अखबार', 1849 में कलकत्ता से 'जगद्दीपक भास्कर' आदि हिंदी समाचारपत्र स्वतंत्र रूप से अथवा अन्य कई भाषाओं के साथ प्रकाशित हुए, पर इनमें से कोई भी अधिक दिनों तक नहीं चल सका। इनकी तुलना में उर्दू पत्रों की स्थिति बेहतर थी जिससे यह अनुमान करना निराधार न होगा कि उर्दू पाठक वर्ग, जिसमें हिन्दू–मुसलमान दोनों शामिल थे, हिंदी की तुलना में बड़ा था।"[30]

सन् 1850 के बाद हिंदी पत्रों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। सन् 1854 ई. में हिंदी का पहला दैनिक पत्र 'समाचार सुधावर्षण' का प्रकाशन हुआ। इसके संपादक थे श्यामसुंदर सेन। सन् 1854 ई. हिंदी समाचार पत्रों के लिहाज से बहुत ही महत्वपूर्ण वर्ष है। यही वह साल है जब हिंदी में रोज प्रकाशित होने वाला समाचारपत्र अस्तित्व में आया। इससे यह भी ज्ञात होता है कि सन् 1854 ई. से पहले हिंदी में ऐसा पाठक वर्ग मौजूद नहीं था, जो अपनी रोज की जिंदगी में समाचार पत्र की जरूरत महसूस करे। परंतु 1854 के बाद एक (छोटा ही सही) ऐसा मध्यवर्ग अस्तित्व में आ रहा था, जिसकी रुचि हिंदी गद्य और हिंदी समाचार पत्र में थी। इस संदर्भ में भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा प्रकाशित 'कविवचनसुधा' (1867) का विशेष महत्व है। इसके बारे में अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने लिखा है कि "यद्यपि हिंदी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे तो भी हरिश्चंद्र के ललित लेखों ने लोगों के जी में ऐसी जगह कर ली थी कि कविवचन सुधा के हर नम्बर के लिए लोगों को टकटकी लगाए रहना पड़ता था।" इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि हिन्दी के पाठकों की संख्या में थोड़ी बहुत वृद्धि हो रही थी।"[31]

हिंदी गद्य के निर्माण और उपन्यास के उदय में फोर्ट विलियम कॉलेज और ईसाई मिशनरियों का योगदान तो था ही, परंतु अंग्रेजों की शिक्षा नीति तथा भारत में मुद्रण कला विकास भी इसके सहायक तत्व थे।

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम कुछ वर्षों के दौरान अंग्रेजों ने भारत की शिक्षा नीति में बदलाव किया। तत्कालीन भारत में पारंपरिक शिक्षा पद्धति का प्रचलन था। जिसमें एक और गुरुकुल थे, दूसरी ओर मदरसे। भारत में अपने पैर जमाने के बाद अंग्रेजों ने (कम्पनी शासन) भारत की शिक्षा पद्धति पर विचार करना शुरू किया। "21 फरवरी 1784 को लिखे एक पत्र में वॉरेन हेस्टिंग्ज ने कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया कि उत्तर और दक्षिण के सभी प्रमुख नगरों में विद्यालय, धन, जन और भवन सभी प्रकार के अभाव से क्षीण अवस्था में है।"[32] वॉरेन हेस्टिंग्स ने 1781 में कलकत्ता मदरसा स्थापित किया, जहाँ फारसी और अरबी की शिक्षा दी जाती थी। दस सालों बाद 1791 में बनारस में ब्रिटिश रेजीडेंट डंकन के प्रयास से एक संस्कृत कॉलेज की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य था "हिंदुओं के धर्म, साहित्य और कानून का अध्ययन तथा प्रसार करना।"[33] इसी कड़ी में सन् 1800 में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई, जिसकी चर्चा पहले के पृष्ठों में की जा चुकी है।

हालांकि आगे चलकर यह वाद–विवाद का विषय बन गया कि भारत में शिक्षा का स्वरूप कैसा हों? तथा शिक्षा का माध्यम क्या हो? इस विवाद को सामान्यतः आंग्ल–प्राच्य विवाद (Orientlist Anglicist Controversy) के नाम से जाना जाता है।

काफी वाद–विवाद के पश्चात् आंग्ल विचार के समर्थक लार्ड मैकाले ने

2 फरवरी 1835 को अपना प्रसिद्ध लेख (मिनट) पेश किया। जिसमें उसने अंग्रेजी ढंग की शिक्षा पद्धति को लागू करने की वकालत की और शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा को स्वीकार किया। सरकार ने लॉर्ड मैकाले की शिक्षा नीति को स्वीकार कर लिया। मैकाले की शिक्षा नीति मूलतः ब्रिटिश उपनिवेशवाद के हितों की पूर्ति करने वाला था। इस शिक्षा नीति का उद्‌देश्य ही था एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना जो "रक्त और रंग से भारतीय, पर रुचि मत रीति–नीति और दिमाग से अंग्रेज हो।"[34] इस शिक्षा के जरिए अंग्रेज एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना चाहते थे जो एक ओर प्रशासनिक कार्यों में उनकी मदद करे और दूसरी ओर विचार और व्यवहार में उनका विरोधी भी न हो। भारतीय शिक्षा के विकास में 1854 का चार्ल्सवुड डिस्पैच भी महत्वपूर्ण है। इसी डिस्पैच की सिफारिशों के अनुसार सन् 1855 में लोक शिक्षा विभाग की स्थापना हुई तथा मद्रास, बंबई और कलकत्ता में विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। '1854 में भारत में लगभग 180 शिक्षण संस्थाएँ चल रही थीं, जिनमें 30,000 छात्र थे।'[35]

हिंदी गद्य और शिक्षा के विकास में तत्कालीन ईसाई मिशनरियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "हिंदी भाषा को आधुनिक रूप देने में ईसाई मिशनरियों का महत्वपूर्ण हाथ है। सन् 1799 ई. में कलकत्ते के निकटस्थ श्रीरामपुर में विलियम कैरे, मार्शमैन और वार्ड ने डेनिश मिशन की स्थापना की थी और उसी समय से ईसाई धर्म–पुस्तकों का अनुवाद भिन्न–भिन्न भारतीय भाषाओं में होने लगा। बाइबिल का प्रथम अनुवाद कैरे का किया ही कहा जाता है।... सन् 1832 ई. तक श्रीरामपुर की मिशनरियों ने इस देश की चालीस भाषाओं में अपने धर्म–ग्रंथ प्रकाशित किए। इन भाषाओं में बघेली, छत्तीसगढ़ी, कन्नौजी, भोजपुरी– जैसी उपभाषाएँ भी थीं।"[36] मार्शमैन

की पत्नी हाना मार्शमैन ने श्रीरामपुर में लड़कियों का पहला विद्यालय स्थापित किया। मिशनरी सोसाइटी की सहायता से हिंदुस्तान में अलग–अलग स्थानों पर कॉलेज की स्थापना हुई। महत्वपूर्ण तथ्य है कि 'मिशनरियों ने स्त्री शिक्षा पर अत्यधिक ध्यान दिया और यहाँ तक कि कॉलेजों में स्त्रियों के रहने के लिए हॉस्टल का भी निर्माण करवाया।'[37] मिशनरियों द्वारा दी जा रही शिक्षा ऊपर से भले ही परोपकारमूलक लगे पर उसका मूल उद्देश्य दूसरा था। उनका मानना था कि "हर एक शिक्षक, चाहे वह हिंदू या मुसलमान या ईसाई हो जब विज्ञान या गणित जैसा भी विषय पढ़ा रहा है तो भी वह एक लोहे की छड़ी से हिंदू धर्म के मिट्टी के बर्तन को चकनाचूर कर रहा है।"[38]

इन सारे कारणों से हिंदुस्तान में एक नई शिक्षा प्रणाली का विकास हुआ, जो पारंपरिक शिक्षा प्रणाली और गुरुकुल तथा मदरसे की शिक्षा प्रणाली से सर्वथा भिन्न थी। इस नई शिक्षा प्रणाली ने भारतीयों को ज्ञान–विज्ञान के नए क्षेत्रों से परिचित करवा दिया। आगे चलकर पश्चिमी शिक्षा की वजह से समता, स्वतंत्रता और लोकतंत्र जैसे विचारों से भारतीयों का साक्षात्कार हुआ। यह अकारण नहीं है कि इसी पढ़े–लिखे वर्ग ने भारत में नवजागरण और राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व किया हालांकि इस वर्ग का मुख्य संपर्क अंग्रेजी भाषा से था, जिस कारण अनायास ही देशी भाषाओं की अवहेलना हुई। ऐसे में इस वर्ग का परिचय अंग्रेजी के उपन्यासों से होना स्वाभाविक था। अपनी पुस्तक 'दि नॉवेल इन इंडिया' में टी.डब्ल्यू. क्लार्क लिखते हैं "Meanwhile, proficiency in the English language was extending and deepening, especially among the emergent middle classes in the cities of Calcutta, Bombay and Madras, and with command of the language came a varacious interest in English literature. Shakespeare, Defoe, Johnson,

Lamb, Scott and Lytton became very popular as did Burton's version of the frabian nights, curiously, the works of G.W.M. Reynolds, a writer of melodramatic novels, who though famous for a time in some parts of India, is virtually unknown in England."

अर्थात् (कलकत्ता, बंबई और मद्रास जैसे शहरों में, विशेष रूप से उभरते मध्यवर्ग में अंग्रेजी की निपुणता बढ़ रही थी और गहरी हो रही थी। तथा भाषा में दक्षता की वजह से अंग्रेजी साहित्य के प्रति ज्ञानपिपासा बढ़ती जा रही थी। शेक्सपीयर, डेफो, जॉनसन, लैंब, स्कॉट और लिटन अत्यंत ही प्रसिद्ध हो चुके थे। साथ ही बर्टन द्वारा प्रस्तुत अरेबियन नाइट्स भी तथा रोचक रूप से जी. डब्ल्यू.एम. रेनॉल्ड्स की रचनाएँ भी थी जो कि सनसनीखेज उपन्यासों के लेखक थे यद्यपि वे एक समय भारत के कुछ भागों में प्रसिद्ध थे परंतु इंग्लैंड में उन्हें कम लोग ही जानते थे।)"[39]

डेफो, जॉनसन और रेनाल्ड्स की रचनाओं को पढ़ने वाले इस वर्ग ने कई अंग्रेजी उपन्यासों का अनुवाद भी किया। इस वर्ग ने कुछ तो अंग्रेजी उपन्यासों का प्रभाव लिया कुछ पारंपरिक भारतीय कथा पद्धति का सहारा लिया और एक ऐसा साँचा निर्मित किया, जिससे उपन्यास निकलकर आया। भारत के प्रथम उपन्यास कहे जाने वाले 'यमुना पर्यटनम्' (बाबा पदमनजी कृत 1857) पर जान बनयन कृत 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (Pilgrims's progress) का प्रभाव है। इसी तरह हना कैथरीन मुलेन्स द्वारा बांग्ला भाषा में रचित 'फूलमोनी ओ करुनार बिबरन' (1852) पर भी ईसाई मिशनरियों का प्रभाव देखा जा सकता है। इन तथ्यों पर विचार करते हुए मीनाक्षी मुखर्जी लिखती हैं– "इस प्रकार की रचनाओं से यह पता चलता है कि भारत में उपन्यास के उदय में ईसाईत की भी भूमिका रही है।"[40] हालांकि उन्होंने अपने इस मत पर विस्तृत शोध की बात भी कही है।

जिस तरह यूरोप में उपन्यास के उदय में छापेखाने का महत्व था, उसी प्रकार भारतीय संदर्भों में भी छापेखाने ने गद्य और उपन्यास को गति दी। उपन्यास का उदय तभी संभव है जब मध्यवर्ग के साथ–साथ मुद्रण तकनीक का भी विकास हो। भारत में छापेखाने खोलने का श्रेय पुर्तगालियों को हैं। पुर्तगालियों ने 1550 में बाहर से दो छापेखाने मंगवाये थे। आगे चलकर सत्रहवीं सदी में भीमजी पारिख ने बंबई में एक छापाखाना मंगाया। हिंदुस्तान में प्रिटिंग संस्कृति के विकास में श्रीरामपुर मिशन प्रेस (1800) की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यहाँ से न सिर्फ बाइबिल के विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद छपे अपितु यहीं से फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यापकों द्वारा तैयार की गई पाठ्यपुस्तकें भी छपीं। शिशिर कुमार दास ने इसकी महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकारा है "इसे व्यापक मुद्रण कार्यक्रमों में लगभग भारत की सभी भाषाएँ सम्मिलित थीं तथा यह वाचिक और वाक़यानवीसी (Scribal) की परंपरा के अवसान के लिए ज़िम्मेदार थे।"[41]

भारत में प्रिटिंग प्रेस की स्थापना के कई दूरगामी परिणाम हुए। इससे पहले ज्ञान–विज्ञान और साहित्य चंद लोगों तक सीमित थे। साहित्यिक कृतियाँ पाण्डुलिपियों में कैद थी और आमजन के लिए लगभग अप्राप्य थी। मुद्रण संस्कृति ने पाण्डुलिपियों को पुस्तक में तब्दील कर दिया जिससे आम जन तक साहित्य की पहुँच सुलभ हुई। हालांकि यह भी एक तथ्य है कि आरंभिक मुद्रित पुस्तकों का मूल्य बहुत ज्यादा था, परंतु धीरे–धीरे इन पुस्तकों के सर्वसुलभ संस्करण भी प्रकाशित हुए।

मुद्रण संस्कृति के प्रसार से साहित्यिक जगत में काफी बदलाव हुए। कुछ बदलाव तो इतने सूक्ष्म थे कि उन्हें पहचानना भी कठिन था। बच्चन सिंह

अपनी पुस्तक आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास में लिखते हैं "मुद्रण के कारण साहित्यकार और सामाजिक का सीधा संबंध नहीं रह गया। अब मुद्रण के माध्यम से ही वे एक–दूसरे से सम्बद्ध हो पाते थे। इस माध्यम ने साहित्यकार को अवसर दिया कि वह बहुत कुछ व्यक्तिगत भी अभिव्यक्त कर सकता था। पाठकों की स्थिति भी बदली। वह मुद्रित साहित्य को एक सीमा तक वैयक्तिक स्तर पर ग्रहण करने के लिए स्वतंत्र था।"[42] उपन्यास के लिए वैयक्तिकता एक आवश्यक और सकारात्मक तत्व है, जबकि महाकाव्य के लिए शास्त्रीयता और विराट फलक। वैयक्तिकता के इस उभार ने उपन्यासकार और पाठक के बीच एक अनकहा रिश्ता कायम किया। मुद्रण कला से पहले चूँकि वाचिक शैली में कथा कहने की परंपरा थी अतः उस शैली में व्यक्तिगत बातों का बयान नहीं किया जा सकता था। मुद्रण कला ने रचनाकार और पाठकों को व्यक्तिगत स्पेस दिया, जहाँ वे व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति कर सकते थे उसे पढ़ सकते थे।

मुद्रण कला के कारण उपन्यासों की संख्या में इजाफा तो हुआ ही, उनके लिए बाजार का भी निर्माण हुआ। के.एन. पणिक्कर का मानना है "एक सांस्कृतिक कारक के रूप में लिखित शब्द का महत्व और प्रभाव उन्नीसवीं सदी के दौरान बढ़ता ही चला गया। जिस संदर्भ में यह परिघटना हुई थी, वह था छपाई प्रौद्योगिकी की सुलभता और उसके फलस्वरूप 'देशी भाषाओं' के साहित्य का खरीद–बिक्री के माल के रूप में सामने आना।"[43]

संदर्भ

1 हजारीप्रसाद द्विवेदी : उपन्यास और कहानी, पक्षधर, वर्ष 10, अंक 19, जुलाई–दिसंबर 2015, पृ. 97

2 नलिन त्रिलोचन शर्मा : संकलित निबंध, संपादक : गोपेश्वर सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट, पहला संस्करण 2010, पृ. 143

3 उपरोक्त, पृ. 143

4 उपरोक्त, पृ. 143

5 हजारीप्रसाद द्विवेदी : कथा आख्यायिका और उपन्यास, पक्षधर, वही, पृ. 69

6 प्रतापनारायण टंडन : हिंदी उपन्यास कला, हिंदी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1965, पृ. 9

7 आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2058, पृ. 249

8 उपरोक्त, पृ. 259

9 लाला श्रीनिवासदास : परीक्षागुरु, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 5

10 उपरोक्त, पृ. 6

11 मीनाक्षी मुखर्जी : रियलिज्म एण्ड रियलिटी, द नॉवेल एण्ड सोसायटी इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 2005, पृ. 3

12 डॉ. के.एम. जॉर्ज (संपादक) : कंपरेटिव इंडियन लिटरेचर, Vol.-I, केरल साहित्य अकादमी, त्रिचूर एण्ड मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, 1984, पृ. 597

13 उपरोक्त, पृ. 597

14 नामवर सिंह : अंग्रेजी ढंग का नावेल और साहित्य उपन्यास, प्रेमचंद और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, दूसरी आवृत्ति 2011, पृ. 46–47

15 उपरोक्त, पृ. 46

16 वैभव सिंह : परीक्षागुरु के बहाने राष्ट्रविमर्श, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, आधार प्रकाशन, पंचकूला, द्वितीय संस्करण 2013, पृ. 40, 43

17 शिवदान सिंह चौहान : आलोचना के मान, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ. 123–24

18 रामचंद्र तिवारी : हिंदी का गद्य–साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2009, पृ. 19

19 उपरोक्त, पृ. 18

20 मीनाक्षी मुखर्जी : रियलिज्म एण्ड रियलिटी : द नॉवेल एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 2005, पृ. 21

21 रामचंद्र तिवारी : हिंदी का गद्य–साहित्य, पूर्वोक्त, पृ. 21

22 हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, आठवीं आवृत्ति 2007, पृ. 198

23 उपरोक्त, पृ. 198

24 उपरोक्त, पृ. 197

25 रामचंद्र तिवारी : हिंदी गद्य का इतिहास, पृ. 18

26 गोपाल राय : हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति 2009, पृ. 20

27 रजनीपाम दत्त : आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2004, पृ. 231

28 गोपाल राय : हिंदी उपन्यास का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ. 20

29 उपरोक्त, पृ. 18–19

30 उपरोक्त, पृ. 19

31 उपरोक्त, पृ. 19

32 बी.एल. ग्रोवर एवम् यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास एक नवीन मूल्यांकन (1707 ई. से वर्तमान समय तक), एस. चंद एंड कंपनी लिमिटेड, नई दिल्ली, 2001, पृ. 254

33 उपरोक्त, पृ. 254

34 ताराचंद : भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, दूसरा खण्ड, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, दिसंबर 1969, पृ. 174

35 उपरोक्त, पृ. 183

36 हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास, पूर्वोक्त, पृ. 200–201

37 शिशिर कुमार दास : ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर 1800–1910 वेस्टर्न इम्पेक्ट, इंडियन रेस्पांस, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2008, पृ. 110–111

38 ताराचंद : भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ. 168

39 टी.डब्ल्यू. क्लार्क (संपादक) : दि नॉवेल इन इंडिया इट्स बर्थ एंड डेवलपमेंट जार्ज एलन एंड अनविन लिमिटेड, लंदन प्रथम संस्करण 1970, पृ. 11

40 मीनाक्षी मुखर्जी : रियलिज्म एण्ड रियलिटी पूर्वोक्त, पृ, 21

41 शिशिर कुमार दास : ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, पूर्वोक्त, पृ. 33

42 बच्चन सिंह : आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 26

43 के.एन. पणिक्कर : औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष, आदित्य नारायण सिंह (अनु.), ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 135

2.2 उर्दू में गद्य और उपन्यास का उदय

"आज के आम हिंदी बोलने वाले के लिए यह विचार अब विश्वास में बदल चुका है कि जिस भाषा को वह 'हिन्दी' के नाम से जानता है, वह प्राचीन समय से मौजूद है और इसके साहित्य का श्रीगणेश (अगर और पहले नहीं भी तो) कम–से–कम खुसरो (1253–1325) से होता है।... पुराने ज़माने में 'उर्दू' नाम की कोई भाषा नहीं थी। जो लोग 'प्राचीन उर्दू' पद का इस्तेमाल करते हैं, वे भाषा–विज्ञान और इतिहास की दृष्टि से ग़लत शब्द बरतते हैं। हम लोग इस बात को अक्सर भूल जाते हैं कि जिस भाषा को आज हम 'उर्दू' कहते हैं, पुराने ज़माने में उसी भाषा को 'हिन्दवी', 'हिन्दी', 'देहलवी', 'गुजरी', 'दकनी' और फिर 'रेख़्ता' कहा गया है। ये नाम लगभग उसी क्रम से प्रयोग में आए, जिस क्रम में मैंने इन्हें दर्ज किया है।"[1]

– शम्सुर्रहमान फ़ारुकी

हिंदी और उर्दू का संबंध 'तुम्हीं से मुहब्बत, तुम्हीं से लड़ाई' वाला रहा है। कभी–कभी दोनों में गहरी छनती है, कभी विवाद हो जाता है। कभी उर्दू को हिंदी गद्य में 'रौनक' लाने वाला कहा जाता है। कभी उर्दू को हिंदी विरोधी मान लिया जाता है। कभी हिंदी को हिंदुओं की भाषा और उर्दू को मुसलमानों की भाषा बताकर एक विभाजक रेखा खींच दी जाती है। कभी बताया जाता है कि प्रेमचंद का गद्य उर्दू के प्रभाव के कारण ही बेजोड़ है। कुछ आलोचक उर्दू के अस्तित्व से ही इंकार करते हैं। कुछ उसे हिंदी का ही एक अंग बताते हैं। वहीं उर्दू के समर्थक हिंदी को उर्दू के मुकाबले कमतर और बेजान समझते हैं। एक मामला रेख़्ता, उर्दू और हिंदी और हिंदुस्तानी का भी है। हम हौले–हौले इन सारे प्रश्नों पर विचार करेंगे। साथ ही उर्दू गद्य के विकास और उपन्यास के उदय पर भी चर्चा करेंगे।

हिंदी–उर्दू के झगड़े का मूल मसला नाम–भेद से भी जुड़ा हुआ है। उर्दू के कई विद्वानों का मानना है कि 'हिंदी भाषा एक नया और कल्पित नाम है, हिन्दुओं ने उर्दू को नीचा दिखाने के लिए यह पद गढ़ लिया है।' उनका मानना है कि हिंदी कोई भाषा है ही नहीं, उर्दू ही इस देश की पुरानी और असली जुबान है। ठीक यही रवैया बहुत से हिंदी प्रेमी भी उर्दू के प्रति रखते

हैं। अगर इस नाम–भेद के विवाद पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए, तो कुछ दूसरी ही चीजें सामने आती हैं। वस्तुतः 'हिंदी' उर्दू की अपेक्षा बहुत ही प्राचीन नाम हैं। वस्तुतः जिसे आज हम 'उर्दू' कहते हैं, उस 'उर्दू' के ही पुराने शायरों और रचनाकारों ने 'हिंदी' शब्द का प्रयोग किया है। उनके काव्य, ग़ज़ल और रचनाओं में 'उर्दू' का कहीं नाम भी नहीं आया है। वस्तुतः हम जिस काल की बात कर रहे हैं तब 'उर्दू' शब्द भाषा के लिए निर्मित भी नहीं हुआ था। ऐसे में उसके प्रयोग होने का कोई सवाल ही नहीं उठता। कई विद्वानों ने 'उर्दू' शब्द या पद का प्रयोग शाहजहाँ के समय से माना है। कहा जाता है कि शाहजहाँ के शासन–काल में दिल्ली स्थित उर्दू–बाजार से ही उर्दू भाषा का जन्म हुआ। परंतु इस मत की पुष्टि के लिए ना तो साहित्यिक साक्ष्य है ना ही ऐतिहासिक प्रमाण।

उत्तर भारत में भाषा के लिए जितने भी नाम या पद प्रचलित हैं, 'हिंदी' उन सबों में पुरानी है। 'हिंदी' पद का सृजन न तो 'हिंदु' रचनाकारों ने किया, न ही उन्होंने इसका प्रचार किया। आरंभिक हिंदी रचनाकारों ने 'हिंदी' के बजाए सर्वत्र 'भाखा' या 'भाषा' शब्द का ही प्रयोग किया है। तुलसीदास का पद है 'भाषा भणति थोर मति मोरी', कबीरदास कहते हैं 'संसकीरत है कूप–जल भाखा बहता नीर।' गौरतलब है कि तुलसी और कबीर ने 'भाखा' पद का प्रयोग किया है, हिंदी का नहीं। जबकि अमीर खुसरो (1253–1325) की रचना 'खालिकबारी' में 'हिन्दवी' और 'हिंदी' के उदाहरण मिलते हैं–

"विश्नों तो नाम चरख़ा बेचारा पीरजन,
गोयन्द नाम रहटा दर हिन्दवी बचन।
मुश्क काफ़ूरस्त कस्तूरी कपूर,
हिन्दवी आनन्द शादी ओ सरूर
संग पाभर जानिए धरकन उठाय,

अस्य मीराँ हिन्दवी घोड़ा चलाव।
आईना आरसी कि दरो रूए बिनगदी,
सेवा ब हिन्दूवी कि सुनए नाम चाकरी
देहीम ताजो–अफ़सर दर हिन्दवी मुकट,
ज़ागे बुरीदा पर–रा तू जान काग कट।
तप लर्ज़ा दर हिन्दवी आमद जूड़ी ताप,
दर्दे–सर आमद सिर की पीड़ा तग है धाप।
ज़म्ब गुनह जो कहिए दोष, ख़शमों–ग़ज़ब दर हिन्दवी रोष।"[2]

इसी तरह 'हिंदी' के प्रयोग का उदाहरण भी देखा जा सकता है–

"निहार–ओ–दिगर योम रोज़स्त जानो,
बहिन्दी ज़बाँ द्यौस दिनरा पहचानो।
शाना–ओ–मश्तस्त दर हिन्दी ज़बाँ
कंघी आमद पेश तो करदम बयाँ।"[3]

पद्मसिंह शर्मा ने अपनी पुस्तक 'हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी' में 'हिंदी' और 'उर्दू' के प्रयोग पर काफी गंभीरतापूर्वक विचार किया है। उनका मानना है "भाषा के लिए हिंदी शब्द के सर्वप्रथम नामकरण का सारा श्रेय मुसलमान लेखकों और कवियों ही को दिया जा सकता है। हिन्दुओं का इसमें ज़रा हाथ नहीं। इस बात को सभी आधुनिक उर्दू इतिहास लेखकों ने स्वीकार कर लिया है– 'उर्दू–ए–क़दीम', 'तारीख़े–नस्त्र–उर्दू', 'पंजाब में उर्दू' इत्यादि ग्रन्थों के विद्वान् लेखकों ने बड़ी खोज के साथ यह साबित कर दिया है कि उर्दू का सब से पुराना नाम 'हिन्दी' ही है। अमीर खुसरो की 'ख़ालिक़–बारी' में (जो उर्दू–हिंदी का सब से पुराना कोश है) सब जगह 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' ही आया है। उसमें उर्दू, रेख़्ता या और किसी दूसरे नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है। 'ख़ालिकबारी' में बारह बार 'हिंदी' और पचपन बार 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'हिन्दी' का अर्थ है हिन्दी की भाषा और 'हिन्दवी' से मतलब है हिन्दुओं या हिन्दुस्तानियों की भाषा।... अमीर खुसरो के इस 'हिन्दवी' शब्द से

यहाँ किसी को यह भ्रान्ति न होनी चाहिए कि जातिविशेष या केवल हिन्दुओं ही की भाषा से उनका अभिप्राय है। कविवर 'सौदा' के उस्ताद 'शाहहातम' ने भी सन् 1750 ई. में 'हिन्दवी' या 'हिंदी' भाषा शब्द, हिन्दुस्तान की भाषा के अर्थ में, इस्तेमाल किया है।"[4]

उर्दू के मशहूर शायर सौदा ने हिंदी में भी कविता लिखी है। अमीर खुसरो की तरह इनकी पहेलियों की भाषा शुद्ध हिंदी है। 'मर्सिया' जो कि 'उर्दू' की ख़ास शैली है, उसमें भी 'सौदा' ने हिंदी दोहों का प्रयोग किया है। एक नमूना–

कारी रैन डरावनी घर तें होइ निरास
जंगल में जा सो रहे कोऊ आस न पास।।
बैरी पहुँचे आइकै तेरी देहली पास।
बेग ख़बर तो या नबी! अब पत की नहिं आस।।

सौदा की कुछ ग़ज़लों में हिंदी का इस तरह प्रयोग हुआ है कि उन्हें हिंदी ग़ज़ल भी कहा जा सकता है–

अगन ने तेरे बिरह की जब से झुलस दिया है कलेजा मेरा,
हिये की धड़कन मैं क्या बताऊँ य कोयला–सा चटक रहा है।
जिन्हों की छाती से पार बर्छी हुई है रन में वो सूरमा हैं,
बड़ा वो सावन्त मन में जिसके बिरह का काँदा खटक रहा है।"[5]

हम आरंभ में स्पष्ट कर चुके हैं कि उर्दू के पुराने शायरों/कवियों ने अपनी रचनाओं में खुले दिल से हिंदी का प्रयोग किया है। उन्होंने हिंदी शब्दों से परहेज नहीं किया। हिंदी शब्दों को उन्होंने उर्दू से अलग टकसाल का नहीं समझा। 'सौदा', 'वली' और 'मीर' की रचनाएँ इसका प्रमाण है। उर्दू में हिंदी का रंग आरंभ से ही मौजूद रहा है। इस मौजूदगी से उर्दू का कुछ भी अहित नहीं हुआ, बल्कि उर्दू की रंगत में इजाफा ही हुआ है।

उर्दू पर बात करते हुए इस बात का भी ख़्याल करना चाहिए कि उर्दू भाषा अस्तित्व में कब और कैसे आई। 'मीर अम्मन' ने 'बाग़ो–बहार' (सन् 1801) की भूमिका में 'उर्दू' की उत्पत्ति पर विस्तार से बात की है। वे लिखते हैं– "हक़ीकत उर्दू की जुबान के बुजुर्गों के मुँह से यूँ सुनी है कि दिल्ली शहर हिन्दुओं के नज़दीक मौजुगी है। इन्हीं के राजा–परजा क़दीम से वहाँ रहते थे। और अपनी भाका (भाषा) बोलते थे। हज़ार बरस से मुसलमानों का अमल हुआ। सुल्तान महमूद–ए–गजनवी आया। फिर ग़ोरी और लोदी बादशाह हुए। इस आमद–ओ–रफ़्त के बायस कुछ जुबानों ने हिन्दू–मुसलमान की आमेजिश पायी। आखिर अमीर तैमूर ने (जिनके घराने में अब तलक नाम–निहाद का सल्तनत का चला जाता है) हिन्दोतान को लिया। उनके आने और रहने से लश्कर का बाजार शहर में दाख़िल हुआ। इस वास्ते शहर का बाज़ार उर्दू कहलाया। फिर हुमायूँ बादशाह पठानों के हाथ से हैरान होकर चले गये। आख़िर वहाँ से आनकर पसमानों को गेशमाली दी। कोई मुफ़स्सिद बाक़ी न रहा, कि फ़ितना व फ़साद बरपा करे।"[6]

(कदीम=प्राचीन काल) (नाम–निहाद=सिर्फ नाम का) (पसमानों=पीछे रहने वालों, वारिसों) (गेशमाली=चेतावनी) (मुफ़स्सिद=फसादी)

मीर अम्मन का मानना है कि तैमूर और हुमायूँ के शासन के दौरान ही शहर का बाजार उर्दू कहलाया। हालांकि यह अभी सिर्फ उर्दू नाम का ईजाद ही हुआ था। उर्दू मुक्कमल रूप से इस्तेमाल नहीं हो रही थी। 'मीर अम्मन' आगे लिखते हैं–

"जब अकबर बादशाह तख़्त पर बैठे तब चारों तरफ से मुल्कों से सब क़ौम कद्रदानों और फ़ैज़–रसानी इस ख़ानदाने–लासानी की सुनकर हुजूर में

आकर जमा हुए। लेकिन हर एक की गोयाई और बोली जुदी जुदी थी। लेकिन इकट्ठे होने से आपस में लेन–देन सौदा–सुलफ सवाल–जवाब करते एक जुबान उर्दू की मुक़र्रर हुई।"[7]

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'मीर अम्मन' उर्दू की उत्पत्ति बादशाह अकबर के समय मानते हैं। 'मीर अम्मन' ने उर्दू की उत्पत्ति का काफी श्रेय 'शाहजहाँ' और दिल्ली में शाहजहाँ के बाजार 'उर्दू–ए–मुअल्ला' को भी दिया है। सर सैय्यद अहमद खाँ ने अपनी पुस्तक 'आसारुस्सनादीद' (सन् 1854) में ऐसा ही मत प्रकट किया है। वे लिखते हैं– "जब कि शाहजहाँ बादशाह ने सन् 1648 ई. में शहर शाहजहानाबाद आबाद किया और हर मुल्क के लोगों का मजमा हुआ, इस ज़माने में फारसी ज़बान और हिन्दी भाषा बहुत मिल गई और बाज़े फ़ारसी लफ़्जों और अक्सर भाषा के लफ़्जों में बसबब कसरत इस्तेमाल (बहु–व्यवहार के कारण) के तग़्य्युर व तब्दील हो गई। ग़रज की लश्कर बादशाही और उर्दू–ए–मुअल्ला (लालकिला) में इन दोनों ज़बान को तरकीब (मिश्रण) से नई जबान पैदा हो गई और इसी सबब से ज़बान का उर्दू नाम हुआ। फिर कसरते–इस्तेमाल से लफ़्ज ज़बान का महजूफ (विलोप) होकर इस ज़बान को उर्दू कहने लगे।"[8]

'मीर अम्मन' और 'सर सैय्यद अहमद खाँ' के मतों का परीक्षण करने पर कुछ वाजिब सवाल उठते हैं। यदि अकबर या शाहजहाँ के समय में दिल्ली की भाषा का नाम 'उर्दू' पड़ चुका था तो बाद के शायरों, रचनाकारों की रचनाओं में इस नाम (उर्दू) का उल्लेख क्यों नहीं मिलता? कोई तो रचनाकार अपनी रचना में 'उर्दू' पद का प्रयोग करता। पर जैसा कि हम आरंभ में स्पष्ट कर चुके हैं, उस दौर के सभी रचनाकारों ने सर्वत्र हिंदी और कहीं–कहीं रेख्ता का ही प्रयोग किया है, उर्दू का नहीं।

इसी संदर्भ में यह जानना महत्वपूर्ण है कि "नब्बाब शुजाउद्दौला और आसुफुद्दौला के शासन–काल (सन् 1797 ई.) में सय्यद अताहुसैन 'तहसीन' ने 'चहार–दरवेश' का तर्जुमा 'नौतर्ज़गुरस्सा' के नाम से किया था। उसमें उन्होंने अपनी ज़बान के लिए रेख्ता, हिन्दी और ज़बान उर्दू–ए–मुअल्ला– इन तीन नाम का प्रयोग एक ही प्रसंग और एक ही पृष्ठ में साथ–साथ किया है; केवल उर्दू शब्द उनकी किताब में कहीं नहीं पाया जाता। यदि 'उर्दू' शब्द उस युग में व्यापक और रूढ़ हो या होता तो 'तहसीन' साहब उन तीन शब्दों के झमेले में न पड़कर केवल 'उर्दू' शब्द से काम चला लेते। इससे मालूम होता है कि उर्दू शब्द का प्रयोग इस काल में भी अच्छी तरह से प्रचलित नहीं हुआ था। अलबत्ता इस समय को उर्दू शब्द के प्रचार का आरम्भ काल कहा जा सकता है।"[9]

मैंने ऊपर सय्यद अताहुसैन तहसीन द्वारा रेख्ता, हिंदी और ज़बान उर्दू–ए–मुअल्ला इन तीन पदों का उल्लेख किया है। 'मीन अम्मन' और 'सर सैय्यद अहमद खाँ' जिस 'उर्दू' के प्रयोग की बात अकबर और शाहजहाँ के जमाने से कर रहे हैं, वह ऐतिहासिक रूप से तार्किक नहीं है। वस्तुतः सोलहवीं सदी तक उत्तर भारत के अधिकांश पढ़े–लिखे और विद्वान लोग फ़ारसी का प्रयोग करते थे। "यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि अब तक भारत (यानी फोर्ट विलियम कॉलेज के समय) के अंग्रेज अधिकारी सिर्फ़ फ़ारसी भाषा का अध्ययन करते थे, क्योंकि वहीं यहाँ की राजभाषा थी।"[10] स्पष्ट है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के आने तक एक ओर हिंदी या हिंदवी थी तो दूसरी और फ़ारसी तथा रेख़्ता। फिर उर्दू कहाँ थी, और कब से उसकी शक्ल हमारे सामने आई। शम्सुर्रहमान फ़ारुकी का कहना है "दिल्ली वाले निरंकुशता और साम्राज्यवादी गौरव के साथ उर्दू की बादशाहत का दावा करते हैं अपने शहर के लिए उर्दू की मूल और प्राचीन राजधानी की उपाधि का प्रयोग करते हैं और अपनी भाषा

को मानक (Normative) और प्रामाणिक मानते हैं। लेकिन इतिहास तो यह बताता है कि दिल्ली ने उर्दू को उसके अस्ल रूप (चाहे वह खुद देहलवी हो, या गुजरी, या दकनी) में मुँह न लगाया। अठारहवीं सदी की दिल्ली में उर्दू लोकप्रियता की सीढ़ियाँ चढ़ने लगी, लेकिन उसका नाम फिर भी 'रेख़्ता' ही रहा। उचित तो यह था कि अब उसे केवल 'हिंदी' के नाम से पुकारा जाता, जो उसका सही नाम था। लेकिन फ़ारसी के पक्ष की तरफ़दारी और प्राचीन उर्दू अर्थात् 'दकनी/हिन्दी/हिन्दवी' के विरुद्ध पुराने पक्षपात के कारण साहित्यिक भाषा के लिए 'रेख़्ता' नाम ही प्रचलित हुआ।"[11]

जिन विद्वानों ने रेख़्ता और उर्दू को एक मानने कि गलती की है, उन्हें अपनी 'भूल' दुरुस्त कर लेनी चाहिए। रेख़्ता का जितना संबंध हिन्दी या हिन्दवी से है उतना उर्दू से नहीं। आरंभिक दौर में जब हिन्दी/हिन्दवी में साहित्य रचा गया तो सबसे पहले इसे 'रेख़्ता' कहा गया। ध्यान देने वाली बात है कि रेख़्ता सिर्फ उत्तर भारत की शैली/रचना है, गुजरात और दक्कन में 'रेख़्ता' जैसी कोई चीज नहीं थी। रेख़्ता के कई अर्थ हैं। जैसे गारे और चूने का मसाला जो भवनों में काम आता है, या मिला–जुला या कोई चीज़ जो किसी और चीज में ढ़ाली जाए वह रेख़्ता है। "अतः रेख़्ता वह भाषा ठहरी जिसमें फ़ारसी के तने पर 'हिन्दी' की शाखें लगाई जाएँ या फिर जिसमें 'हिन्दी' के तने पर 'फ़ारसी' की शाखें लगाई जाएँ।"[12] रेख़्ते में जो गारा और चूना मिला हुआ है वह फ़ारसी और हिंदी का है, उर्दू का नहीं। मशहूर शायर ग़ालिब ने मीर की तारीफ़ में यह अर्ज किया था–

रेख़्ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब
कहते हैं अगले जमाने में कोई मीर भी था।

यहाँ गालिब ने स्वयं को 'उर्दू' का उस्ताद नहीं कहा 'रेख़्ते' का उस्ताद कहा। क्यों? ग़ालिब के जमाने तक मानी (गालिब का युग 1797–1869) शायद रेख़्ता ही ज्यादा प्रचलित थी उर्दू नहीं। बाद में दाग देहलवी (1831–1905) में भले कहा–

नहीं खेल ऐ दाग़ चारों से कह दो;
कि आती है उर्दू ज़बाँ आते आते।

हिंदी के विकास में फोर्ट विलियम कॉलेज का महत्वपूर्ण योगदान है। यह सर्वविदित तथ्य है। क्या यही बात हम 'उर्दू' के संदर्भ में दोहरा सकते हैं। 'उर्दू' के विकास में फोर्ट विलियम कॉलेज की क्या भूमिका थी। हमें यह भी देखना चाहिए कि फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से पहले उर्दू गद्य की क्या स्थिति थी।

हिंदी साहित्य की तरह ही उर्दू साहित्य में गद्य का विकास पद्य के काफी बाद हुआ। साथ ही उर्दू कविता की तरह उर्दू गद्य के सबसे पुराने प्रमाण हमें दक्षिण में ही मिलते हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि उर्दू के आरंभिक गद्य में 'दक्खिनीपन' की प्रधानता है। उर्दू का आरंभिक गद्य मूलतः धार्मिक भावों की अभिव्यक्ति करता है। उसका साहित्यिक मूल्य न के बराबर है। फ़िराक़ गोरखपुरी ने अपनी पुस्तक 'उर्दू भाषा और साहित्य' में माना है कि "उर्दू गद्य की प्राचीनतम पुस्तक प्रख्यात सूफ़ी संत ख्वाजा सय्यद मुहम्मद गेसूदराज की 'मेराजुल आशिक़ीन' है। ख़्वाजा साहब का देहात 835 हि. (1432 ई.) में हुआ था। इनकी भाषा का नमूना यह है–

एक बादशाह की ताज़ीम एक अमीर कूँ बड़ी करता है तो अव्वल जा–बजा आराइश करता है।
सो मुहम्मद को पांच : तन संवार का सात ईमान के ऊपर लाये।"[13]

ख़्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज की कुछ अन्य गद्य रचनाऐं हैं जैसे 'शिकारनामा' और 'तिलावतुल–वजूद'। गेसूदराज का गद्य मूलतः दकनी–उर्दू का गद्य है। साथ ही इन रचनाओं में धार्मिकता का गहरा पुट है। गेसूदराज ने इसकी रचना इसलिए कि थी ताकि वे धार्मिक विचारों को अपने अनुयायियों तक आसानी से पहुँचा सके। ठीक यही बात 15वीं सदी के अन्य सूफ़ी–लेखकों के बारे में भी कही जा सकती है।

सय्यद गेसूदराज के पुत्र अकबर हुसैन ने भी गद्य की कुछ रचनाऐं लिखी हैं, परंतु उनपर गेसूदराज की तरह ही धार्मिकता का तत्व हावी है। इस संदर्भ में सूफ़ी विद्वान 'मीरानजी शम्सुल–उश्शक' का नाम महत्वपूर्ण है। 'शम्सुल–उश्शक' मूलतः मक्का (अरब) में पैदा हुए थे, परंतु अपनी युवावस्था में वे भारत आए और बीजापुर में रहने लगे। "गद्य में उनकी प्रसिद्ध रचना 'शरहे–मरग़बुल–कुलूब' है, जो एक अरबी रचना का अनुवाद है। उनके सुपुत्र 'बुरहान–उद्दीन जानम' के अनेक गद्य–लेख भी मिलते हैं, जैसे– 'कलमतुल'–हक़ायक़', 'हस्त–मसायल' और 'जिक्रे–जली' किन्तु अभी तक केवल 'कलमतुल–हक़ायक' ही प्रकाशित हो सकी है। इसमें फ़ारसी और दकनी घुली–मिली हुई है।"[14]

इसमें कोई दो राय नहीं साहित्यिक दृष्टि से उपरोक्त पुस्तकों का ज्यादा महत्व नहीं था परंतु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि यही रचनाऐं साहित्यिक उर्दू गद्य की पृष्ठभूमि का निर्माण कर रही थी। इनको साहित्यिक दृष्टि से देखने के बजाए एक बनती हुई भाषा के तौर पर देखना चाहिए। उपरोक्त लेखकों और इन गद्य रचनाओं की अपनी अहमियत है "परंतु ऐसी रचना जिसे साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कहा जा सके, 'मुल्ला वजही'

की 'सबरस' है, जो 1635 ई. में लिखी गयी। यह एक महान पुस्तक है जो एक प्रसिद्ध फ़ारसी पुस्तक पर आधारित होते हुए भी बिल्कुल नयी सर्जनात्मक कृति कही जा सकती है क्योंकि लेखक ने अनेक गूढ़ दार्शनिक समस्याओं को साहित्यिक भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि उसके लेखक की कलात्मक अनुभूति का प्रमाण बन गयी है। गद्य की जिस शैली में रचना की गयी है हम उसको तुकान्त–गद्य कह सकते हैं।"[15] मुल्ला वजही की 'सबरस' की भाषा दक्षिणी उर्दू है और इसकी शैली अनुप्रास–युक्त है। इस पुस्तक की भाषा का एक नमूना देखिए– "अक़्ल बग़ैर दिल कूं नूर नहीं, अक़्ल कूं खुदा कहना भी कुछ दूर नहीं। जात ते सिफ़ात है, जात ते जो कुछ निकल्या सो बेज़ात है। जूँ रफ़्ता होर उसका नूर। अगर रफ़्ता बपजा ना अछे तो नूर क्यों होए मशहूर।"[16]

उर्दू गद्य में ऐसी कुछ पुस्तकें फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से पहले मौजूद थी, जैसे हिंदी गद्य में थी। फिर फोर्ट विलियम कॉलेज का योगदान क्या था? वस्तुतः उर्दू भाषा और साहित्य का विकास प्रायः हिंदी भाषा और उसके साहित्य के विकास के सामानान्तर ही हुआ है। ये दोनों भाषाएँ हमारे समाज और संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग बनकर साथ–साथ चली है।"[17] यह अकारण नहीं है कि फोर्ट विलियम कॉलेज में साहित्य–निर्माण का जो विभाग स्थापित हुआ उसमें हिंदी और उर्दू दोनों के साहित्यकार/अनुवादक नियुक्त किए गए।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ होने से पूर्व ही भारत के एक बड़े भाग पर अंग्रेजों का साम्राज्य कायम हो गया था। ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रभुत्व कायम हो गया था। ऐसी स्थिति में "कम्पनी को भारत में अपने अधिकार के विस्तार के साथ ही इस बात की भी आवश्यकता प्रतीत हुई कि कर्मचारियों को इस

देश की भाषाएँ सिखायी जायें।"[18] इन्हीं कारणों से 1800 ई. में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई। जब फोर्ट विलियम कॉलेज स्थापित हुआ तो डॉ. जॉन बार्थविक गिलक्रिस्ट को उसका मुख्याधीश नियुक्त किया गया। यहाँ यह जानना दिलचस्प होगा कि जॉन गिलक्रिस्ट मूलतः चिकित्साशास्त्री थे, भाषाशास्त्री नहीं। डॉ. गिलक्रिस्ट 1759 ई. में स्काटलैंड की राजधानी एडिनबरा में पैदा हुए थे। उन्होंने एडिनबरा के प्रसिद्ध 'जॉर्ज हैरियट हॉस्पिटल' से चिकित्सा शास्त्र की शिक्षा ली थी। सन् 1782 ई. में उन्हें ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने वेतनभोगी डॉक्टर की हैसियत से बम्बई भेजा था। "बम्बई में ही उन्होंने जन–साधारण की भाषा हिन्दुस्तानी सीखी। अगले वर्ष उन्हें कलकत्ता भेज दिया गया। दो–तीन वर्ष में उन्होंने काफी परिश्रम से उर्दू सीखी और अप्रैल 1785 ई. में उर्दू में और अधिक योग्यता प्राप्त करने के लिए फ़ैजाबाद आ गये। यह भारतीय वस्त्र पहन कर बाज़ारों में घूमते थे और उर्दू के मुहावरे सीखते थे। इसी सिलसिले में इन्होंने दिल्ली, लखनऊ और बनारस की भी यात्रा की और पण्डितों तथा मौलवियों की सहायता से उर्दू और हिंदी में पूर्ण योग्यता प्राप्त कर ली।"[19]

इस तरह जॉन गिलक्राइस्ट हिंदी और उर्दू भाषा से परिचित हुए। उन्होंने महसूस किया कि हिंदी और उर्दू दोनों में पद्य अधिक मात्रा में है किंतु गद्य लगभग नगण्य है। जो गद्य था, वह भी अधिकांश धार्मिक था। स्वाभाविक है कि ऐसे गद्य के सहारे विदेशी कर्मचारियों को शिक्षा नहीं दी जा सकती थी। फोर्ट विलियम कॉलेज में जब साहित्य–निर्माण का विभाग खोला गया तो जॉन गिलक्राइस्ट ने हिंदी और उर्दू के रचनाकारों/अनुवादकों को नियुक्त किया। "उन साहित्यकारों का प्रमुख कार्य यही था कि वे अंग्रेज अधिकारियों और कर्मचारियों के लिए सहज हिन्दुस्तानी में साहित्यिक पुस्तकें तैयार करें जिन्हें

पढ़कर वे यहाँ की जनभाषा को भली–भाँति सीख सकें। इसी योजना के तहत एक ओर मुंशी सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्ला खाँ, लल्लू लाल और सदल मिश्र जैसे हिंदी के साहित्यकार फोर्ट विलियम कॉलेज पहुँचे तो दूसरी ओर हैदर बख़्श हैदरी, मीर शेर अली अफसोस और मीर अम्मन जैसे उर्दू के अदीब।"[20]

उर्दू गद्य के विकास में फोर्ट विलियम कॉलेज के योगदान को इस एक उदाहरण से समझा जा सकता है। यह सर्वविदित है कि 'मीर अम्मन' ने कॉलेज में रहते हुए 'किस्सा–ए–चहार दरवेश' का 'बाग़ो–बहार' के नाम से अनुवाद किया था। इस अनुवाद को काफ़ी महत्वपूर्ण माना जाता है। वस्तुतः 'मीर अम्मन' से पहले भी 'किस्सा–ए–चहार दरवेश' का अनुवाद हो चुका था। "मीर मुहम्मद हुसैन अतर खाँ 'तहसीन' जो इटावा (उ.प्र.) के रहने वाले थे ईस्ट इंडिया कंपनी से संबद्ध थे और उन्होंने इसका तर्जुमा उर्दू में किया था। यह अनुवाद की भाषा पुराने अंदाज की थी। उसमें सामासिक वाक्यों, आलंकारिक उक्तियों और अरबी–फारसी के दुरूह शब्दों की भरमार थी। 'तहसीन' ने अपने तर्जुमे का नाम 'नौतर्जे–मुरस्सा' रखा था।"[21]

गौर करने वाली बात है कि 'मीर अम्मन' का अनुवाद (बाग़ो–बहार) प्रसिद्ध हो गया, जबकि 'तहसीन' का 'नौतर्जे–मुरस्सा' गुमनामी में खो गया क्यों? वस्तुतः 'तहसीन' का गद्य आलंकारिक उक्तियों और अरबी–फारसी के कठिन शब्दों के जंजाल में उलझ गया। जबकि 'मीर अम्मन' का 'बागो–बहार' एक ताजा गद्य का नमूना था। आखिर यह क्यों हुआ? क्या इसमें 'मीर–अम्मन' की अपनी कुछ विशेषता थी या फिर कुछ और ही बात थी।

इसमें कोई शक नहीं कि 'बाग़ो–बहार' रोचक कहानी के कारण लोकप्रिय हुआ परंतु उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष था जीवंत भाषा और

प्रवाहपूर्ण गद्य। उस समय के रचनाकारों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या यही थी कि भाषा को किस प्रकार दुरुह होने से बचाया जाए। यह समस्या हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के रचनाकारों के लिए एक चुनौती थी। एक ओर हिंदी संस्कृतनिष्ठ शब्दों से भरी हुई थी, वहीं दूसरी ओर उर्दू में अरबी–फारसी की क्लिष्ट शब्दावली थी। इसी दौरान हिंदी–उर्दू मतभेद का मसला भी जोर पकड़े लगा जिस कारण एक भाषा दूसरी भाषा से परहेज करने लगी। 'बाग़ो–बहार' के रचनाकार 'मीर अम्मन' के सामने भी भाषा विषयक यही चिंता और चुनौती थी। इस चिंता और चुनौती का हल गिलक्राइस्ट ने निकाला। गिलक्राइस्ट की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए 'मीर–अम्मन' लिखते हैं– "अब खुदावन्दे–नेमत, साहबे–मुरव्वत, नजीबों के क़द्रदान जॉन गिलक्राइस्ट साहब ने (कि हमेशा इक़बाल उनका ज़ियादा रहे, जब तलक गंगा–जमुना है) लुत्फ़ से फ़रमाया कि इस क़िस्से को ठेठ हिन्दुस्तानी गुफ़्तगू में जो उर्दू के लोग हिन्दू–मुसलमान, औरत–मर्द, लड़के–बाल, खासोआम आपस में बोलते–चालते हैं, तर्जुमा करो। मुआफ़िक हुक्में–हुजूर के मैंने भी इसी मुहावरे से लिखना शुरू किया जैसे कोई बातें करता है।"[22]

जॉन गिलक्राइस्ट के सामने यह स्पष्ट था कि उन्हें एक जीवंत भाषा का निर्माण करना है। वे एक नए गद्य का निर्माण करना चाहते थे जो हर खास–ओ–आम के लिए हो। जो दुरुह न हो। जो बोलचाल की भाषा के क़ाफी करीब हो। यह अकारण नहीं है कि उन्होंने 'मीर अम्मन' को ऐसी भाषा के लिए पूरी आज़ादी दी। अगर, देखा जाए तो उर्दू गद्य के लिए फोर्ट विलियम कॉलेज और जॉन गिलक्रास्ट 'मीर अम्मन' के पीठ पीछे खड़े थे। इसी कारण 'मीर अम्मन' एक नये उर्दू गद्य का निर्माण कर सके। जबकि मीर मुहम्मद हुसैन अता खाँ तहसीन को ऐसी कोई सहूलियत नहीं मिल पाई थी।

उर्दू गद्य के विकास में निःसंदेह फोर्ट विलियम कॉलेज का महत्वपूर्ण योगदान था परंतु ऐसा भी नहीं था कि इस कॉलेज के बाहर उर्दू गद्य–लेखन के लिए कुछ हो ही नहीं रहा था। "उर्दू–गद्य के विकास की कहानी अधूरी रह जायेगी, यदि दिल्ली कॉलेज और उससे सम्बन्धित 'देहली वर्नाकुलर ट्रांसलेशन सोसाइटी' का वर्णन न किया जाये, क्योंकि यदि फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में गल्प, इतिहास और धार्मिक पुस्तकों के अनुवाद हुए तो इस सोसाइटी ने गणित, विज्ञान, ज्योतिष, तर्क एवं दर्शन को भी अनुवाद योजना में सम्मिलित कर लिया।"[23]

सन् 1825 ई. में दिल्ली कॉलेज की स्थापना हुई। यहाँ प्रत्येक विषय की उच्च शिक्षा दी जाती थी। यहाँ शिक्षा का माध्यम उर्दू–भाषा थी।

उर्दू उपन्यास का विकास दास्तानगोई की परंपरा से हुआ। उर्दू के आरंभिक उपन्यासकारों नज़ीर अहमद (1836–1912) और रतन नाथ सरशार (1846–1902) की रचनाओं पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। T.W. Clark ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक (संपादित) 'The Novel in India' में आरंभिक उर्दू उपन्यासों पर दास्तान के प्रभाव को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं– "The dastans can quite justly be called propagandist literature of a highly tendentious kind. Everything is in black and white- the virtuous are all virtue and the vicious all vice. If follows that there are no three dimensional characters, and very little realism of any kind. Neither is there anything that can really be called a plot, nothing but a succession of episodes following one upon another in endless profusion."[24]

स्पष्ट है कि दास्तान को 'उपन्यास' नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार यूरोप में 'रोमांस' और 'नॉवेल' में फर्क था, लगभग वही फर्क उर्दू में था।

'यथार्थ' उपन्यास की आवश्यक तत्व है, जबकि दास्तान 'यथार्थ' से कोसों दूर थे। दास्तान में पाए जाने वाले 'जादुई' और 'हैरतंगेज कारनामों' पर प्रकाश डालते हुए Ralph Russell लिखते हैं– "In the tale of the Amir Hamza the hero is accompanied and supported in his exploits by his trusty friend 'Amar Ayyar-Amar', who possesses magic powers and uses them to reinforce Amir Hamza's valour. He does this mainly through the use of his magic bag Zanbil into which he can cause almost anything to disappear and out of which he can cause almost anything to emerge. Very often he uses his magic to make his enemies look ridiculous."[25]

स्पष्ट है कि दास्तान में ढ़ेरों ऐसी घटनाऐं होती हैं, जिन्हें यथार्थ नहीं कहा जा सकता। पात्रों के पास जादुई झोले का होना जिसमें से कुछ भी निकाला जा सके। उन जादुई ताकतों का होना जो भौतिकवादी दुनिया में संभव नहीं है, दास्तान की विशेषता है। जबकि उपन्यास ऐसे किसी भी 'पारलौकिक' और 'जादुई संसार' से बचता है। यही कारण है कि मिर्ज़ा रजब अल बेग 'सुरूर' की पुस्तक 'फ़साना–ए–अजाएब' को 'उपन्यास' नहीं माना गया। सुरुर की कई रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें सर्वप्रथम और श्रेष्ठतम 'फ़िसाना–ए–अजाएब' है। यह कहानी 1824 ई. में लिखी गई और जैसा कि उस समय की कहानियों में होता था, यह कहानी भी अस्वाभाविक बातों से भरी हुई है। इस पर 'पद्मावत' और 'अल्फ़लैला' का प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है। कुछ लोगों ने इसको प्राचीन कथाओं और आधुनिक उपन्यास के बीच की कड़ी कहा है, परन्तु वास्तव में पुरानी कहानियों की भाँति इसमें भी कुछ नैतिक गुणों के प्रचार और विभिन्न प्रकार की असम्भव घटनाओं के कल्पनात्मक वर्णन से मनोरंजन पैदा करने की चेष्टा की गयी है। इसकी शैली बड़ी रंगीन और

पेचदार है और प्रायः सभी वाक्य तुकान्तक हैं। इसमें मीर अम्मन की सरल भाषा की हँसी उड़ायी गयी है। लेखक की दृष्टि में सीधी–सादी गद्य रचना कोई कला नहीं रखती, उसे अलंकारपूर्ण होना चाहिए।

आरंभिक उर्दू उपन्यास के उदय में जिन चंद उपन्यासकारों का सर्वाधिक योगदान है, उनमें प्रमुख है– नज़ीर अहमद (1836–1912), पण्डित रतननाथ 'सरशार' (1846–1902), अब्दुल हलीम 'शरर' (1860–1926) और मिर्ज़ा हादी 'रूसवा' (1858–1931)।

नज़ीर अहमद की पहली रचना 'मिरातुल उरुस' यानी वधू दर्पण (हिंदी अनुवाद) है। इसकी रचना 1869 ई. में की गई। आलोचक 'सत्यकाम' ने अपनी पुस्तक 'भारतीय उपन्यास की दिशाएँ' में माना है कि "नजीर अहमद ने 'उपन्यास' के रूप में अपनी रचनाएँ नहीं लिखीं। उन्होंने लड़के–लड़कियों को शिक्षा देने के उद्देश्य से कथा पुस्तकों की रचना की।"[26] सत्यकाम का यह कहना भ्रामक है कि नजीर अहमद ने 'उपन्यास' के रूप में अपनी रचनाऐं नहीं लिखीं। लगता है या तो उन्होंने 'मिरातुल उरुस' की भूमिका नहीं पढ़ी जिसमें नजीर अहमद ने साफ–साफ कहा है कि वे 'उपन्यास' लिख रहे हैं। या फिर वे जान–बूझ कर आरंभिक उर्दू उपन्यासों का अवमूल्यन कर रहे हैं। नजीर अहमद ने ना सिर्फ 'उपन्यास' के रूप में इसकी रचना की है बल्कि इसकी रचना करने में उन्हें तकरीबन साढ़े चार साल लगे। वे 'सायास' ऐसी पुस्तक लिख रहे थे जो उपन्यास हो। स्त्री–शिक्षा के लिए नज़ीर अहमद ऐसी पुस्तकें खोज रहे थे जो स्त्रियों में ज्ञान का प्रवाह करें। उन्होंने कई पुस्तकालयों की खाक छानी, पर उन्हें ऐसी एक भी किताब नहीं मिली। तब जाकर उन्होंने स्वयं 'उपन्यास' लिखने का प्रयास आरंभ किया। 'मिरातुल उरुस' की भूमिका में 'नजीर अहमद' लिखते हैं–

"वह पुस्तक ऐसी सुरुचिपूर्ण शैली में लिखी गई हो, जिसके पढ़ने से उनका (महिलाओं का) मन न उकताये, न तंबीअत घबराए। ऐसी पुस्तक के लिए मैंने सारे पुस्तकालय छान मारे, परन्तु वह कहीं नहीं मिली। तब इस उपन्यास की योजना बनाई। तीन वर्ष पहले जब मैं झाँसी में था, मैंने 'अकबरी' की कहानी लिखी। उसे पढ़ कर लड़कियाँ उस पर लट्टू हो गई और उपन्यास पूरा कर डालने का बराबर अनुरोध करने लगीं। तब डेढ़ वर्ष में मैंने 'असगरी' की कहानी भी पूरी कर दी। होते–होते इस 'उपन्यास' की चर्चा मुहल्ले में हुई और कुछ औरतें उसे सुनने के लिए आईं। जिसने भी सुना वह रीझ गई। ऊँचे–ऊँचे घरों में यह पुस्तक मँगवाई गई। उन्होंने इसकी प्रतिलिपि करने का इरादा भी जाहिर किया।"[27]

अतः सत्यकाम जैसे आलोचकों का यह मानना निराधार है कि नजीर अहमद ने 'उपन्यास' के रूप में अपनी रचनाएँ नहीं लिखीं। यहाँ यह स्पष्ट करना दिलचस्प होगा कि हिंदी के पहले उपन्यास 'परीक्षागुरु' के लेखक और उर्दू के पहले उपन्यास 'मिरातुल उरुस' के लेखक 'नजीर अहमद' दोनों को भली–भाँति पता था कि वे 'एक नए ढंग की शैली' में रचना कर रहे हैं। दोनों इस बात को लेकर आशंकित भी थे कि कही यह रचना आम पाठकों को दुरूह न लगे। उपन्यास की भूमिका में 'नज़ीर अहमद' लिखते हैं– "यह बिल्कुल नये ढंग की पुस्तक है इसलिए आश्चर्य नहीं कि इतना करने पर भी इसमें कमियाँ रह गई हों। इसलिए आशा करता हूँ कि पाठक उनके लिए मुझे क्षमा करेंगे। आखिर इस शैली की यह पहली पुस्तक है।"[28]

'परीक्षागुरु' उपन्यास की भूमिका में लाला श्रीनिवासदास भी लगभग यही बात लिखते हैं–

"अबतक नागरी और उर्दू भाषा मैं अनेक तरह की अच्छी–अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं, परंतु मेरे जान इस रीति से कोई नहीं लिखी गई, इसलिए अपनी भाषा मैं यह नई चाल की पुस्तक होगी।"[29]

अतः यह मान लेना कि हिंदी और उर्दू में उपन्यास का उदय एकाएक या अनयास हो गया निराधार है। इन दोनों भाषाओं के आरंभिक उपन्यासकारों को अच्छी तरह पता था कि वे क्या कर रहे हैं। वे अपने रचनाकर्म के प्रति गंभीर भी थे, और सचेत भी।

नज़ीर अहमद के अलावा जिन उपन्यासकारों ने आरंभिक उर्दू उपन्यास को गति दी उनमें प्रमुख थे– पण्डित रतननाथ 'सरशार' (1846–1902) और अब्दुल हलीम 'शरर' (1860–1926)।

रतननाथ सरशार की ख्याति मूलतः 'फसाना–ए–आजाद' (1880 ई.) के कारण है। हालांकि नज़ीर अहमद के उपन्यासों का प्रकाशन 'फसाना–ए–आजाद' से पहले हो चुका था परंतु नजीर अहमद के उपन्यास मूलतः स्त्री–शिक्षा और नैतिक उत्थान की दृष्टि से लिखे गए थे। "सरशार उर्दू के पहले यथार्थवादी कलाकार है। 'फसाना–ए–आजाद' में उन्होंने लखनऊ का ही सजीव चित्रण नहीं किया बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी की उत्तर भारत की पूरी सभ्यता का ऐसा पूर्ण चित्र उपस्थित किया है और प्रकारान्तर से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को भी इस तरह पेश कर दिया है कि देखकर आश्चर्य होता है कि एक ही उपन्यास के अंदर यह सब कैसे आ गया।"[30]

'सरशार' की लेखन शैली पर विचार करते हुए फ़िराक गोरखपुरी ने माना है कि चूंकि 'सरशार' हिन्दू थे अतः मौलवियों पर रौब गांठने के लिए उन्होंने जान–बूझ कर कठिन फ़ारसी–अरबी भाषा का प्रयोग किया है। उन्हें

यह लगा होगा कि उर्दू में सरल भाषा लिखने पर हिन्दू होने के कारण कहीं उन्हें कम पढ़ा–लिखा न समझ लिया जाए। भले ही 'सरशार' की भाषा पर कुछ विवाद हो परंतु यह निर्विवाद है कि उन्होंने अपने लेखन में तत्कालीन भारतीय समाज का हर चित्र उकेरा है। उनके उपन्यासों में "पुराने बिगड़े रईसों की हास्यापद दशा, अभिजात वर्ग के घरानों के रीति–रिवाज और महिलाओं का जीवन, बाज़ार, मेले–ठेले, फक्कड़, चोर, उचक्के, डाकू, जमींदार, मौलवी, पण्डित, साधू– सभी की जीती–जागती तस्वीरें देखने को मिल जाती हैं और तत्कालीन भारतीय जीवन के अच्छे–बुरे सभी पहलू सामने आ जाते हैं। 'फ़साना–ए–आजाद' तथा 'सरशार' के अन्य उपन्यासों का साहित्यिक ही नहीं ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत अधिक है।"[31]

हम आरंभ में इस बात को रेखांकित कर चुके हैं कि आरंभिक उर्दू उपन्यासों पर 'दास्तान' का प्रभाव था। रतननाथ सरशार का 'फसाना–ए–आजाद' इस तर्क की पुष्टि करता है। यह 'उपन्यास' वस्तुतः नवलकिशोर प्रेस से निकलने वाले 'अवध अख़बार' में धारावाहिक रूप में छपा था। सन् 1878 ई. से यह धारावाहिक रूप में निकलना आरंभ हुआ और दो वर्ष में पूरा हो गया। पुस्तक रूप में जब इसका प्रकाशन (सन् 1880 ई.) हुआ तो इसमें बड़े आकार के लगभग तीन हजार पृष्ठ थे। यह सिर्फ अपने आकार में ही 'दास्तान' के निकट नहीं है। इसमें 'दास्तानगोई' के और भी कई तत्व है। सत्यकाम का मानना है कि "दास्तानों की तरह 'आजाद कथा' में भी सुसंबद्ध कथानक का अभााव है, वही ढीले रूप से जुड़ी कथाओं की अंतहीन श्रृंखला इसमें भी विद्यमान है। नायक बड़ी आसानी से विकट से विकट परिस्थितियों और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसके पात्र दास्तानों की तरह ही या तो काले हैं या सफेद। जिस प्रकार 'दास्तान अमीर हमजा' में अमीर

हमजा का सभी उमर ऐयार है उसी प्रकार आजाद का साथी 'खोजी' है। दास्तान लेखकों की तरह सरशार भी तुक प्रधान गद्य के प्रेमी हैं।"[32]

इन सारी बातों के होते हुए भी 'फसाना–ए–आजाद' मूलतः उपन्यास है, दास्तान नहीं। इसके कुछ कारण है। 'फसाना–ए–आजाद' की जो विशेषता उसे 'दास्तान' से अलग करती है वह है अतिलौकिक घटनाओं से मुक्ति। कहानी का 'प्लॉट' लखनऊ है कोई काल्पनिक संसार नहीं। इस मायने में इसकी तुलना देवकीनंदन खत्री के उपन्यास 'चंद्रकांता' से की जा सकती है। उपन्यास का मुख्य पात्र 'आजाद' तत्कालीन समाज का प्रतिनिधि है किसी 'कल्पना लोक' का नहीं। उपन्यास में जगह–जगह पर लखनऊ की तात्कालिक जिंदगी अंग्रेजों के तौर–तरीके, उनके शासन व्यवस्था का जिक्र है। इन्हीं कारणों से 'फ़साना–ए–आजाद' यथार्थवादी उपन्यास के ज्यादा निकट है।

आरंभिक उर्दू उपन्यासकारों में अब्दुल हलीम शरर (1860–1926) एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर है। 'शरर' ने 'नज़ीर अहमद' और पण्डित रतननाथ सरशार से हटकर 'ऐतिहासिक घटनाओं' को अपने उपन्यासों का केंद्र बनाया। "उर्दू उपन्यास के क्षेत्र में 'शरर' पहले ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं, जिन्होंने इस्लामी इतिहास को कथाओं के रूप में लाकर से सर्वसुलभ बना दिया है। उन्होंने उपन्यास से अश्लील तत्व भी निकाल डाले।"[33]

'शरर' का जन्म लखनऊ में हुआ था। सन् 1880 ई. में उन्हें 'अवध अखबार' का सहायक सम्पादक बनाया गया। "सन् 1887 ई. में इन्होंने अपना पत्र 'दिलगुदाज़' जारी किया। इसमें इनके उपन्यास धारावाहिक रूप में प्रकाशित होने लगे किंतु आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह 1891 ई. में हैदराबाद चले गए।"[34]

शरर पर सर सैयद अहमद खाँ के विचारों का गहरा प्रभाव था। उन्होंने अपनी कई रचनाओं में 'नयी रौशनी' की वकालत की है। "शहर एक अर्थ में सर सैयद अहमद से अधिक प्रगतिशील थे। वे परदा के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने अपने 'बद्रुन्निसा की मुसीबत' (1897) नामक उपन्यास में परदा की बुराइयों का चित्रण किया है।"[35] शरर के बारे में यह जानकर लग सकता है कि वे आधुनिक, तार्किक और प्रगतिशील थे, पर यह आंशिक सत्य है। तस्वीर का दूसरा पहलू कुछ और ही हाल बयां करता है।

'शरर' का सर्वाधिक प्रसिद्ध उपन्यास है 'फ्लोरा फलोरिंडा'। इस उपन्यास में उन्होंने नवीं सदी के स्पेन का चित्रण किया है जहाँ मुस्लिम शासन था। इस उपन्यास में 'शरर' ने जहाँ मुस्लिम समाज का सकारात्मक पक्ष दिखाया है, वहीं "शरर ने ईसाई पात्रों की लंपटता और धार्मिक कट्टरता का अतिरंजित अंकन किया है। उन्होंने गिरिजाघरों को व्यभिचार, प्रपंच और षड्यंत्र के अड्डों के रूप में प्रस्तुत किया है जहाँ हजारों गर्भपात होते हैं और नवजात शिशु चुपचाप जमीन में दफना दिए जाते हैं। पादरी कन्फेशन के बहाने भले घर की स्त्रियों की इज्जत लूटते हैं।"[36]

एक उपन्यासकार के लिए यथार्थ का चित्रण जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक है पूर्वाग्रहों से मुक्ति। इस उपन्यास का मूल उद्देश्य ईसाई धर्म की आलोचना करके इस्लाम की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना है। एक धार्मिक व्याख्याता का आचरण उपन्यासकार की सीमाओं को दर्शाता है। 'शरर' का यह उपन्यास चंद लोगों को प्रीतिकर लग सकता है पर साहित्यिक मानदंडों पर ऐसी रचनाएँ ज्यादा महत्व नहीं रखती।

'शरर' वस्तुतः जिस समाज में थे उसमें एक ओर आधुनिकता का आगमन हो रहा था, तो दूसरी ओर परंपरा का भार भी था। वे तार्किक होना

चाहे रहे थे, परंतु धार्मिकता को एकदम से छोड़ नहीं सकते थे। यह समस्या सिर्फ एक अकेले 'शरर' की नहीं थी, हिंदी के कुछ आरंभिक उपन्यासकारों को भी इसी द्वंद्व से गुजरना पड़ा था। परंपरा, तार्किकता, धार्मिकता, आधुनिकता, यथार्थवाद तथा आस्था जैसी कई चीजों से हमारे आरंभिक 'उपन्यासकार' जूझ रहे थे। ऐसी स्थितियाँ कैसी बनी और इनका आरंभिक उपन्यासों पर क्या प्रभाव पड़ा इसकी चर्चा हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक करेंगे।

संदर्भ

1 शम्सुर्रहमान फ़ारुकी : उर्दू का आरम्भिक युग संपादन कृष्णमोहन/दीपक रूहानी, राजकमल प्रकाशन, पहली आवृत्ति, 2008, नई दिल्ली, पृ. 11

2 पद्मसिंह शर्मा : हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, लोकभारती प्रकाशन, 2009, इलाहाबाद, पृ. 24

3 उपरोक्त, पृ. 24

4 उपरोक्त, पृ. 25

5 उपरोक्त, पृ. 98

6 मीर अम्मन : बाग़ो–बहार, संपादन– लिप्यंतरण : अब्दुल बिस्मिल्लाह, परिचय प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2001, पृ. 16

7 उपरोक्त, पृ. 16

8 पद्मसिंह शर्मा : हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी, पूर्वोक्त, पृ. 32

9 उपरोक्त, पृ. 33–34

10 मीर अम्मन : बाग़ो–बहार, पूर्वोक्त, पृ. 5

11 शम्सुर्रहमान फ़ारुकी : उर्दू का आरम्भिक युग, पूर्वोक्त, पृ. 98

12 उपरोक्त, पृ. 96

13 फ़िराक गोरखपुरी : उर्दू भाषा और साहित्य, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, 6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, तृतीय संस्करण, 2004, पृ. 83

14 एहतेशाम हुसैन : उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2008, पृ. 62

15 उपरोक्त, पृ. 62

16 फ़िराक गोरखपुरी : उर्दू भाषा और साहित्य, पूर्वोक्त, पृ. 84

17 उपरोक्त, प्रकाशकीय वक्तव्य, डॉ. सच्चिदानन्द पाठक, पृ. (i)

18 उपरोक्त, पृ. 85

19 फ़िराक गोरखपुरी : उर्दू भाषा और साहित्य पूर्वोक्त, पृ. 85

20 मीर अम्मन : बाग़ो–बहार, पूर्वोक्त, पृ. 6

21 उपरोक्त, पृ. 8

22 उपरोक्त, पृ. 15

23 एहतेशाम हुसैन : उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पूर्वोक्त, पृ. 129

24 T.W. Clark : The Novel in India (Its birth and development) George Allen and Unwin Ltd., London, First Published in 1970, p. 109

25 उपरोक्त, पृ. 109

26 सत्यकाम : भारतीय उपन्यास की दिशाएं, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012, पृ. 33

27 नज़ीर अहमद : दुलहन का दर्पण (उर्दू से अनुवादित) अनुवादक : जगन्नाथ प्रभाकर सेतु प्रकाशन, झाँसी, प्रथमावृत्ति सं. 2028 विक्रमी, पृ. 8

28 उपरोक्त, पृ. 8

29 लाला श्रीनिवासदास : परीक्षागुरु, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 5

30 फ़िराक गोरखपुरी : उर्दू भाषा और साहित्य, पूर्वोक्त, पृ. 187

31 उपरोक्त, पृ. 187

32 सत्यकाम : भारतीय उपन्यास की दिशाएँ, पूर्वोक्त, पृ. 34

33 फ़िराक गोरखपुरी : उर्दू भाषा और साहित्य, पूर्वोक्त, पृ. 192
34 उपरोक्त, पृ. 191
35 सत्यकाम : भारतीय उपन्यास की दिशाएं, पूर्वोक्त, पृ. 36
36 उपरोक्त, पृ. 36–37

तृतीय अध्याय

आरंभिक हिंदी–उर्दू उपन्यास और भारतीय समाज

3.1 हिंदी और उर्दू : साझा संस्कृति का प्रश्न

3.2 औपनिवेशिक शासन व्यवस्था और नवजागरण

3.3 मध्यवर्ग, आधुनिकता और स्त्री प्रश्न

3.1 हिंदी और उर्दू : साझा संस्कृति का प्रश्न

"1880–90 के दशक में हिंदी आंदोलनकारियों ने उर्दू की छवि एक ऐसी नाचने–गानेवाली वेश्या के रूप में फैलाई जो छल–कपट से लोगों को बस में किए रहती है। उर्दू की ऐसी छवि की शुरुआत भारतेंदु हरिश्चंद्र ने की थी जब उन्होंने "हट्ठी–कट्ठी साढ़े तीन हाथ की पट्ठी उर्दू बीबी" का स्यापा लिखा था। बाद में उन्होंने हंटर आयोग को दिए अपने बयान में इसे "नाचने–गानेवालियों और वेश्याओं की भाषा" बतलाया जिसके पढ़ने–सुनने से हिंदू लड़कों का चरित्र बिगड़ जाता है।"[1] *– वीरभारत तलवार*

"मेरा विश्वास है कि :

1. *हिंदी, हिन्दुस्तानी और उर्दू शब्द उस एक ही जबान के सूचक हैं, जिसे उत्तर भारत में हिन्दू–मुसलमान दोनों बोलते हैं, और जो देवनागरी या फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है।*
2. *जिस भाषा के लिए उर्दू शब्द शुरू होने से पहले हिन्दू–मुसलमान दोनों जिसे हिन्दी ही कहते थे।"[2]* *– महात्मा गांधी*

हिंदी और उर्दू भाषा का भूगोल मूलतः एक ही रहा है। दोनों की उत्पत्ति में दिल्ली और आस–पास के क्षेत्रों की भूमिका रही है। दोनों एक ही जमीन की पैदावार हैं फिर भी हिंदी और उर्दू में एक अप्रत्यक्ष सी प्रतिद्वंदिता देखने को मिलती है। दोनों के संबंध जितने साझेदारी के हैं, उससे ज्यादा टकराव के हैं। टकराव और साझेदार हिंदी और उर्दू के संबंधों का महत्वपूर्ण पहलू रहा है। इन सारी चीजों को समझे बगैर हिंदी–उर्दू साझेदारी की बात करना बेमानी है।

महात्मा गांधी से लेकर प्रेमचंद तक ने जिस हिंदी–उर्दू एकता की वकालत की, दोनों को एक ही कहा क्या सच में उसकी कोई साझी विरासत है भी? या सिर्फ यह एक जुमला है? कहीं ऐसा तो नहीं उन्नीसवीं सदी में हिंदी प्रदेश में जो नवजारण हुआ, उसी ने इन दोनों के बीच फांक पैदा कर दी? आखिर क्या कारण था कि हिंदी में आधुनिकता के पर्याय भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनकी मंडल ने उर्दू को सायास नीचा दिखाया। 23–24 अप्रैल, 1936 को आर्य समाज सम्मेलन के वार्षिक अवसर पर लाहौर में बोलते हुए मुंशी प्रेमचंद ने कहा था "हमारे लिए इतना ही जानना काफी है कि आज हिंदुस्तान के पंद्रह–सोलह

करोड़ लोगों के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हाँ, यह लिखी जाती है दो लिपियों में और उसी एतबार से हम उसे हिंदी या उर्दू कहते हैं पर है वह एक ही। बोलचाल में तो उसमें बहुत कम फ़र्क़ है, हाँ लिखने में वह फ़र्क़ बढ़ जाता है।"[3] आखिर किन कारणों से प्रेमचंद दोनों को एक ही मान रहे थे, जबकि भारतेंदु दोनों को अलग–अलग बता चुके थे। वस्तुतः हिंदी और उर्दू न सिर्फ एक दूसरे के करीब हैं, बल्कि एक–दूसरे में बेतरह घुले–मिले हैं। हिंदी और उर्दू को अलगाना लगभग असंभव है। जरा याद कीजिए अमीर खुसरो को जिन्होंने खुद को 'तूती–ए–हिंदम' कहना श्रेष्ठ समझा।

चुम तूती–ए–हिंदम, अर रास्त पुर्सी,
ज़िमन हिंदुई पुर्स, ता नग़्ज गोयम।

(खुसरो कहते हैं 'मैं हिंद' की तूती हूँ और अगर मुझसे बात करनी है तो हिंदुई में करो, तभी मैं तुम्हें मधुर बातें सुना सकूँगा।)

"सन् 1318 के आसपास लिखे गए अपने प्रसिद्ध फ़ारसी महाकाव्य 'नूर सिपहर' (नौ आकाश) – में ख़ुसरो ने भारत में बोली जाने वाली भाषाओं की शिनाख़्त की और उन सबको हिंदी से जोड़कर दिखाया–

सिंदी–ओ–लाहोरी–ओ–कश्मीर–ओ गर,
धार समंदरी तिलगी ओ गुजर।
माबरी–ओ–गोरी–ओ बंगाल–सो अवध,
दिल्ली–ओ पैरामकश अदरहमाहद,
ई हमा हिंदबीस्त ज़ि आयाम–ए–कुहन
आम्मा बकारस्त बहर गूना सुखन।

(सिंधी, पंजाबी, कश्मीरी मराठी, कन्नड़, तेलुगु, गुजराती, तमिल, असमिया, बंगला, अवधी, दिल्ली और उसके आसपास जहाँ तक उसकी सीमा है, इन सबको प्राचीन काल में हिंदवी नाम से जाना जाता है।)"[4]

खुसरो के बाद भी ऐसे उर्दू कवियों की लंबी फेहरिस्त है, जिनकी ग़जलों ने इस साझी संस्कृति का पक्ष मजबूत किया। 'वली', 'सौपा', 'मीर', 'इन्शा' इसके उदाहरण है–

जिस दिन तेरी गली की तरफ़ टुक पवन बही,
मैं आपको जला के करूँ ख़ाक तो सही। *–सौदा*

छाती से एक बार लगाता जो वो तो मीर,
बरसों य ज़ख़्म सीने का हमको न सालता।

या फिर

उल्टी हो गईं सब तदबीरें कुछ न दवा ने काम किया,
देखा इस बीमारिए दिल ने आख़िर काम तमाम किया। *– मीर तक़ी मीर*

ऐसा नहीं है कि सिर्फ उर्दू ग़जल में ही हिंदी शब्दों का प्रयोग हुआ है। मध्यकालीन हिंदी कविता का शायद ही कोई ऐसा कवि होगा, जिसके काव्य में अरबी–फ़ारसी के शब्द नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, बिहारी के काव्य में ऐसे शब्द भी पड़े हैं। सूरदास का एक पद है–

साँचो सो लिखधार कहावै।
काया ग्राम मसाहत करिकै, जमा बाँधि ठहराबै।।
मनमथ करै कैद अपने में, ज्ञान जहतिया लावै।
माँड़ि–माँड़ि खरिहान क्रोध को, पोता भजन भरावै।।
बट्टा काटि कसूर मर्म को, फरद तलै लै डारै।
निश्चय एक असल पै राखै, टरै न कबहूँ टारै।।

सूरदास के काव्य में मसाहत, मुसाहिब, गुजरान, मुजमिल, मुहर्रिर, दीवान, क़ैद, नौबत, वासिलबाकी, दस्तक, फौज, बरामद, बेहाद, सुलतान, निशान जैसे कई अरबी–फारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है। श्री वियोगी हरि ने हिंदी साहित्य सम्मेलन के लिए संकलित 'संक्षिप्त सूरसागर' में इन चीजों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है– "सूरदास ने विशुद्ध ब्रजभाषा के साथ–साथ फ़ारसी शब्दों का भी अच्छा प्रयोग किया है।"[5]

सूरदास ही क्यों तुलसीदास ने भी उदारता से फ़ारसी और अरबी को अपनाया है। उन्हें अपने आराध्य मर्यादा पुरुषोत्तम राम को 'गरीबनिवाज' कहने में जरा भी झिझक नहीं होती।

गई बहोरी गरीबनिवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू।।
नाम अनेक गरीबनिबाजे। लोक वेद वर विरद विराजे।।
लोकहू वेद सुसाहिब–रीती। विनय सुनत पहिचानत प्रीती।।
गनी गरीब ग्राम नर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर।।

प्रश्न यह है कि क्या हिंदी और उर्दू की साझी विरासत सिर्फ मध्यकाल तक ही चली? क्या भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' नवजागरण और हिंदी आंदोलन ने उसका गला घोंट दिया? या इन सारी चीजों के बावजूद दोनों भाषाओं की साझेदारी जारी रही। हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि "'फरहंगे–आसफ़िया' में 7584 अरबी के और 6041 फ़ारसी के उन शब्दों की तालिका दी है, जो उर्दू शब्दों में शामिल हो गए हैं। हम समझते हैं, फरहंग के इन शब्दों में से शायद ही कोई शब्द बचने पाया होगा, जो हिंदी शब्दसागर के विशाल कलेवर में न समा गया हो। हिन्दीवाले अपनी मातृभाषा हिंदी के शब्द–भण्डार की इस आशातीत वृद्धि और पूर्ति पर समुचित गर्व कर सकते हैं।"[6] हिंदी शब्दसागर में अरबी और फ़ारसी के तकरीबन 13500 शब्दों को शामिल किया है, क्या वे हमारी (हिंदी की) विरासत नहीं है? क्या उन्हें हिंदी शब्दसागर से निकालना संभव है? ये शब्द आज हमारी भाषा का अभिन्न हिस्सा है। हिंदी शब्द–सागर में इन शब्दों को सम्मिलित करके हमारे भाषाशास्त्रीयों ने इस बात की व्यवस्था कर दी ऐसे शब्दों का प्रयोग हिंदी में वर्जित नहीं है। ये शब्द भी हिंदी के ही हैं। हिंदी के प्रख्यात ग़जलकार दुष्यंत कुमार ने अपनी पुस्तक 'साये में धूप' में हिंदी–उर्दू संबंधों की चर्चा करते हुए लिखा है– "मैं उर्दू नहीं जानता, लेकिन इन शब्दों का प्रयोग यहाँ अज्ञानतावश

नहीं, जानबूझ कर किया गया है। यह कोई मुश्किल काम नहीं था कि 'शहर' की जगह 'नगर' लिखकर इस दोष से मुक्ति पा लूँ किंतु मैंने उर्दू शब्दों को उस रूप में इस्तेमाल किया है, जिस रूप में वे हिंदी में घुल–मिल गये हैं। उर्दू का 'शह्न' हिंदी में 'शहर' लिखा और बोला जाता है, ठीक उसी तरह जैसे हिंदी का 'ब्राह्मण' उर्दू में 'बिरहमन' हो गया है और 'ऋतु' 'रूत' हो गई है।"[7] दुष्यंत कुमार एक ओर जहाँ दोनों की भाषाई नजदीकी की बात करते हैं, वहीं आगे कहते हैं– "उर्दू और हिंदी अपने–अपने सिंहासन से उतरकर जब आम आदमी के पास आती है तो उनमें फ़र्क कर पाना बड़ा मुश्किल होता है।"[8]

हिंदी और उर्दू की साझी विरासत पर प्रश्न उठाने वाले अक्सर 18वीं और 19वीं सदी के भाषाई आंदोलन का जिक्र करते हैं। हिंदी नवजागरण के दौर में गौरक्षा, हिंदी और नागरी लिपि की माँग का भी इस संदर्भ में उल्लेख किया जाता है। पाकिस्तान और हिंदुस्तान की माँग के दौरान भी हिंदी और उर्दू का प्रश्न अलगाव से जोड़ा जाता है। हिंदुस्तान की भाषा हिंदी और पाकिस्तान की भाषा उर्दू का नारा लगाने वाले दोनों ही साझी संस्कृति से इंकार करते हैं। यह तस्वीर का एक पहलू है जिस पर आगे के पृष्ठों में चर्चा होगी। परंतु हमें यह भी देखना चाहिए कि ठीक इसी दौर में दोनों की साझी–संस्कृति के लिए साहित्यकार क्या कर रहे थे?

हिंदी और उर्दू की साझी विरासत के बारे में सबसे गौरतलब बात यह है कि राजनीतिक स्तर पर दोनों के बीच भले ही गहरी फांक रही हो, पर साहित्यिक स्तर पर दोनों के संबंध कभी अलगाव के नहीं रहे। बेशक राजनीतिक टकराव हिंदी और उर्दू के साझे विरासत का एक पहलू है पर सिर्फ इसी कारण हम और चीजों को नज़रअंदाज नहीं कर सकते। आखिर

क्या कारण है कि मिर्ज़ा ग़ालिब ने अपनी चिट्ठियों के प्रकाशित संकलन को नाम दिया 'ऊद–ए–हिंदी' 'अकबर इलाहाबादी' ने कभी भी हिंदी–उर्दू विवाद को एक पारिवारिक खटपट से ज़्यादा कुछ नहीं माना–

"हम उर्दू को अरबी क्यों न करें, हिंदी को वो भाषा क्यों न करें,
अख़बार चलाने की ख़ातिर मजमून तराशा क्यों न करें।
आपस में अदावत कुछ भी नहीं, पर एक अखाड़ा जारी है,
जब इसे ख़ल्क़ का दिल बहले, हम लोग तमाशा क्यों न करें।"[9]

उर्दू रचनाकारों ने न सिर्फ इस भाषायी विवाद को नजरअंदाज किया बल्कि उन्होंने 'हिंदू–संस्कृति' की तरफ भी उदारता से हाथ बढ़ाया। क्या यह महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि पाकिस्तानी विचार के समर्थक कहे जाने वाले इक़बाल ने भगवान राम को 'इमाम–ए–हिंद' का दर्जा दिया–

है राम के वजूद पर हिंदोस्तां को नाज
अहले नज़र समझते हैं उनको इमाम–ए–हिंद।

इस कड़ी में यह याद दिलाना भी मौजूं होगा कि "बीसवीं शताब्दी में मुस्लिम लीग के बड़े नेता हसरत मोहानी अपनी व्यक्तिगत आस्था में भगवान कृष्ण के बड़े अनुयायी थे और अपनी हज यात्रा को तब तक पूरा नहीं मानते थे जब तक मक्का से लौटकर मथुरा में आकर कृष्ण के दर्शन न कर लें। हसरत मोहानी ने लिखा–

"हसरत की भी क़बूल हो मथुरा में हाज़री,
सुनते हैं आशिकों पे तुम्हारा करम है ख़ास।"[10]

ऐसा नहीं कि सिर्फ मुस्लिम साहित्यकार ही इस साझी संस्कृति की रहनुमाई कर रहे थे। "यह एक बहुत दिलचस्प तथ्य है कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की लिटरेरी टेक्स्ट के रूप में विख्यात मैथिलीशरण गुप्त द्वारा

लिखित 'भारत–भारती' की प्रेरणा स्रोत थी मौलाना हाली द्वारा लिखित 'मद्दे जज़रो इस्लाम' (इस्लाम की रवानी और उसका पतन) जो 'मुसद्दस' के नाम से जानी जाती है। मुसद्दस की तर्ज़ पर काव्य लिखने की सलाह मैथिलीशरण गुप्त को महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दी थी। 'सरस्वती' में भारत–भारती के प्रकाशन के समय महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा– "भारत–भारती अपूर्व काव्य है हाली साहब के मुसद्दस के ढंग का है। उससे बढ़कर नहीं तो उससे कम भी किसी बात में नहीं।"[11]

भारत–भारती (प्रकाशन 1914) की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं–

हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी
मिलकर विचारें हृदय से ये समस्याएं सभी।

ये पंक्तियाँ मुसद्दस की निम्नलिखित पंक्तियों से काफी मिलती हैं–

कल कौन थे आज क्या हो गए हम
अभी जागते थे अभी सो गए हम।

हिंदी की साहित्यिक परंपरा को समृद्ध करने में उर्दू का महत्वपूर्ण योगदान है। उर्दू के माध्यम से हिंदी फारसी की साहित्यिक विरासत से जुड़ पाई। हिंदी में हालावाद का आरंभ फ़ारसी साहित्य के संपर्क में आने से ही हुआ। "1930 के दशक में उमर ख़य्याम की रूबाइयों के फ़ारसी के हिंदी में दस अनुवाद हुए, जिनमें से कुछ अनुवाद काफ़ी लोकप्रिय हुए। अनुवाद करने वालों में मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत तथा हरिवशंराय बच्चन जैसे महत्वपूर्ण हिंदी कवि थे।"[12]

ऊपर जिन उदाहरणों की चर्चा की गई है, उन्हें देखे तो ऐसा प्रतीत होता है कि हिंदी और उर्दू की साझी विरासत काफी गहरी है। ऐसा लग

सकता है कि दोनों में परस्पर काफी मेल–जोल है परंतु दोनों के बीच विवाद के भी काफी पहलू रहे हैं। अगर हम इन विवादों और इनके कारणों को नज़रअंदाज कर दें, तो तस्वीर आधी ही रहेगी। उन्नीसवीं सदी के नवजागरण के दौरान हिंदी और उर्दू के बीच जो 'रस्साकशी' हुई उसे नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता। यही वह दौर था जब साझी–संस्कृति नेपथ्य में चली गई। 'उर्दू पतुरिया और हिंदी गृहवधू' हो गई। इसी काल में 'हिंदू हितों' और 'मुस्लिम हितों' का नारा बुलंद हुआ। अदालत की भाषा उर्दू हो या हिंदी इस पर काफी हो–हल्ला मचा। क्या ब्रिटिश राज के दौरान पैदा हुई नई आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों ने साझी–संस्कृति की नींव को हिला दिया। या फिर अपनी–अपनी भाषा के लिए ज्यादा हक मांगने की बेचैनी ने साझी परंपरा को नुकसान पहुँचाया। या कहीं ऐसा तो नहीं कि हिंदी–उर्दू साझी संस्कृति एक अमूर्त धारणा थी जिसका कोई वास्तविक वजूद था ही नहीं? या फिर इस संदर्भ में पॉल ब्रास का मत सही है। जिनका मानना है कि "19वीं सदी के हिंदुस्तान में हिंदू–मुस्लिम अलगाव को बढ़ानेवाली वस्तुगत परिस्थितियाँ उसी तरह मौजूद थीं जिस तरह उनकी साँझी–संस्कृति और राष्ट्रीयता को मजबूत करने वाली परिस्थितियाँ मौजूद थीं। उनके बीच भिन्नता के तत्व थे, तो एकता और समानता के सूत्र भी थे। लेकिन प्रभावशाली धार्मिक नेताओं और हिंदू–मुस्लिम पुनरुत्थानवादी आंदोलनों ने समानताओं के बजाय भिन्नताओं पर जोर देना तय किया। हिंदी–उर्दू विवाद की कटुता दिखाती है कि भाषाओं के बीच एकता और समानता होने पर भी उनके बोलने वालों के बीच दूरियाँ रह सकती हैं। भाषाई समानता का कोई मतलब नहीं रह जाता अगर लोग भाषाओं के साथ अपने राजनीतिक उद्देश्यों या दूसरे मनोगत अभिप्रायों को जोड़ दें।"[13]

आलोक राय ने अपनी पुस्तक 'हिंदी–नेशनलिज़्म' में हिंदी–उर्दू भाषायी विवाद के ढ़ेरों कारण गिनाए हैं। उन्होंने इस विवाद के लिए दो कारणों को सर्वाधिक अहम माना है। पहला फोर्ट विलियम कॉलेज में सर जान गिलक्राइस्ट द्वारा पहली बार हिंदी व उर्दू को अलग–अलग भाषा मानकर दोनों के स्वतंत्र लेखन को प्रोत्साहित किया गया। आलोक राय का मानना है– "फोर्ट विलियम कॉलेज से जो अहम चीज़ निकली, वह था दो भाषा का सिद्धांत। फोर्ट विलियम कॉलेज ने इस विचार को लगभग सांस्थानिक अनुमोदन प्रदान किया कि वास्तव में हिंदुस्तानी के दो रूप हैं– एक वह जिसमें मिलीजुली भाषा को अपनाया और दूसरा वह जिसमें से हिंदुओं को ध्यान में रखकर अरबी–फ़ारसी के शब्दों को निकाल दिया गया।"[14] आलोक राय के मत से हिंदी–उर्दू विभाजन का दूसरा बड़ा कारण था कलकत्ते के पास श्रीरामपुर में ईसाई मिशनरियों द्वारा खोला गया छापाखाना। इस छापेखाने में हिंदी अक्षरों का जो टाइप तैयार किया गया वह उर्दू से अलग था।

हिंदी–उर्दू विवाद का मूल केंद्र इन भाषाओं के लिखित स्वरूप को लेकर है। इसके साथ ही नौकरी, प्रशासन व अदालतों का संदर्भ भी जुड़ा है। वस्तुतः बोलचाल की भाषा के स्तर पर हिंदी और उर्दू के बीच कोई विवाद नहीं है। हिंदी और उर्दू की व्याकरणिक संरचना लगभग एक सी है। हिंदी और उर्दू के सर्वनाम एक ही है। जैसे वह, तू, मैं आदि इसी तरह दोनों के संबंधवाचक शब्द जैसे में, से पर आदि भी एक ही हैं। दोनों की वाक्य संरचना भी एक सी है। शब्द भंडार में भी काफी समानता है। परंतु यह सारी समानता और साझी–संस्कृति धरी की धरी रह जाती है, जब दोनों भाषाओं के लिखित स्वरूप का प्रश्न सामने आता है। अदालत, प्रशासन और नौकरियों में किसकी प्रधानता हो यह प्रश्न सामने आते ही विवाद और विकराल हो जाता है।

19वीं सदी के हिंदी नवजागरण में हिंदी–उर्दू का विवाद एक महत्वपूर्ण प्रश्न था। इस पूरे परिदृश्य में जो प्रमुख नाम थे वे थे– राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद, राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र, पंडित मदन मोहन मालवीय, आर्य समाज, सर सैयद अहमद, अलीगढ़ कॉलेज आदि।

हिंदी और उर्दू के बीच जो भाषायी विवाद पैदा हुआ उसके लिए ब्रिटिश राज यानी अंग्रेजी सत्ता भी कम जिम्मेदार नहीं थी। ब्रिटिश शासकों ने भारत में एक 'भाषायी विभाजनवाद' को जन्म दिया। "यह विचार था भाषा को धर्म से जोड़ने का, धर्म के भाषायी आधार को तथा भाषा के धार्मिक आधार को खोजने तथा स्थापित करने का। निश्चित रूप से यह विचार ब्रिटिश विद्वानों के यूरोपिय अनुभवों की देन था। भारत का पारंपरिक भाषायी फलक इसके बिल्कुल विपरीत था। भारत में भाषा का आधार क्षेत्रीय था न कि धार्मिक। यहाँ की अधिकांश भाषाओं के नाम भी क्षेत्रों पर आधारित थे न कि किसी धर्म या नृजातीय समूह पर।" [15] ब्रिटिश शासकों ने ही पहली बार हिंदुओं और मुसलमानों को अपना अस्तित्व अलग–अलग भाषाओं में ढूँढने के लिए उकसाया। दुर्भाग्य से भाषा को धर्म के साथ जोड़ने का जो काम अंग्रेजों ने शुरू किया था, उसे आर्य समाज और अलीगढ़ आंदोलन ने और भयावह बना दिया। सलिल मिश्र का मानना है कि "दयानंद सरस्वती ने हिंदी को एक नया नाम दिया 'आर्य भाषा' तथा इसे समस्त हिंदुओं की भाषा बताया। इस 'आर्य भाषा' के अतीत को रेखांकित करने में उन्होंने इसके हिंदवी अतीत को (जो साझा विरासत पर आधारित था) पूरी तरह से नकारते हुए उसे सीधे संस्कृत के साथ जोड़ दिया। यह अतीत को अपने हिसाब से गढ़ने तथा निर्मित करने का प्रयास था।" [16] इस संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत भी देखना चाहिए। भारतेंदु हरिश्चंद्र और राजा शिवप्रसाद की भाषाओं की तुलना करते

हुए रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं "राजा शिवप्रसाद मुसलमानी हिंदी का स्वप्न ही देखते रहे कि भारतेंदु ने स्वच्छ आर्य हिंदी की शुक्ल छटा दिखाकर लोगों को चमत्कृत कर दिया।"[17] आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इस टिप्पणी का विश्लेषण करते हुए वीरभारत तलवार कहते हैं "एक की हिंदी मुसलमानी थी, दूसरे की आर्य थी। आर्य के आगे–पीछे 'स्वच्छ' और 'शुक्ल' का विशेषण जबकि मुसलमानी होने के कारण पहली हिंदी 'खिचड़ी हिंदी' कही जाती थी।"[18] रामचंद्र शुक्ल ने एक झटके में आर्य हिंदी और मुसलमानी हिंदी के दो खाँचे तय कर दिए। उस वक्त उन्हें सोचना चाहिए था कि जिस हिंदी शब्दसागर में अरबी के 7584 और फ़ारसी 6041 शब्दों को शामिल किया गया है, उन शब्दों का क्या होगा। क्या इस तर्क से तकरीबन 13,500 शब्दों को शामिल करके हिंदी शब्दसागर भी 'मुसलमानी शब्दाकोश' नहीं कहलाएगी।

राजा शिवप्रसाद की भाषा–नीति पर विचार करते हुए 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में आचार्य रामचंद्र शुक्ल स्पष्ट तौर पर कहते हैं कि हिंदी में फारसी के शब्द नहीं चल सकते। संस्कृत ही हिंदी के शब्द–भंडार के लिए उपयुक्त है। उनके शब्द हैं– "भाषा में जो रोचकता या शब्दों में जो सौंदर्य का भाव रहता है वह देश की प्रकृति के अनुसार होता है।... संस्कृत शब्दों में थोड़े–बहुत मेल से भाषा का जो रुचिकर रूप हजारों वर्षों से चला आता था उसके स्थान पर एक विदेशी रूप–रंग की भाषा गले में उतारना देश की प्रकृति के विरुद्ध था।"[19] आचार्य शुक्ल जिस भाषा को संस्कृत और हिंदी के मुकाबले एक विदेशी रूप–रंग की भाषा कह रहे थे उसी विदेशी भाषा के सहारे प्रेमचंद अपनी रचना कर रहे थे। प्रेमचंद की रचनाओं की लोकप्रियता का एक कारण यही 'विदेशी भाषा' है इसी के शब्दों ने प्रेमचंद के साहित्य को अद्वितीय बनाया। रामचंद्र शुक्ल ने स्वयं माना है कि "नूतन विकास लेकर आने

वाले प्रेमचंद जी जो कर गए यह तो हमारे साहित्य की एक निधि ही है।"[20] रामचंद्र शुक्ल जब प्रेमचंद के साहित्य को निधि कह रहे थे, उस वक्त उन्हें यह ख्याल नहीं रहा कि इस निधि में बहुत कुछ 'विदेशी भाषा' का भी योगदान है।

हमने पीछे के पृष्ठों में हिंदी–उर्दू विवाद के लिए अंग्रेजी राज को भी जिम्मेदार माना है। भारत की भाषा समस्या के लिए अंग्रेजी राज कितनी जिम्मेदार थी उस पर चर्चा जरूरी है। हिंदी–उर्दू अलगाव को हवा देने में अंग्रेजी राज की कितनी भूमिका थी? क्या उसने जानबूझकर किसी भाषा का पक्ष लिया था, या वह सचमुच निर्दोष था?

यह गौर करने वाली बात है कि 19वीं सदी में जिस मुस्लिम भद्रवर्ग ने उर्दू को इस्लाम के साथ जोड़ा तथा उसे अपनी धार्मिक अस्मिता का प्रतीक बनाया हकीकत में उस उर्दू का न तो इस्लाम से कुछ लेना देना था, न कुरान से। उर्दू का मूल मसला मुस्लिम भद्रवर्ग की भौतिक जरूरतों जैसे प्रशासन, नौकरी, अदालत से जुड़ा था। मुस्लिम वर्ग ने अपने भौतिक विशेषाधिकारों के संरक्षण के लिए उर्दू पर धार्मिक अस्मिता का मुलम्मा चढ़ा दिया। वीरभारत तलवार कहते हैं– "उर्दू को इस्लाम से जोड़ने की प्रक्रिया भी दिलचस्प थी। 18वीं सदी के उत्तरार्ध से पहले उर्दू इस्लाम का प्रतीक कभी नहीं रही। उल्टे वह एक गैर इस्लामिक जुबान समझी जाती थी। ज्ञान और कविता की भाषा फारसी थी और धर्म की भाषा अरबी, जिसे समझने वाले आम मुसलमान तो, क्या पढ़े–लिखे मुसलमान भी बहुत कम थे।"[21] इतना ही नहीं 'कुरआन' को आम मुसलमानों तक सहजता से पहुँचाने के लिए जब शाह वली उल्लाह ने पहली बार 'कुरआन' का अरबी से फारसी में तर्जुमा किया तो परंपरावादी

उलेमाओं ने इसकी निंदा की। उनकी निगाह में फारसी मजहबी जुबान नहीं थी। उर्दू की तो तब और भी बुरी गत थी। "सैयद अहमद के साथी डिप्टी नजीर अहमद ने जब सामाजिक–धार्मिक सुधारों को फैलाने के लिए उर्दू में किताबें बनाई तो यह फ़ब्ती कसी गई कि लगता है खुदा ने भी डिप्टी नजीर से अब उर्दू सीख ली है।"[22] सन् 1860–1870 के दौरान स्वयं मुस्लिम समाज में जिस उर्दू की हैसियत लगभग हास्यास्पद थी, वही आगे चलकर उनकी अस्मिता का प्रतीक बन गई, तो इसके कुछ ठोस कारण थे।

उर्दू अगर मुस्लिम अस्मिता का प्रतीक बनी तो उसके पीछे धार्मिक कारणों से ज्यादा हाथ भौतिक कारणों का था। मुगलों के समय से फारसी भाषा में ही सरकारी राजकाज हो रहा था। फ़ारसी भाषा एक तरह से अघोषित राजभाषा थी। परंतु सन् 1837 ई. में फारसी को हटाकर ईस्ट इंडिया कंपनी ने फारसी लिपि में लिखी जाने वाली उर्दू को राजभाषा बनाया। राजकाज और प्रशासन से जुड़ते ही उर्दू सत्ता और शक्ति की पहचान बन गई। इस दौर में "हिंदी भाषियों के साथ अन्याय का एक जबर्दस्त उदाहरण मार्च, 1883 के सरकारी गजट में छपा आदेश था। इसके मुताबिक कोई भी आदमी दस रुपए की और उससे ऊपर की जगह अंग्रेजी दफ़्तर में तब तक नहीं पा सकता जब तक कि उसने मिडल क्लास की परीक्षा में उर्दू या फारसी की परीक्षा भी पास न की हो। सिर्फ हिंदी की परीक्षा पास करने वालों को, चाहे उन्होंने साथ में अंग्रेजी की परीक्षा भी क्यों न पास की हो केवल उसी दफ़्तर में जगह मिलेगी जहाँ हिंदी दरकार हो।"[23] स्वाभाविक था कि ऐसे आदेश न सिर्फ एकतरफा थे, बल्कि रोजगार के समान अवसर के विपरीत भी थे। लिहाजा हिंदी भाषी भद्रवर्ग ने इस आदेश के खिलाफ तीव्र असहमति प्रकट की। यह आदेश उन शिक्षित युवकों के साथ सरासर अन्याय था कि जिन दफ़्तरों ने सिर्फ अंग्रेजी में काम हो, वहाँ भी नौकरी के लिए उन्हें उर्दू या फारसी की परीक्षा पास करनी

होगी। यह एक तरह से हिंदी भाषी युवाओं/युवतियों को उर्दू–फारसी पढ़ने के लिए मजबूर करने जैसा था। साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से दफ़्तरों की अधिकांश नौकरियाँ उर्दू भाषियों के लिए सुरक्षित हो गईं। 'हिंदी प्रदीप' के अक्टूबर 1883 अंक में बालकृष्ण भट्ट ने इस भाषायी तुष्टिकरण की घोर आलोचना की। "इसके कुछ ही सालों के बाद 1889 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एक विषय के रूप में हिंदी की पढ़ाई खत्म कर दी गई। कहने के लिए उसके साथ उर्दू को भी हटा दिया गया, लेकिन बालकृष्ण भट्ट ने बताया कि इससे उर्दू का कुछ नहीं बिगड़ेगा, पर हिंदी मारी जाएगी।... उस साल इलाहाबाद सेंटर में एंग्लोवर्नाकुलर की परीक्षा में कुल 221 विद्यार्थियों में से हिंदी के सिर्फ 17 विद्यार्थी थे।"[24] बालकृष्ण भट्ट का चिंतित होना स्वाभाविक ही था। अगर हिंदी में रोजगार नहीं हो विश्वविद्यालय और स्कूल में उसके छात्र न हो तो फिर वे लिखेंगे किस समुदाय के लिए? 'हिंदी समुदाय' ही नहीं रहेगा तो फिर 'हिंदी साहित्यकार' किसके लिए लिखते? उनके पत्र–पत्रिकाओं और रचनाओं को पढ़ता कौन? हिंदी के पक्ष में लामबंद होने वाले 'भारतेंदु मण्डल' की एक प्रमुख चिंता सिकुड़ती जा रही भाषा को बचाने की भी थी। इस संदर्भ में हम 1889 में हुए इलाहाबाद विश्वविद्यालय की घटना को देख सकते हैं। ऊपरी तौर पर कोई भी कहेगा कि 1889 में विश्वविद्यालय से हिंदी के साथ उर्दू को भी हटा दिया गया। पर क्या इससे उर्दू की सेहत पर कुछ फर्क पड़ा। बिलकुल नहीं। उर्दू विषय खत्म कर देने से फारसी पढ़ने वालों की संख्या बाढ़ जाती, क्योंकि वह अंग्रेजी राज की दफ्तरी भाषा उर्दू के बेहद करीब थी, परंतु क्या हिंदी को हटाने से संस्कृत पढ़ने वालों की तादाद में इज़ाफा होता? जवाब है– नहीं।

19वीं सदी के आरंभिक दशकों में जब पहली–पहली बार पढ़ा–लिखा युवक स्कूल और कॉलेज से निकला तो उसकी पहली प्राथमिकता थी सरकारी नौकरी। इन नौकरियों को पाने की मध्यवर्ग में तीव्र आकांक्षा थी। परंतु सन्

1837 में उर्दू के 'राजभाषा' बन जाने के कारण अधिकांश ऊँची नौकरियों पर मुसलमान युवक काबिज होते चले गए। "इसकी जितनी चिंता भारतेंदु को थी, उतनी ही बालकृष्ण भट्ट को भी। अमीर अली के लेख पर प्रतिक्रिया करते हुए उन्होंने पश्चिमोत्तर प्रांत के सरकारी महकमों में मुसलमानों और हिंदुओं को मिले ओहदों का हिसाब करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा कि "आबादी के हिसाब से हिंदू मुसलमान से सात गुना अधिक हैं, इसलिए सात बड़े ओहदों पर हिंदू हो जाने के बाद तब एक मुसलमान होना वाजिब है।"[25] बालकृष्ण भट्ट का मत सांप्रदायिक लग सकता है परंतु बालकृष्ण भट्ट जिस प्रश्न को उठा रहे हैं, वह दूसरा है। वह प्रश्न है बहुसंख्यक आबादी की कीमत पर अल्पसंख्यक आबादी को तरजीह देना। सरकारी नौकरियों में मुसलमानों और हिंदुओं के असंगत अनुपात से ज्यादा महत्वपूर्ण प्रश्न है भाषा के आधार पर धार्मिक विभाजन। पश्चिमोत्तर प्रांत में हिंदुओं की संख्या मुसलमानों से काफी ज्यादा थी और सामान्य जन–जीवन में वे हिंदी का ही ज्यादा प्रयोग करते थे। यह भी गौरतलब है कि हिंदी और उर्दू दोनों के गद्य का आरंभिक विकास फोर्ट विलियम कॉलेज में ही हुआ। ऐसे में सन् 1837 में फारसी को हटाकर हिंदी को 'राजभाषा' बनाना ज्यादा तार्किक और उपयुक्त रहता क्योंकि हिंदी, उर्दू के मुकाबले विशाल आबादी की भाषा थी। दफ़्तरों में अगर हिंदी को तरजीह दी जाती तो अधिक आबादी को रोजगार, प्रशासन और शिक्षा से जोड़ा जा सकता था। इससे रोजगार और सरकारी नौकरियों का 'विकेंद्रीकरण' होता, जबकि उर्दू के राजभाषा बनने से नौकरियाँ सिर्फ कुछ लोगों तक सिमट गईं। शायद अंग्रेज इस बात को भली–भाँति जानते थे, इसीलिए उन्होंने ऐसी स्थिति उत्पन की, जिसमें हिंदू–उर्दू अलगाव के बीज थे।

अंग्रेजों ने हिंदी–उर्दू के अलगाव को किस तरह हवा दी उसे चंद उदाहरणों से समझा जा सकता है। उर्दू के राजभाषा होने के कारण हिंदू–घरों के बच्चे सिर्फ प्राथमिक कक्षाओं तक ही हिंदी पढ़ते थे। चूँकि सरकारी नौकरियों के लिए उर्दू एक अनिवार्य शर्त थी, अतः बाद की बड़ी कक्षाओं में हिंदी के बजाए उर्दू पर ज्यादा ध्यान लगाते थे। ऐसा करना उनकी आदत नहीं बल्कि मजबूरी थी। इसके कारण एक ओर जहाँ ऊँची कक्षाओं में हिंदी पढ़ने वालों की संख्या न के बराबर थी वही ऊँची कक्षाओं के लिए हिंदी–पुस्तकों का विकास भी नहीं हो पाता था। जब हिंदी के विद्यार्थी ही नहीं थे तो पाठ्यपुस्तकें किसके लिए बनतीं? सिर्फ इतना ही नहीं अंग्रेजी राज ने इस भेदभाव को संस्थानिक रूप भी दे दिया था। "स्कूल–कॉलेजों में फारसी–उर्दू के शिक्षकों की संख्या ज्यादा होती थी, संस्कृत और हिंदी–शिक्षकों की कम। तनख्वाह भी मौलवियों को ज्यादा मिलती, पंडितों को कम। 1878 में बालकृष्ण भट्ट ने एक चार्ट बनाकर इस भेदभाव को दर्शाया। चार्ट के मुताबिक इलाहाबाद के म्योर कॉलेज में मौलवी (फारसी–उर्दू के शिक्षक) को तीन सौ रुपए महीना मिलता था जबकि उसी कॉलेज के पंडित (संस्कृत–हिंदी के शिक्षक) को दो सौ रुपए। बनारस कॉलेज में मौलवी को महीने में 80 रुपये पंडित को 60 रुपये, आगरा के मौलवी को 60 रुपये और पंडित को 50 रुपये तनख्वाह मिलती थी। ऐसा ही भेदभाव नीचे के स्कूलों में भी था।"[26] एक बार यह तर्क माना जा सकता है कि उर्दू फारसी के ज़्यादा निकट थी अतः उसे राजभाषा बनाया गया। परंतु भाषा और साहित्य के स्तर पर अंग्रेजों ने हिंदी–उर्दू में भेदभाव क्यों किया। जिस फोर्ट विलियम कॉलेज में एक ओर मुंशी सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्ला खाँ, लल्लू लाल, सदल मिश्र जैसे हिंदी के रचनाकार थे, वहीं हैदर बख़्श, हैदरी मीर, शेर अली 'अफ़सोस', मीर अम्मन

जैसे उर्दू के अदीब भी थे। वहाँ हिंदी–उर्दू का कोई भेद नहीं था। फिर ऐसा क्या हुआ कि पश्चिमोत्तर प्रांत (अवध प्रांत) में हिंदी के शिक्षकों का वेतन उर्दू के शिक्षकों से कम था। एक विषय के शिक्षक को दूसरे विषय के शिक्षक से कम वेतन दिया जा रहा था, जबकि दोनों भाषा के ही शिक्षक थे। यह साफ़ तौर पर भाषाई–विभाजन की साजिश थी। कहीं ऐसा तो नहीं था कि अंग्रेजी राज हिंदी और उर्दू को आमने–सामने खड़ी करने की प्रक्रिया में लगी थी। जिसमें वह काफ़ी हद तक कामयाब भी रही।

यह अकारण नहीं था कि हिंदी प्रांत में 1870–1880 के दौरान नागरी और हिंदी का आंदोलन तीव्र से तीव्र होता गया। वीरभारत तलवार रस्साकशी में भारतेंदु हरिश्चंद्र और मदनमोहन मालवीय के बारे में लिखते हैं "हिंदी भाषा और लिपि के अलावा भारतेंदु ने अपने जीवन में सबसे बड़ा आंदोलन गोरक्षा के लिए ही किया।... 1890 के दशक में हिंदी भाषी और नागरीलिपि के आंदोलन का नेतृत्व करने वाले मदनमोहन मालवीय ने अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत गोरक्षा के सवाल से की थी।"[27] 'रस्साकशी' में वीरभारत तलवार नागरी आंदोलन के दौरान बार–बार गोरक्षा का प्रश्न केंद्र में ले आते हैं। ऐसा करके वे नागरी लिपी के प्रश्न को सांप्रदायिकता से जोड़ देते हैं। गोरक्षा एक अलग मसला था और नागरी का आंदोलन अलग। हालांकि दोनों का घालमेल करने वाले वीरभारत तलवार यह स्वीकार करते हैं कि "अगर हिंदी को लागू करने की माँग एक जनतांत्रिक माँग न होती तो उसे प्रतीक बनाना भी मुश्किल होता। 19वीं सदी के हिंदी भाषी भद्रवर्ग के दिल में यह बात जमकर बैठी हुई थी कि मुसलमानों की तुलना में उनके साथ अन्याय किया जा रहा है। इनमें भाषाई अन्याय महत्वपूर्ण था।"[28]

सन् 1898 ई. में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से मदनमोहन मालवीय ने लेफ्टिनेंट गर्वनर एवं एंटनी मैकडॉनल को एक मेमोरियल दिया। उस मेमोरियल में यह माँग की गई थी कि अदालतों और सरकारी दफ़्तरों में नागरीलिपि लागू की जाए। आश्चर्यजनक रूप से मात्र दो साल के भीतर यह माँग मान ली गई और सन् 1900 ई. में नागरीलिपि को लागू करने का सरकारी फरमान जारी हो गया। "पश्चिमोत्तर प्रांत में पिछले बत्तीस सालों से चल रहे नागरी आंदोलन की यह पहली बड़ी जीत थी।"[29] क्या यह परिवर्तन अनायास हो गया, या पीछे कुछ कारण थे।

सन् 1894 में एंटनी मैकडॉनल युक्तप्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर बनकर आए। सन् 1896 के रूस–तुर्क युद्ध में तुर्की के प्रति भारतीय मुसलमानों की हमदर्दी थी। ऐसे हालात में मैकडॉनल ने भारतीय मुसलमानों को शक की नजर से देखना शुरू किया। उसने 2 अगस्त 1897 को वाइसराय एलगिन को पत्र में लिखा "मैं इस प्रांत में हिंदुओं की तुलना में मुसलमानों को तरजीह देने के हक में नहीं हूँ। मेरा यकीन है कि इस प्रांत के हिंदुओं के साथ अगर सही ढंग से हम बर्ताव करें तो उससे सरकार को बड़ी ताकत मिलेगी। राज्य की नौकरियों में उनके दावे की अनदेखी करना एक भयंकर राजनीतिक गलती होगी।"[30] लेफ्टिनेंट गर्वनर एंटनी मैकडॉनल के इस पत्र से दो बातें साफ हैं। एक युक्त प्रांत के गर्वनर के नाते उसने यह स्वीकार किया कि अब तक हिंदुओं के साथ सही ढंग से बर्ताव नहीं किया जा रहा था। दूसरा– सरकारी नौकरियों में हिंदुओं का दावा जायज था यानी अब तक उनके साथ अनदेखी की गई थी। जो बात हिंदी और नागरी के समर्थक पहले से कहते आ रहे थे एंटनी मैकडॉनल ने एक तरह से उस पर मुहर लगा दी।

जाहिर सी बात है कि मैकडॉनल के इन कदमों से नागरी और हिंदी समर्थकों में उत्साह पैदा हो गया। "शिक्षित द्विजों में मैकडॉनल कितने लोकप्रिय हुए, इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि हिंदी के सबसे बड़े आलोचक रामचंद्र शुक्ल ने जो सिर्फ गाँधीजी के साथ ही नहीं, तिलक के साथ भी 'मिस्टर' संबोधन जोड़ते थे, मैकडॉनल को बड़े आदर और श्रद्धा के साथ 'परम न्यायशील सर एंटनी मैकडॉनल' लिखा।"[31]

मैकडॉनल की नीति से हिंदी समर्थकों की माँग तो पूरी हो गई। पर क्या मैकडॉनल ने यह नीति सचमुच निष्पक्ष होकर बनाई थी? क्या इससे अंग्रेजी राज का कोई मतलब सधता था? 1897 को वाइसराय, एलगिन को लिखे पत्र में ही इसका उत्तर है। मैकडॉनल ने नागरी को मान्यता दी क्योंकि उसे लगा कि बहुसंख्यक हिंदुओं से सरकार को ताकत मिलेगी। मैकडॉनल प्रत्यक्ष तो नागरी को लागू कर रहा था, अप्रत्यक्ष रूप से वह बहुसंख्यक आबादी को सरकार के पक्ष में झुका भी रहा था। उर्दू को रियायत देकर ब्रिटिश राज ने पहले मुसलमानों का तुष्टिकरण किया। अबकी बार बहुसंख्यक हिंदुओं का तुष्टीकरण हुआ। पहले बहुसंख्यकों की कीमत पर अल्पसंख्यकों के हितों को प्रधानता दी गई। अब बहुसंख्यकों की माँग मानकर अल्पसंख्यकों को डर के माहौल में धकेल दिया गया। "युवा मुस्लिम पीढ़ी ने इन परिवर्तनों को भय और चिंता से देखा मैकडॉनल के मुस्लिम विरोधी कदमों से मुस्लिम प्रेस में कोहराम मच गया।"[32]

हिंदी और उर्दू की साझी–संस्कृति को नुकसान पहुँचाने वाले तत्वों की कमी नहीं थी। प्रश्न यह नहीं है कि किस पक्ष ने किस पक्ष पर पहले हमला किया। महत्वपूर्ण यह है कि अंग्रेजी राज ने अपने फायदे और शासन के लिए

हिंदी उर्दू का कितना इस्तेमाल किया। यह एक तथ्य है कि अंग्रेजी राज से पहले हिंदी उर्दू का कोई विवाद नहीं था। अगर कुछ था भी तो अकबर इलाहाबादी के शब्दों में वह एक पारिवारिक खटपट से ज्यादा कुछ नहीं था– 'आपस में अदावत कुछ भी नहीं, पर एक अखाड़ा जारी है।' अंग्रेजी राज के समय यह खटपट इतनी बढ़ी कि दोनों आमने–सामने हो गए। एक दूसरे के प्रति हमलावर रूख के साथ। वस्तुतः जिसे हम साझा–संस्कृति कहते हैं उसमें दो भिन्न धार्मिक पहचानों की निरंतर मौजूदगी रहती है। "ये पहचानें एक–दूसरे से संवाद व मेलजोल का रिश्ता क़ायम कर सकती हैं, तो मौका पड़ने पर एक–दूसरे के ख़िलाफ़ बल भी आजमा सकती है। शासक वर्गीय स्वार्थ का मौक़ा ताड़कर इन धार्मिक पहचानों को भिड़ा देते हैं।"[33]

संदर्भ

1 वीरभारत तलवार : रस्साकशी (उन्नीसवीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत) सारांश प्रकाशन, मयूर विहार, दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण 2006, पृ. 312–313
2 राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी : गांधीजी, अनुवादक काशिनाथ त्रिवेदी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद, छठा पुनर्मुद्रण, अप्रैल 2008, पृ. 90
3 हिंदी–उर्दू की एकता : मुंशी प्रेमचंद (पुस्तक : हिंदी–उर्दू साझा–संस्कृति, संपादक : मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, चंचल चौहान, कांतिमोहन सोज़, रेखा अवस्थी, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, वसंत कुंज, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति 2011, पृ. 16
4 साझा अतीत; खंडित वर्तमान : सलिल मिश्र, पुस्तक : हिंदी–उर्दू साझा–संस्कृति, पूर्वोक्त, पृ. 57
5 पद्मसिंह शर्मा : हिन्दी, उर्दू और हिंदुस्तानी लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, लोकभारती से पहली बार, 2009, पृ. 105
6 उपरोक्त, 109
7 दुष्यन्त कुमार : साये में धूप, राधाकृष्ण प्रकाशन जगतपुरी, दिल्ली, चौथी आवृत्ति, 2005, पृ. 7
8 उपरोक्त, पृ. 7
9 साझा अतीत खंडित वर्तमान : सलिल मिश्र, उपरोक्त, पृ. 64
10 उपरोक्त, पृ. 65
11 उपरोक्त, पृ. 66
12 उपरोक्त, पृ. 67
13 वीरभारत तलवार : रस्साकशी, पूर्वोक्त, पृ. 251
14 आलोक राय : हिंदी नेशनलिज़्म, ओरियंट लांगमैन, नई दिल्ली, संस्करण 2000, पृ. 22
15 साझा अतीत; खंडित वर्तमान : सलिल मिश्र, पूर्वोक्त, पृ. 62
16 उपरोक्त, पृ. 62
17 रामचंद्र शुक्ल : चिंतामणि (भाग–3), संपादक नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1985, पृ. 71
18 वीरभारत तलवार : रस्साकशी, पूर्वोक्त, पृ. 69
19 आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली, संस्करण 2005, पृ. 262
20 उपरोक्त, पृ. 317
21 वीरभारत तलवार : रस्साकशी, पूर्वोक्त, पृ. 253
22 बारबरा कैली मेटकॉफ़ : इस्लामिक रिवाइवल इन ब्रिटिश इंडिया, देवबंद, 1860–1900, प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1982, न्यू जर्सी, पृ. 38 तथा 48
23 वीरभारत तलवार : रस्साकशी, पूर्वोक्त, पृ. 281
24 उपरोक्त, पृ. 282
25 उपरोक्त, पृ. 259
26 उपरोक्त, पृ. 280
27 उपरोक्त, पृ. 299 और 304
28 उपरोक्त, पृ. 280
29 उपरोक्त, पृ. 326
30 उपरोक्त, पृ. 327
31 उपरोक्त, पृ. 328
32 उपरोक्त, पृ. 328
33 वैभव सिंह : 19वीं सदी में लिपि और राजभाषा का प्रश्न, देखें, पुस्तक हिंदी–उर्दू साझा–संस्कृति, पूर्वोक्त, पृ. 73

3.2 औपनिवेशिक शासन व्यवस्था और नवजागरण

"हिंदुस्तान की जनता हमेशा बादशाही हुकूमत में रही है। उसमें मूर्तिपूजा की ऐसी प्रवृत्ति घर कर चुकी है कि वह अपने इर्द–गिर्द हमेशा कोई ऐसी सत्ता देखना चाहती है जिसकी वह पूजा कर सके। उन्हें एक राजा, शासक या मालिक की जरूरत पड़ती है जिसके हुक्म को वह हमेशा, बिना कोई सवाल किए बजा लाए। हमारी भाषा में पब्लिक जैसा कोई शब्द नहीं है। हम इसकी जगह सरकार शब्द बोलते हैं। हमारे पास नेशनलिज़्म या पैट्रियालिज़्म के प्रतिरूप या पर्यायवाची शब्द नहीं है। हमसे अपने बच्चों के लिए ऊँची शिक्षा देना तो दूर रहा प्राइमरी शिक्षा देने के लिए कहना भी एक गलती होगी। मेरी समझ में भारत ने सभ्यता में बहुत कम उन्नति की है और वह अपने बच्चों की शिक्षा की जिम्मेदारी पूरी करने लायक अभी नहीं बन सका है।"[1] *– हंटर आयोग के सामने भारतेंदु हरिश्चंद्र का बयान (सन् 1882)*

"1857 में भारत ने आजाद होने की कोशिश की। भारतेंदु स्वतंत्रता की बात नहीं करते हैं। भारतेंदु तो उन्नति की बात करते हैं। भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो। वह ये नहीं लिखते हैं कि भारत स्वतंत्र कैसे हो। 1857 में हम ऐसे पिटे कि वे (भारतेंदु) समझ गये कि अब स्वतंत्रता के लिए तो हम आवाज नहीं दे सकते। कुछ साल तो कम से कम नहीं देंगे। हम तो उन्नति की बात सोचें, सुधार की बात सोंचे, ये दबे कुचले लोग ऊठें? उस दौर में ज्यादातर लोग आपको इस दिशा में सोचते दिखायी पड़ेंगे।"[2] *– नामवर सिंह*

हिंदी नवजागरण पर बात करना एक बहुत ही गंभीर और पेचीदा विषय से गुजरने जैसा है। पहला प्रश्न तो यही है जिसे हम 'हिंदी नवजागरण' कहते हैं, क्या सच में वह था भी? रामविलास शर्मा हिंदी नवजागरण के सशक्त पैरोकार हैं, वहीं वीरभारत तलवार हिंदी नवजागरण को एक भ्रामक नाम मानते हैं? दूसरा, हिंदी नवजागरण ने हिंदी प्रदेश में कौन से सकारात्मक बदलाव किए? नवजागरण के पहले और नवजागरण के बाद समाज में क्या–क्या सकारात्मक बदलाव हुए? तीसरा इस नवजागरण का प्रभाव सिर्फ चंद शहरों तक ही रहा या सुदूर देहातों में भी इसकी कोई छाप पड़ी? चौथा, नवजागरण से स्त्रियों, पिछड़ों और दलितों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा? इन सारे प्रश्नों से टकराकर ही नवजागरण पर चर्चा की जा सकती है। हिंदी नवजागरण की चर्चा करते हुए 'उर्दू नवजागरण' को अनदेखा नहीं किया जा सकता। क्या 'हिंदी नवजागरण' की तरह 'उर्दू नवजागरण' का भी अस्तित्व था?

हिंदी प्रदेश में होने वाले नवजागरण के प्रमुख मुद्दों में से थे– शिक्षा, स्त्री प्रश्न और समाज सुधार। हम इस अध्याय में इन तीनों मुद्दों पर क्रमशः चर्चा करेंगें।

शिक्षा का मुद्दा नवजागरण के प्रमुख मुद्दों में था। औपनिवेशिक शासन व्यवस्था के अंतर्गत भारत की (हिंदी प्रदेश) शिक्षा व्यवस्था क्या हो, यह उस दौर का महत्वपूर्ण सवाल था। सर सैयद अहमद, राजा शिवप्रसाद सिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजा जयकिशन दास जैसे लोग इस प्रश्न से गहराई से जुड़े थे। संयुक्त प्रांत में (हिंदी प्रदेश) में शिक्षा के मसले पर बोलते हुए भारतेंदु ने जो कहा, उसकी एक झलक हम आरंभ में देख चुके थे। हंटर आयोग के सामने पश्चिमोत्तर प्रांत तथा अवध प्रांत के बारे में भारतेंदु ने जो बातें कहीं उससे साबित होता है कि–

i) हिंदुस्तान की जनता स्वयं अपना निर्णय लेने में अक्षम है। अतः उन्हें एक राजा या शासक की जरूरत पड़ती है।

ii) हमारी भाषा में (यानी हिंदी) पब्लिक जैसा कोई शब्द नहीं है।

iii) भारतीयों ने अभी बहुत कम उन्नति की है और हम अपने बच्चों को स्वयं शिक्षा नहीं दे सकते।

iv) स्कूलों के प्रबंधन का दायित्व पूरी तरह सरकार (अंग्रेजी राज) के हाथों में रहना चाहिए।

हंटर आयोग के सामने भारतेंदु ने जो कुछ कहा उससे उत्तर भारत की शिक्षा–प्रणाली के बारे में बहुत ही निराशाजनक तस्वीर उभरती है। ऐसा लगता है जैसे उत्तर–भारत (खासकर पश्चिमोत्तर प्रांत) में शिक्षा–व्यवस्था नाम की कोई

चीज ही नहीं थी। क्या भारतेंदु का ऐसा मानना सही था? क्या हंटर आयोग के सामने उन्होंने जो बातें कहीं ये पूर्णतः सच थी? भारतेंदु ने ऐसा क्यों कहा कि भारतीय अपने बच्चों की शिक्षा की जिम्मेदारी पूरी करने लायक भी नहीं बने हैं? भारतेंदु अपने समाज की सच्चाई बताने के साथ–साथ कहीं उस समाज को कोस तो नहीं रहे थे? या फिर भारतेंदु ने ये सारी बातें किसी भावुकता में कह दी? जबकि उन्हीं के समकालीन सैयद अहमद ने "हंटर आयोग के सवालों का जवाब देते हुए परंपरागत देशी शिक्षा संस्थाओं का उतना निराशापूर्ण चित्र नहीं खींचा जितना भारतेंदु ने खींचा। एक किस्म की ऐसी संस्थाओं की उन्होंने तारीफ की और इस शिक्षा प्रणाली को पूरी तरह से खारिज करने के बजाय, लोगों की जरुरतें पूरी होने के कारण उनके बारे में सकारात्मक ढंग से विचार करने और उनका स्तर सुधारने की सिफारिश की।"[3] साथ ही यह भी महत्वपूर्ण तथ्य है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र के एकदम विपरीत सर सैयद अहमद का मानना था कि "भारतीय लोग सिर्फ तभी उन्नति कर सकते हैं जब वे सरकार और उसके हाकिमों की दखलअंदाजी के बिना अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबंध खुद करें और अपनी शिक्षा संस्थाओं को स्वैच्छिक योगदान से अपने नियंत्रण में खुद चलाएँ।"[4] भारतेंदु का मानना था कि स्कूलों का प्रबंधन पूरी तरह अंग्रेजी सरकार के संस्थाओं में सरकारी नियंत्रण के खिलाफ थे। दोनों का मत अलग–अलग था। किसका मत ठीक था, इसका विश्लेषण करने से पहले तब के उत्तर भारत में मौजूद शिक्षा व्यवस्था की पड़ताल करनी होगी।

हमें यह भी देखना चाहिए कि भारत में चार्ल्सवुड डिस्पैच (1854 ई.) और हंटर आयोग से पहले शिक्षा की क्या स्थिति थी? अंग्रेजी राज कायम होने से ठीक पहले या ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के दौरान भारतीय युवक किस तरह से शिक्षित हो रहे थे? हंटर आयोग ने अपने एक सवाल में (सवाल संख्या

4) जब पश्चिमोत्तर प्रांत की 'देशी शिक्षा व्यवस्था' के बारे में पूछा तो "जवाब में भारतेंदु ने अपने वक्त के सात किस्मों के देशी स्कूलों के बारे में बताया जिनकी कुल संख्या प्रांत में सभी सरकारी स्कूलों से कहीं ज्यादा थी– 1. चटसाल जहाँ मुख्यतः लाभ–हानि का हिसाब करना सिखाया जाता था और नागरी के अलावा कैभी या महाजनी लिपि भी सिखाई जाती थी। 2. संस्कृत स्कूल जहाँ पंडित दर्शन, तर्क, ज्योतिष तथा व्याकरण न्याय और साहित्य पढ़ाते थे। 3. धार्मिक स्कूल जहाँ वेद मीमांसा और वेदांत आदि पढ़ाए जाते थे। 4. बही–खाता रखने और महाजनी सिखाने के स्कूल जिन्हें मुनीम चलाते थे। 5. मकतब जहाँ मौलवी साहब हिंदू और मुसलमान बच्चों को पुराने ढंग से फारसी सिखाते थे और जिसमें कुछ किताबें रटाई जाती थीं। 6. अरबी स्कूल जहाँ विमान मौलवी अरबी साहित्य, अरबी व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन, चिकित्सा पद्धति और धर्मशास्त्र पढ़ाते थे। इन स्कूलों में ज्यादातर मुसलमान बच्चे मकतब से फारसी की शिक्षा पूरी करने के बाद आते थे। 7. कुरआन स्कूल जो अभिजात मुस्लिम परिवारों के द्वारा चलाए जाते थे। इनमें मस्जिद का मुल्ला बच्चों को कुरआन ककी आयतें याद कराता और नमाज पढ़ना सिखाता।"[5] इस लंबे उद्धरण का उल्लेख करने का अर्थ यह दिखाता है कि औपनिवेशिक शासन व्यवस्था के दौरान संयुक्त प्रांत की पारंपरिक या देशी शिक्षा–व्यवस्था कैसी थी। कहीं संस्कृत स्कूल था तो कहीं अरबी स्कूल, कहीं वेद, वेदांत पढ़ाए जा रहे थे तो कहीं मस्जिद का मुल्ला बच्चों को कुरआन की आयते रख रहा था। इसी सवाल का जवाब देते हुए भारतेंदु ने यह भी माना कि इन देशी स्कूलों में सरकारी स्कूलों जैसा अनुशासन भी नहीं होता। साथ ही गाँवों के शिक्षक खेती या दूसरे रोजगार भी करते हैं। भारतेंदु जिस माहौल का उल्लेख कर रहे थे वह एक ठहरे हुए समाज का चित्र था। उसमें गति नहीं थी। थी

भी जो इतनी धीमी कि उसे महसूस करना कठिन था। ऐसे में हंटर आयोग के सामने भारतेंदु का पारंपरिक शिक्षा–व्यवस्था पर 'कुढ़ना' स्वाभाविक ही था।

भारतेंदु की इस 'खीझ' के और भी कई कारण थे। भारतेंदु बंगाल के नवजागरण से पूरी तरह वाकिफ थे। उन्हें पता था कि नवजागरण के लिए शिक्षा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भारतेंदु बंगाल के नवजागरण और उसकी शिक्षा व्यवस्था से वाकिफ थे। ऐसे में जब वे अपने प्रांत की ओर देखते तो उन्हें अंधेरा ही अंधेरा दिखता। "वैसे तो बंगाल में पहला स्कूल 1814 में खुल गया था, लेकिन 1830 के दशक में यहाँ अंग्रेजी शिक्षा की मात्र बहुत बढ़ गई थी। 1831 की शिक्षा विभाग की एक रिपोर्ट के मुताबिक कंपनी की सरकार उतने स्कूल खोलने में असमर्थ थी जितने लोग चाहते थे। लिहाजा हर जिले में सरकार से स्वतंत्र अंग्रेजी ढंग के स्कूल निजी प्रयत्नों से खोले जाने लगे। बहुत से धनी लोगों ने अपने–अपने मुहल्ले में अपने पैसों से स्कूल खोले।"[6] सन् 1830–31 में बंगाल के मुहल्ले में अंग्रेजी स्कूल चल रहे थे वह भी निजी प्रयत्नों से। उसके 50 साल बाद भी संयुक्त प्रांत में संस्कृत स्कूल, कुरआन स्कूल और चटसाल का ही बोलबाला था। इतना ही नहीं "1844 में बंगाल में बंगला माध्यम से शिक्षा देने के लिए एक सौ स्कूल खोलने की लार्ड हार्डिंग की योजना को सफल बनाने के लिए विद्यासागर ने काफी प्रयत्न किया। 1854 के बाद सरकार ने पहला मॉडल बंगाली स्कूल खोला। उसकी पूरी योजना विद्यासागर ने बनाकर दी थी। बंगला के माध्यम से आधुनिक शिक्षा देने की विद्यासागर की योजनाओं को सरकारी साधनों का सहारा मिल जाने से 1855 से 1856 के बीच विद्यासागर ने नदिया, हुगली, बर्दवान और मिदनापुर जिलों में कुल बीस मॉडल बंगला स्कूल कायम किए। 19वीं सदी में ईश्वरचंद्र विद्यासागर एक मिसाल थे कि देशी लोग शिक्षा के प्रबंध और संचालन में क्या

कुछ कर सकते हैं।"[7] भारतेंदु ने हंटर आयोग के सामने साफ–साफ कहा था कि उन्हें देशी लोगों से शिक्षा के क्षेत्र में कोई उम्मीद है। भारतेंदु को लगता था कि देशी लोग ना तो शिक्षा का प्रबंधन कर सकते हैं ना संचालन। भारतेंदु को इस मत (हंटर आयोग के सामने 1882 ई. के बयान) को जबकि 30 साल पहले ही बंगाल में ईश्वरचंद्र विद्यासागर झूठला चुके थे।

औपनिवेशिक शासन व्यवस्था के दौरान और भारतेंदु के जीवनकाल में ही भारतीयों ने अपनी एक समानांतर शिक्षा–प्रणाली विकसित करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया। वे इस प्रयास में काफी सफल भी हुए। बंगाल में निजी प्रयासों से अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना और निजी प्रयासों से अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना और ईश्वरचंद्र विद्यासागर की भूमिका पर हम चर्चा कर चुके हैं। ऐसा ही एक और प्रयत्न पंजाब और लाहौर में भी शुरू हुआ। भारतेंदु का मानना था कि हिंदुस्तान में 'पब्लिक' जैसी कोई चीज नहीं है, जबकि यह एक भ्रामक धारणा थी। आर्यसमाज, दयानंद सरस्वती और डी.ए.वी. स्कूल–कॉलेज की स्थापना ने भारतेंदु की धारणा को खंडित कर दिया। "जब भारतेंदु हंटर आयोग से शिक्षा के निजी प्रयत्नों के प्रति विरोध प्रकट कर रहे थे उस समय, मई 1882 की 'आर्य मैग़्जीन' पत्रिका में निजी प्रयत्नों से ऐसी शिक्षा संस्था खोलने का संकल्प लिया जा रहा था जिसमें स्कूल के भारतीय वातावरण में अंग्रेजी भाषा और आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की पढ़ाई के साथ–साथ अपने धर्म और संस्कृति की शिक्षा भी अनिवार्य रूप से दी जाए। ऐसी संस्था पर सरकार का कोई नियंत्रण न हो। यही संकल्प आगे एंग्लो–वैदिक स्कूल–कॉलेजों के रूप में साकार हुआ।"[8] कुछ आलोचकों ने दयानंद सरस्वती की शिक्षा प्रणाली को पुनरुत्थानवादी कहा है, जो कि भ्रामक है। यह सच है कि दयानंद सरस्वती ने अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली से अलग प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली पर जोर दिया

परंतु उन्होंने कभी भी आधुनिक ज्ञान–विज्ञान का विरोध नहीं किया। अगर दयानंद सरस्वी पुनरुत्थानवादी होते तो वे स्त्रियों और दलितों को शिक्षित करने के लिए अपने स्कूल–कॉलेज के दरवाजें नहीं खोलते। आर्य समाज भारतीय युवकों को शिक्षित करने के लिए अंग्रेजी राज का मोहताज नहीं था। "आर्यसमाजी शिक्षा संस्थाओं का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष उनका देशी प्रबंध ही था... 8 नवंबर 1883 में लाहौर की एक सार्वजनिक सभा में इस शिक्षा संस्था (एंग्लो–वैदिक स्कूल–कॉलेज) को बनाने का प्रस्ताव पास किया गया। जिस पब्लिक के अस्तित्व से भारतेंदु को इनकार था, उसी पब्लिक ने कॉलेज खोलने के लिए उस सभा में उत्साह के साथ 6000 रु. दिए।"[9]

भारतीय नवजागरण यूरोपीय ज्ञान–विज्ञान से अलगाव का पक्षधर नहीं था। बल्कि वह यूरोपीय संपर्क से आधुनिक ज्ञान–विज्ञान हासिल कर रहा था और भारतीय संस्कृति को एक आधुनिक समाज में तब्दील कर रहा था। बंगाल के नवजागरण के संदर्भ में यह बात काफी हद तक सही मालूम होती है। बंगाल के समाज–सुधारको ने एक ओर यूरोपीय ज्ञान–विज्ञान की सहायता ली तो दूसरी ओर निजी स्तर पर भी प्रयत्न किया। लेकिन संयुक्त प्रांत में "हिंदी भाषी समाज में 19वीं सदी में ऐसा कोई महत्वपूर्ण प्रयत्न हुआ ही नहीं। औपनिवेशिक शिक्षातंत्र के बाहर शिक्षा के किसी भी वैकल्पिक प्रबंध को और उसमें निजी प्रयत्नों की किसी भी भूमिका को नहीं देख पाना भारतेंदु की सिर्फ अपनी सीमा नहीं थी। यह उस वक्त के पश्चिमोत्तर (प्रांत के हिंदी भाषी समाज की वास्तविक स्थिति को और उसके तथाकथित नवजागरण की असली कमजोरी को प्रकट कर देता है।"[10] इस संदर्भ में वीरभारत तलवार भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा स्थापित चौखंबा स्कूल का उदाहरण देते हैं। सन् 1867 में भारतेंदु ने बनारस में चौखंबा स्कूल की स्थापना की। तब इस स्कूल में तीस

छात्र थे। भारतेंदु के इस स्कूल के संरक्षकों में राजा शिवप्रसाद सिंह, भूदेव मुखर्जी और सैयद अहमद खाँ जैसे प्रतिष्ठित और विद्वान लोग थे। भारतेंदु के जीवित रहते स्कूल प्राइमरी का प्राइमरी ही रहा। "भारतेंदु की मृत्यु के बाद राजा शिवप्रसाद के सुझाव पर स्कूल का नाम हरिश्चंद्र चौखंभा स्कूल रखा गया। भारतेंदु के न रहने पर स्कूल सरकारी सहायता से 1888 में प्राइमरी से मिडल हुआ, फिर हाई स्कूल में विकसित हुआ। सरकारी सहायता रूक गई तो स्कूल फिर से मिडल हो गया। ...हरिश्चंद्र चौखंभा स्कूल का यह इतिहास हिंदी नवजागरण में शिक्षा के प्रयत्नों पर अपने आप में टिप्पणी है जिस पर अलग से कुछ कहने की जरूरत नहीं।"[11] आखिर क्या कारण था कि जब भारत के अलग–अलग प्रांतों में शिक्षा के लिए निजी प्रयत्न हो रहे थे, तब 'हिंदी–प्रदेश' लगभग जड़ था। "सन् 1895 में अखिल भारतीय नवजागरण की प्रतिनिधि संस्था इंडियन सोशल कान्फ्रेंस के सालाना जलसे में भाषण देते हुए महादेव रानाडे ने पश्चिमोत्तर प्रांत में आधुनिक शिक्षा का प्रसार न हो पाने का कारण वहाँ की पिछड़ी हुई परिस्थितियों को माना। उन्होंने कहा कि वहाँ न तो आर्य समाज के पैर जम सके और न ब्राह्मोसमाज ही कोई असर डाल सका। वहाँ के लोग बहुत धीमी गति से चलते हैं। बढ़िया प्राकृतिक स्थिति और आबोहवा के बावजूद पश्चिमोत्तर प्रांत की परिस्थितियों की मौजूदा विशेषता यहाँ के लोगों का आलस और पिछड़ापन है।"[12]

अगर महादेव रानाडे का कहना सही था तो फिर 1857 की क्रांति में बढ़–चढ़कर भाग लेने वाले लोग क्या थे। अवध प्रांत के इन धीमी गति से चलने वाले लोगों के कदम मेरठ से होते हुए दिल्ली तक कैसे पहुँच गए। अगर यहाँ के लोग 'आलसी' थे तो फिर 1857 की क्रांति की अग्रिम पंक्ति में लड़ने वाले सैनिकों को हम क्या कहेंगे?

संयुक्त प्रांत में नवजागरण का प्रश्न सिर्फ शिक्षा और समाज सुधार से ही नहीं जुड़ा था। यह स्वाभिमान और स्वतंत्रता की आकांक्षा से भी जुड़ा था। रामविलास शर्मा जब हिंदी नवजागरण की बात करते हैं तो यह भी कहते हैं "फौज के भीतर वाले किसानों के साथ, गाँव के गैर–फौजी किसान थे और दोनों ने मिलकर जो हथियार बंद लड़ाई चलायी वैसी लड़ाई न तो सन् 1857 से पहले कभी चलायी गयी थी, न उसके बाद कभी चलायी गयी। लड़ने वाले किसानों में केवल उच्चवर्ण के हिंदू नहीं थे, उनके साथ निम्नवर्ण के सैकड़ों आदमी थे। हिंदुओं के साथ हजारों मुसलमान थे, धर्म और वर्ण की सीमाएँ तोड़कर।"[13] शिक्षा के क्षेत्र में हिंदी प्रांत की सीमाऐं हैं पर अपनी गुलामी की सीमा से बाहर निकलने का जो प्रयत्न इस प्रांत ने किया, वह अतुलनीय है। क्या नवजागरण का अर्थ स्वाधीनता की आकांक्षा नहीं है? क्या नवजागरण का अर्थ दासता से मुक्ति पाना नहीं है? अपनी शासन व्यवस्था की आकांक्षा और औपनिवेशिक साम्राज्य से मुक्ति क्या नवजागरण के प्रमुख तत्व नहीं है।

यह तथ्य स्पष्ट है कि हिंदी नवजागरण की कुछ सीमाऐं थी। हर आंदोलन और विचारधारा की कुछ सीमाऐं होती है परंतु चंद सीमाओं के कारण संपूर्ण उपलब्धि को खारिज नहीं किया जा सकता। अपने लेख 1857 और हिंदी नवजागरण में दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं "हिंदी नवजागरण के लेखक धार्मिक रूढ़ियों से बँधें हुए दिखायी देते हैं, इसलिए वहाँ 'वर्ण–व्यवस्था' का विरोध नहीं समर्थन है। दलित–समस्याओं के प्रति उदासीन हैं। ज्योतिबा फुले के कार्यों, आंदोलन पर कहीं चर्चा दिखायी नहीं पड़ती है। यदि हिंदी नवजागरण इन सवालों पर चुप्पी साध लेता है तो इसका सीधा और सरल निष्कर्ष यही है कि नवजागरण तथाकथित उच्चवर्णियों का आंदोलन था और उसमें वही मुद्दे मुखर थे जिनसे उनका संबंध था।"[14] ओमप्रकाश वाल्मीकि

का यह वक्तव्य नवजागरण की उपलब्धियों और सीमाओं पर गंभीर प्रश्न उठाता है। ऐसा नहीं है कि ओमप्रकाश वाल्मीकि हवा में यह टिप्पणी कर रहे हैं वे तर्क भी प्रस्तुत करते हैं– "हिंदी नवजागरण की सबसे बड़ी संस्था भी भारत धर्म महामंडल थी। जिसका नेतृत्व मदन मोहन मालवीय करते थे। बालमुकुन्द गुप्त, प्रताप नारायण मिश्र इसी संस्था से जुड़े थे। यह संस्था 1887 में हरिद्वार में महारानी विक्टोरिया की जुबली मनाने के लिए बुलाए गये सनातन धर्मियों के सम्मेलन में शुरू हुई थी इस संगठन का सदस्य बनने के लिए 'विधवा–विवाह' का विरोध होना जरूरी शर्त थी। यह संगठन जाति व्यवस्था का कट्टर समर्थक था।"[15] नवजागरण के ये सारे अंतर्विरोधों को ओमप्रकाश वाल्मीकि पहली बार सामने नहीं ला रहे। इन अंतर्विरोधों की ओर पहले के विद्वानों–साहित्यकारों ने भी इशारा किया है। अक्सर आंदोलनों में कोई न कोई अंतर्विरोध होता ही है। कई बार ये अंतर्विरोध सामान्य और मामूली होते हैं, कई बार ये अंतर्विरोध सामान्य और मामूली होते हैं, कई बार काफी गंभीर। महत्वपूर्ण यह है कि हम इन अंतर्विरोधों को ऐतिहासिक संदर्भ में देखते हैं या नहीं। ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी नवजागरण के अंतर्विरोधों की तार्किक व्याख्या करते हैं परंतु इसके साथ ही वे स्वीकार करते हैं "हिंदी नवजागरण स्वतंत्रता के मुद्दे पर जागरुक था।"[16]

नवजागरण का एक महत्वपूर्ण प्रश्न राजभक्ति बनाम राष्ट्रभक्ति का है। हिंदी प्रदेश के साहित्यकार क्या सच में अपने देशवासियों की मुक्ति के लिए कृतसंहहियत थे, या फिर चंद मौकों पर ही ये देशभक्ति का प्रदर्शन करते थे। कही ऐसा तो नहीं कि अंग्रेजी राज के विश्वासपात्र बने रहने की आकांक्षा उनके स्वाभिमान और विद्रोही तेवर को नियंत्रित करती थी। उस काल में मध्यम वर्ग का पढ़ा–लिखा युवक सरकारी नौकरी पाकर अपने को धन्य

समझता था। जबकि भद्रवर्ग प्रशासनिक पदों को पाकर गौरवान्वित होता था। यह प्रवृत्ति सिर्फ हिंदी भाषा के संदर्भ में ही नहीं थी। बल्कि उर्दू और मुसलमान रहनुमाई का दावा करने वाले भी इसमें शामिल थे। "सैयद अहमद ने 1886 में कांग्रेस के खिलाफ देशभक्तों का (यानी राज भक्तों का) एक मोर्चा बनवाया था जिसमें शिवप्रसाद भी शामिल हुए थे। बहुत जल्दी नेतृत्व को लेकर मतभेद हो जाने के कारण शिवप्रसाद इससे अलग हो गए।"[17]

औपनिवेशिक सत्ता और नवजागरण पर बात करने के दौरान डॉ. रामविलास शर्मा को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने दो महत्वपूर्ण पुस्तकों 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' तथा 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' के माध्यम से इस प्रश्न पर विचार किया है। डॉ. रामविलास शर्मा 1857 के विद्रोह को हिंदी नवजागरण का प्रस्थान बिंदु मानते हैं। उन्होंने यह भी माना है कि यह सिर्फ सैनिकों का विद्रोह नहीं था, बल्कि यह आम जनता के व्यापक असंतोष से जुड़ा था। इस विद्रोह में एक ओर अंग्रेजी साम्राज्यवाद को उखाड़ फेकने की लालसा थी तो दूसरी ओर हिंदू–मुसलमान की साझी संस्कृति की स्थापना का प्रयास भी था। यह अकारण नहीं है कि दिल्ली पहुँचने वाले विद्रोहियों ने बहादुरशाह जफर को अपना नेता माना। इस संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा का तर्क बिल्कुल जायज है कि "1857 के स्वाधिनता संग्राम का चरित्र असांप्रदायिक और राष्ट्रीय था और राजसत्ता की मूल समस्या सामंतों के नहीं जनता के हित में हल की गई थी।"[18] रामविलास शर्मा ने यह माना है कि भारतेंदु और उनकी मंडली का लेखन 1857 के विद्रोह की पृष्ठभूमि में निर्मित हुआ है। साथ ही इनका लेखन 1857 की विरासत को आगे बढ़ाता है। रामविलास शर्मा भारतेंदु मंडली पर लगने वाले आरोपों से भली–भाँति परीचित

थे। ये उसका उत्तर देते हुए कहते हैं– "जो लोग मानते हैं कि 1857 में कुछ देशी सामंत अपने स्वार्थों के लिए ही लड़े थे, वे अक्सर यह भी मानते हैं कि भारतेंदु युगीन साहित्य की मुख्यधारा अंग्रेजी राज के प्रति भक्तिभाव से प्रेरित थी, ऐसे लोगों के लिए 1857 से भारतेंदु युग को जोड़ने वाला कोई सूत्र हो ही नही सकता।... भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके समकालीन लेखकों को 1857 से जोड़ने वाली दो मुख्य चीजें हैं– (1) राष्ट्रय स्वाधीनता का उद्देश्य और (2) अंग्रेजी राज के स्वरूप की पहचान।"[19] भारतेंदु युग के साहित्य का विश्लेषण करते हुए रामविलास जी ने 'स्वत्व निज भारत गहै' जैसी पंक्तियों को जातीय अस्मिता की खोज के रूप में देखा। 'निज भाषा उन्नति अहे, सब उन्नति को मूल' को उन्होंने भाषाई अस्मिता की तलाश के रूप में देखा।

रामविलास शर्मा ने सामंतवाद विरोध के साथ–साथ साम्राज्यवाद विरोध को हिंदी नवजागरण की मूल विशेषता माना है। अगर इस लिहाज से देखा जाए तो हिंदी नवजागरण बांग्ला और मराठी नवजागरण से भी ज्यादा प्रगतिशील साबित होगा। वस्तुतः 19वीं सदी के किसी भी महत्वपूर्ण समाज सुधारक ने अंग्रेजी राज का विरोध नहीं किया था। चाहे वह राजा राममोहन राय हों ईश्वरचंद्र विद्यासागर हों या ज्योतिबा फुले। बल्कि कई अवसरों पर इन्होंने अंग्रेजी राज की प्रशंसा ही की है। ज्योतिबा फुले ने अपनी किताब 'गुलामगीरी' में ब्राह्मणवादी वर्ण–व्यवस्था की आलोचना करते हुए, 'सिविलाइज्ड ब्रिटिश गवर्नमेंट' की न सिर्फ प्रशंसा की, बल्कि अंग्रेजों की साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था के बने रहने पर जोर दिया।[20] महात्मा ज्योतिबा फुले नाम से फुले की जीवनी लिखने वाले मनोहर काले कहते हैं– "जोतीराव द्वारा अंग्रेजी शासन की स्तुति–प्रशंसा का अभिप्राय यह नहीं निकालना चाहिए कि उनमें देश–भक्ति की भावना का नितांत अभाव था। तथा वे समकालीन विदेशी

शासन के प्रत्येक निर्णय को सिर झुकाकर उचित ठहराते थे।"[21] राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की और बदले में सुधार कार्यों में उनसे सहयोग पाया यह एक सर्वज्ञात तथ्य है। दयानंद सरस्वती ने भी अंग्रेजी राज का विरोध नहीं किया था। वीरभारत तलवार मानते हैं कि 'आर्य समाज के इतिहासकारों ने अपने पहले दौर' (1883–1918) के राजनीतिक इतिहास को तटस्थता और राजभक्ति का युग कहा है। स्वयं दयानंद ब्रिटिश सरकार के समर्थक थे, क्योंकि वे उसे अपने सुधार और प्रचार के कार्यों की दृष्टि से सार्थक ही मानते थे।"[22]

नवजागरण के दौर में आखिर वह क्या था जिसके कारण प्रकाशमान और तेजस्वी दिखने वाले 'महापुरुष' भी संदेह के दायरे में थे। इन महापुरुषों की उज्ज्वल कीर्ति में कहीं–न–कहीं राजभक्ति का धब्बा क्यों लगा हुआ है? '1857 और हिंदी नवजागरण' शीर्षक निबंध में पुरुषोत्तम अग्रवाल कहते हैं– "1857 की राजनीति का मूल स्वर यदि 'सचेत वैर भाव' Concious hostility का था तो हिंदी नवजागरण की राजनीति का मूल स्वर 'सचेत राजभक्ति' Concious loyality का था... हिंदू और मुस्लिम दोनों ही समुदायों के नेताओं द्वारा अपने लिए चुनी गई ऐतिहासिक समस्या मूलतः एक ही थी– 'नए शासनतंत्र के अंतर्गत अपने समुदाय की बेहतरी कैसे हासिल की जाए।' बाकी सवाल रणनीति के थे– बेहतरी का लक्ष्य पाश्चात्य सभ्यता को अपनाकर हासिल किया जा सकता है या अपनी धार्मिक परंपरा की विशुद्धता बनाए रखकर? ब्रिटिश राज के साथ सक्रिय सहयोग कर अपने समुदाय की बढ़ती की जा सकती है या उसके प्रति उदासीनता बरत कर?"[23] पुरुषोत्तम अग्रवाल जिस तर्क से हिंदी नवजागरण का मूल स्वर 'सचेत राज भक्ति' मान

रहे हैं, उसी तर्क से क्या बांग्ला और मराठी नवजागरण को नहीं देखा जा सकता। बंगाल और महाराष्ट्र के समाज सुधारकों में ऐसा कौन था जो खुलेआम अंग्रेजी राज को चुनौती दे रहा था? बांग्ला और मराठी नवजागरण का गौरव गान करना और हिंदी नवजागरण को मिथ्या तथा भ्रामक बताना क्या तार्किक है?

ऐसा नहीं कि डॉ. रामविलास शर्मा को भारतेंदु और उनकी मंडली की सीमाओं का ज्ञान नहीं था। रामविलास शर्मा स्पष्ट लिखते हैं– "भारतेंदु कालीन साहित्य में शायद 1857 के संग्राम का स्पष्ट प्रशंसात्मक उल्लेख नहीं है।" यह भी सच है कि भारतेंदु ने महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा में 'विजयिनी विजय पताका' कविता रची थी और उसे महारानी को भेजने की सिफारिश भी की थी। साथ ही यह भी उतना ही सच है कि प्रतापनारायण मिश्र ने 1857 के विद्रोह को बलवे की संज्ञा दी और राजभक्ति को सनातन धर्म माना। प्रतापनारायण मिश्र के शब्द है– "जिस राजा ने हमको थोड़ा अच्छी तरह रखा हम उसी के उपासक हो जाते हैं। हमारे समान कोई विरली ही जाति राजभक्त होगी। राजा की जाति, धर्म, आचार–व्यवहार कुछ भी हो, हम उसे मान्य करते हैं।... फिर जो कोई भी हमारी राजभक्ति पर संदेह करे वह अवश्य न्याय के गले में छूरी फेरता है।"[24] रामविलास शर्मा ने भारतेंदु कालीन साहित्य में 1857 के संग्राम के प्रशंसात्मक उल्लेख न होने को रेखांकित किया है परंतु भारतेंदु कालीन साहित्य में 1857 की क्रांति की निंदा पर काफी कुछ है। प्रतापनारायण मिश्र ने 1857 की क्रांति को 'नेशन पर कलंक' तक बताया "हमारे इस सिद्धांत (राजभक्ति) का खंडन आधुनिक गर्वनमेंट के झूठे खुशामदी सन् 1857 के बलवे के सिवा और कोई दोष नहीं लगा सकते। पर उन्हें भी यह समझना चाहिए कि वह अपराध प्रजा का न था, किसी प्रतिष्ठित हिंदू मुसलमान का दोष न

था, केवल थोड़ी सी अदूरदर्शिता के कारण हमारे भारतीय नेशन मात्र को कलंक लगाना बुद्धिमत्ता से दूर है। यदि मान ही ले कि वह अपराध हिंदुस्तानियों का ही था तो भी इसका क्या उत्तर है कि उस घोर संकट के समय में हमारी सरकार को सचमुच सहायता किसने दी? हम ही ने। क्योंकि हम राजभक्त हैं। राजभक्ति हमारा संनतन धर्म है।"[25] तो क्या बाबू कुँवर सिंह बहादुरशाह जफ़र, मंगल पाण्डेय, तांत्या तोपे, लक्ष्मीबाई, बेगम हजरतमहल अदूरदर्शी थे। क्या ये सारे क्रांतिकारी प्रतिष्ठित हिंदू और मुसलमान नहीं थे? जाहिर है नवजागरण का साहित्य अंतर्विरोधों से मुक्त नहीं है।

अंग्रेजी राज की भक्ति और प्रशंसा में काफी कुछ लिखा गया, परंतु क्या इस कारण हम उस दौर के साम्राज्यवाद विरोधी साहित्य को नकार दे। फिर 'अंधेर–नगरी' और 'भारत–दुर्दशा' का क्या होगा? बालमुकुंद गुप्त के 'चिट्ठों का क्या होगा?' बालकृष्ण भट्ट और 'हिंदी प्रदीप' के निबंधों का क्या होगा? 'हिंदी प्रदीप' के दिसम्बर 1882 ई. के अंक में बालकृष्ण यह लिखते हैं "राजभक्ति और प्रजा का हित दोनों का साथ कैसे निभ सकता है? जैसे हँसना और गाल का फुलाना, बहुरी चबाना और शहनाई का बजाना एक संग नहीं हो सकता ऐसे ही यह भी असंभव और दुर्घट है।... राजभक्ति का फल पहले देखने में बड़ा मीठा है पर परिणाम में महामन्दकारी और रूखा है। प्रजा के हित का फल यद्यपि कड़वा फीका और अरोचक है पर अन्त को बड़ा उत्तेजक वीर्यवर्धक और पौष्टिक है।"[26] ठीक इसी प्रकार बालमुकुंद गुप्त ने 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में अंग्रेजी राज की खबर ली है। "अंग्रेजों और अंगरेजी राज की करतूतों का शिल्पीय प्रयोग की दृष्टि से भंडाफोड़ करना और भारतीयों में सभ्यता और संस्कृति की सर्वोच्चता के द्वारा देश के प्रति भक्ति पैदा करना स्वाभिमान उत्पन्न करने का प्रयत्न करना तथा साहित्यिक दृष्टि से व्यंग्य और

विनोद के द्वारा मनोरंजन करना, रस उत्पन्न करना तीनों प्रकार के कार्य एक साथ करने का जो कलात्मक प्रयोग बालमुकुंद गुत जी ने किया है, वह अत्यंत दुर्लभ है।"[27]

नवजागरण के केंद्र में राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति का प्रश्न रहा है। इस प्रश्न को और केन्द्रित कर लिया जाए तो यह भारतेंदु हरिश्चंद्र पर आकर टिक जाता है। चूँकि हिंदी नवजागरण के अग्रणी लोगों में भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनकी मंडली थी, ऐसे में भारतेंदु की ब्रिटिश भक्ति और भारत भक्ति पर विचार करना जरूरी है। उस काल का वर्णन करते हुए वीरभारत तलवार लिखते हैं– "यह सच है कि राजा शिवप्रसाद बहुत नग्न ढंग से भारतीयों की निंदा और अंग्रेजों की तारीफ करते थे। लेकिन भाटों की परंपरा पर चलते हुए भारतेंदु ने ड्यूक ऑफ एडिनबरा की नववाधू की मुँह दिखावनी लिखने से लेकर महारानी की जीवन रक्षा के लिए अपने स्कूल के बच्चों से गीत गवाने तक अंग्रेजों की तारीफ में समय–समय पर जो पद्य बनाए, आज की दृष्टि से वे भी उतने ही कुरुचिपूर्ण और भद्दे थे।"[28] यह सच है कि भारतेंदु की रचनाओं में राजभक्ति का तत्व मौजूद है, पर क्या इस कारण भारतेंदु को 'भाट परंपरा' का रचनाकार कहना उचित है? तलवार ने 'रस्साकशी' में ऐसे प्रसंगों का विस्तार से उल्लेख किया है पर वे भारतेंदु की साम्राज्यवाद विरोधी लेखन पर लगभग चुप्पी साध लेते हैं। यह कैसी 'रस्साकशी' है, जिसमें भारतेंदु को अंग्रेजों का भाट सिद्ध करने पर सारा जोर लगा दिया गया।

अगर भारतेंदु अंग्रेजों के भाट होते तो वे 'लेवी प्राणलेवी' जैसे लेख नहीं लिखते। अंग्रेजों के सामने जो लोग अपना आत्म–सम्मान खोकर उनकी चापलूसी करते थे उनसे भारतेंदु को सख्त चिढ़ थी। भारतेंदु ने इस लेख में

ऐसे चापलूसों की जमकर खबर ली है। भारतेंदु का लेख सन् 1870 का है। "यह सब 1870 में लिखने के लिए सत्यप्रियता और साहस दोनों की जरूरत थी। भारतेंदु उस समय बीस साल के युवक लेखक ही थे।"[29] यही नहीं 30 नवम्बर 1872 की 'कविवचन–सुधा' में भारतेंदु ने एक अंग्रेज स्तोत्र छाया था, जिस पर यह टिप्पणी थी, जो लोग अंग्रेज हाकिमों की बहुत खुशामद करते हैं, उनको यह स्तोत्र कंठस्थ कर लेना चाहिए। इस स्तोत्र में अंग्रेजों की प्रशंसा बहुत ही व्यंग्यपूर्ण तरीके से की गई है– "चुंगी और पुलिस तुम्हारी दोनों भुजा हैं, अमले तुम्हारे नख हैं, अंधेर तुम्हारा पृष्ठ है और आमदनी तुम्हारा हृदय है; अतएव हे अंग्रेज! हम तुमको प्रणाम करते हैं।"[30]

भारतेंदु सिर्फ अपने नाटकों में ही अंग्रेजी राज की नीतियों का विरोध नहीं कर रहे थ। अपितु वे 'कविवचन–सुधा' में अपने लेखों के माध्यम से भी ऐसा कर रहे थे। 22 दिसम्बर 1872 की 'कविवचन–सुधा' में उन्होंने अंग्रेजों की व्यापार नीति को घोर आलोचना की है और दिखाया कि कैसे भारत का सारा धन इंग्लैंड चला जा रहा था। तब न तो दादा भाई नौरोजी का धन निकासी का सिद्धांत था न ही कांग्रेस पार्टी का अस्तित्व। भारतेंदु लिखते हैं– "चाहे कैसे भी द्रव्य एकत्र किया हो अन्त में सब जायेगा विलायत में, क्योंकि हमारी शोभा की सब वस्तुएँ वहाँ से आयेंगी; कपड़ा, झाड़–फानूस खिलौन कागज और पुस्तक इत्यादि सब वस्तु विलायत से आयेंगी उसके बदले यहाँ से द्रव्य जाएगा तो परिणाम यह होगा कि चाहे किसी उपाय से द्रवय लो अन्त में तुम्हारे देश से निकल जाएगा।"[31] भारतेंदु एक ओर भारतीय धन के विदेश चले जाने से विचलित थे तो दूसरी ओर इसे रोकने का मार्ग भी बता रहे थे। यह अकारण नहीं है कि भारतेंदु लगातार अपने लेखन में 'स्वदेशी' का प्रचार कर रहे थे। भारतेंदु ने जब स्वदेशी अपनाने की और विलायती वस्तुओं के बहिष्कार

की बात कही थी तब न 'स्वदेशी–आंदोलन' का जन्म हुआ था न ही कोई महात्मा गाँधी को जानता था। भारतेंदु ने स्वदेशी के व्यवहार के लिए प्रतिज्ञा–पत्र भी लिखा था और उस पर आम लोगों से हस्ताक्षर भी करवाए थे। आज के हिसाब से देखें तो वह एक 'मास पीटीशन' (Mass Petition) था। विदेशी वस्तुओं के बरक्स स्वदेशी अपनाने का सार्वजनिक प्रतिज्ञा पत्र था। 23 मार्च 1874 को 'कविवचन–सुधा' में यह प्रतिज्ञा–पत्र प्रकाशित हुआ था। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार "हिंदुस्तान के स्वाधीनता–संग्राम में यह प्रतिज्ञापत्र स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है।"[32] उस प्रतिज्ञा–पत्र के शब्द हैं–

"हम लोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेंगे और जो कपड़ा कि पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास है उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लायेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भाँति का भी विलायती कपड़ा न पहिनेंगे, हिंदुस्तान ही का क्या प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देशी हितैषी इस उपाय के वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे।"[33] भारतेंदु यह प्रतिज्ञा–पत्र किसी और के पत्र में नहीं, बल्कि अपने पत्र 'कविवयन–सुधा' में प्रकाशित कर रहे थे। साथ ही उन्होंने इस प्रतिज्ञा–पत्र में साफ–साफ अपने नाम का भी उल्लेख किया है। अगर वे चाहते तो इसे गुमनाम रूप से एक पर्चे के रूप में छपवाकर चोरी–छिपे बटवा सकते थे। क्या भारतेंदु यह नहीं जानते थे कि इस प्रतिज्ञा–पत्र का अंग्रेज हाकिमों पर क्या असर होगा? फिर भी उन्होंने ऐसा किया, क्योंकि उनका स्वर

'भाटों का स्वर' नहीं था बल्कि 'अँधेर–नगरी' की अंधेरगर्दी का पर्दाफाश करने वाला था।

हमने आरंभ में नवजागरण के सीमित प्रसार और उसके शहर केन्द्रित होने की बात की थी। नामवर सिंह ने आलोचना के दिसम्बर 1986 अंक में हिंदी नवजागरण की समस्याएँ नामक लेख के माध्यम से इन बिंदुओं का विचार किया है। नामवर सिंह के मत की चर्चा करने से पहले हमें यह सोचना चाहिए कि हिंदी क्षेत्र में नवजागरण और समाज सुधार से जुड़ी बहसें बंगाल और महाराष्ट्र की तुलना में देर से अस्तित्व में क्यों आईं? वस्तुतः हिंदी क्षेत्र या संयुक्त प्रांत में नवजागरण से जुड़ी बहसों के देर से पैदा होने का एक बड़ा कारण यहाँ शिक्षित मध्यवर्ग का अपेक्षाकृत धीमा विकास था। अंग्रेजी शिक्षा तो दूर की बात सामान्य शिक्षा के मामले में भी यह क्षेत्र काफी पिछड़ा हुआ था। हंटर आयोग ने अपनी रिपोर्ट में माना था कि पश्चिमोत्तर प्रांत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार बहुत कम हुआ था, क्योंकि यहाँ पहले से ईस्ट इंडिया कंपनी के किसी भी बड़े दफ्तर का न होना था। जाहिर है अंग्रेजी शिक्षा की जरूरत इन्हीं संगठनों में काम करने के लिए पड़ती थी। "यही वजह थी कि कलकत्ता और बंबई विश्वविद्यालय 1857 में कायम हो चुके थे, जबकि पश्चिमोत्तर प्रांत में पहला विश्वविद्यालय इलाहाबाद में 1887 में खुला। 1891 में पश्चिमोत्तर और अवध प्रांत की कुल साढ़े चार करोड़ की आबादी में 97 प्रतिशत लोग निरक्षर थे, सिर्फ तीन प्रतिशत साक्षर थे। सन् 1880 ई. में बनारस शहर में सिर्फ एक व्यक्ति ही एम.ए. पास था– लक्ष्मीशंकर मिश्र जो क्वींस कॉलेज में भौतिक विज्ञान के शिक्षक थे।"[34] ऐसी स्थिति में नवजागरण का सीमित प्रसार होना स्वाभाविक ही था। नामवर सिंह भक्तिकालीन लोकजागरण और उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण को अलग–अलग मानते हुए कहते हैं– "यह उस

लोकजागरण से इसलिए भी भिन्न है कि इसके पुरस्कर्त्ता और विचारक नए शिक्षित मध्यवर्ग के हैं, जिन्हें बंगला में 'भद्रलोक' की संज्ञा दी गई है। यह नया भद्रलोक भक्त कवियों की तरह न तो सामान्य लोक के बीच से आया था और न लोकजीवन के साथ घुल–मिल पाने में ही सफल हो सका। इनमें से कुछ विचारों में लोकोन्मुख अवश्य थे लेकिन आचार में लोक के साथ तादात्म्य स्थापित न कर पाए। इसलिए भक्तिकालीन लोकजागरण की तुलना में इस नवजागरण का प्रसार भी सीमित था। इसका प्रभाव बहुत कुछ नए नगरों तक ही सीमित था।"[35]

हिंदी नवजागरण के विविध पक्ष हैं। इसमें कई स्वर हैं। कोलाहल के बजाए अपनी–अपनी बात कहने की आतुरता है। यह एकांगी नहीं बहुआयामी है। इसमें रानी विक्टोरिया की प्रशंसा है तो 'अँधेर–नगरी' भी है। राजभक्ति के साथ राष्ट्रभक्ति भी है। हिंदी–उर्दू की साझी संस्कृति है तो अलगाव के तत्व भी हैं। परंपरा का आग्रह है तो आधुनिकता की ललक भी है। अंग्रेजी सीखकर सरकारी नौकरी पाने की लालसा के साथ–साथ 'निज भाषा उन्नति' का स्वाभिमान भी है। एक आँख बंद करके नवजागरण की पूरी तस्वीर नहीं देखी जा सकती। असंगत न होगा अगर फणीश्वरनाथ रेणु के शब्द उधार लेकर कहूँ कि 'इसमें फूल भी हैं, शूल भी, धूल भी है, गुलाब भी, कीचड़ भी है, चंदन भी, सुंदरता भी है, कुरूपता भी।' हम किसी से दामन बचाकर निकल नहीं सकते। "वैसे इस नवजागरण से अपनी–अपनी पसन्द के मूल्य अथवा व्यक्ति चुनने के लिए हर कोई स्वतन्त्र है, लेकिन शर्त यह है कि खंड को ही समग्र कहने का आग्रह न किया जाए। न इतिहास कल्पवृक्ष है और न नवजागरण कामधेनु।"[36]

संदर्भ

1 वीरभारत तलवार : रस्साकशी (उन्नीसवीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत), सारांश प्रकाशन, दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण 2006, पृ. 17–18

2 1857 और नवजागरण : कुछ प्रश्न – नामवर सिंह, देखें; 1857, नवजागरण और भारतीय भाषाएँ, संपादक– शंभुनाथ, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 40

3 वीरभारत तलवार : रस्साकशी, पूर्वोक्त, पृ. 27

4 वही, पृ. 11

5 वही, पृ. 15

6 वही, पृ. 24

7 वही, पृ. 25

8 वही, पृ. 22

9 वही, पृ. 22–23

10 वही, पृ. 30

11 वही, पृ. 31

12 वही, पृ. 30–31

13 रामविलास शर्मा : महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण की भूमिका देखें बात कही पत्रिका, अंक जून 2004, पृ. 28

14 1857 और हिंदी नवजागरण : ओमप्रकाश वाल्मीकि, देखें पुस्तक 1857, नवजागरण और भारतीय भाषाएँ संपादक– शंभुनाथ, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 114

15 वही, पृ. 113

16 वही, पृ. 113

17 वीरभारत तलवार : रस्साकशी, पूर्वोक्त, पृ. 93

18 रामविलास शर्मा : महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2008, पृ. 91

19 रामविलास शर्मा : भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, आठवीं आवृत्ति 2012, पृ. 13

20 महात्मा फुले : गुलामगीरी (हिंदी अनुवादक डॉ. विमलकीर्ति), संगीता प्रकाशन, 2000

21 मनोहर काले : महात्मा जोतीराव फुले (व्यक्तित्व और कृतित्व) महात्मा फुले फाउंडेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1998, पृ. 68

22 वीरभारत तलवार : हिंदू नवजागरण की विचारधारा; समालोचना का एक प्रयास, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, 2001, पृ. 85–87

23 पुरुषोत्तम अग्रवाल : विचार का अनंत, रामकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2000, पृ. 26–27

24 प्रतापनारायण मिश्र : प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली, संपादक, विजय शंकर मल्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1992, पृ. 35

25 वही, पृ. 35

[26] सत्यप्रकाश मिश्र : बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध (संपादन) लोकभारती पेपरबैक्स, पहला संस्करण 2011, पृ. xiii (भूमिका से)

[27] सत्यप्रकाश मिश्र : बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध (संपादित) लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2005, पृ. ix (भूमिका से)

[28] वीरभारत तलवार : रस्साकशी, पूर्वोक्त, पृ. 92

[29] रामविलास शर्मा : भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ, पूर्वोक्त, पृ. 66

[30] वही, पृ. 67

[31] वही, पृ. 71

[32] वही, पृ. 74

[33] वही, पृ. 74

[34] वीरभारत तलवार : रस्साकशी, पूर्वोक्त, पृ. 118

[35] हिंदी का गद्यपर्व : नामवर सिंह, संपादक– आशीष त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति 2011, पृ. 87

[36] वही, पृ. 94

3.3 मध्य वर्ग, आधुनिकता और स्त्री प्रश्न

"साधारणतः महिलाओं का आदर नहीं होता। उन्हें मूर्ख समझा जाता है। त्रियाहठ और त्रिया–चरित्र जैसे शब्द उनके लिए अपमान सूचक हैं। कुरआन में भी महिलाओं की निन्दा की गई है:–

''इनकीदु कुंन्न अजीमु''

हे महिलाओं, तुम बड़ी मक्कार हो।

''अस्पो–जनो–शम्शीर वफादार कि दीद''

भला किसी ने घोड़े, औरत और तलवार को भी वफादार देखा है।

''...मैं तो कहूँगा कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को पढ़ने–लिखने की आवश्यकता है। आखिर घर में बैठी–बैठी क्या करोगी? विद्या प्राप्त करोगी तो घर में बैठी–बैठी जमाने भर की बातें तुम्हें मालूम हो जायेंगी। तुम्हें पता लगेगा कि संसार उन कुछ घरों तक सीमित नहीं है, जिनमें तुम रहती हो। वह दिल्ली या और दूसरे शहरों तक भी सीमित नहीं, जिनके नाम तुमने सुर रखे हैं। जब तुम इतिहास और भूगोल पढ़ोगी तब तुम्हें मालूम होगा कि संसार कितना बड़ा है।''[1]

– नज़ीर अहमद, मिरातुल उरुस की भूमिका में

पिछले अध्याय में हम विस्तारपूर्वक यह देख चुके हैं कि हिंदी प्रांत का नवजागरण विभिन्न अंतर्विरोधों का दौर रहा है। वस्तुतः परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व हर युग में रहता है। परंपरा में ना तो सब कुछ जड़ होता है ना ही आधुनिकता में सबकुछ प्रगतिशील। परंपरा और आधुनिकता कई बार एक दूसरे के सहायक भी हो सकते हैं, कई बार परस्पर विरोधी भी। आधुनिकता पर विचार करते हुए अज्ञेय कहते हैं – ''मेरी समझ में आधुनिकता काल के साथ नये प्रकार का संबंध है, या होना चाहिए। आधुनिकता मूलतः एक नये ढंग का कालबोध है और हमारे संवेदन का उस पर आधारित रूपांतर बड़े दूरव्यापी परिणाम रखता है।''[2] अज्ञेय के इन शब्दों के आधार पर अगर हम 1857 के बाद की स्थितियों के भारत को देखें तो हमें एक नये प्रकार की शासन व्यवस्था और नये प्रकार का सामाजिक ढाँचा दिखाई देगा।

औपनिवेशिक शासन व्यवस्था की वजह से भारत में एक नये प्रकार के सामाजिक वर्ग का निर्माण हुआ – मध्य वर्ग। वस्तुतः यह मध्य वर्ग अंग्रेजी शासन की आवश्यकताओं के अनुरूप ही निर्मित हुआ। भारत में जिस मध्यवर्ग

का उदय हुआ वह अंग्रेजी से काफी गहराई से जुड़ा था। उसे शिक्षा, रोजगार और आगे बढ़ने के अवसर अंग्रेजी राज से जुड़कर ही मिला। बी.बी मिश्र का मानना है कि ''मध्यवर्गीय सामाजिक व्यवस्था के विचार और संस्थाएँ भारत में आयात किए गये। ये अंदर से पैदा नहीं हुए। वे अर्थव्यवस्था और सामाजिक संस्थानों में किसी तुलनीय विकास के बिना देश में रोप दिये गये। ब्रिटिश जो भारतीय मध्यवर्ग बनाना चाहते थे, वह अनुकर्ताओं का वर्ग था, नये मूल्यों और प्रक्रियाओं के पुरोधाओं का वर्ग नहीं।''[3] जाहिर है कि भारत में मध्यवर्ग का विकास स्वाभाविक तरीके से नहीं हुआ। पश्चिम में जिस मध्यवर्ग का उदय हुआ वह 'रेनेसां' और 'औद्योगिक क्रांति' की उपज था, जबकि भारत में न तो पश्चिम की तरह औद्योगिकीकरण हुआ न ही पूंजीवाद का विकास। हाँ, भारत में नवजागरण अवश्य हुआ। इन्हीं कारणों से भारत का मध्यवर्ग अजीब दुविधाओं में घिरा था। वह शिक्षित तो था, पर उतना ही जितना की अंग्रेजी राज के लिए जरूरी था। वह मूलतः अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त ऐसे बाबुओं का वर्ग था जो अपने लिए सरकारी कार्यालयों में या सिविल सेवाओं में लाभदायक पद प्राप्त कर लेना चाहता था। यह वर्ग किसी बड़े शैक्षिक बदलाव का वाहक नहीं था, बल्कि इसका अधिकांश समय अंग्रेजी राज की तथाकथित 'जेंटलमैन संस्कृति' की नकल करने में बीतता था। भारत का यह नवविकसित मध्यवर्ग कई मायने में दिखावे का वर्ग भी था। यह चेतना के स्तर पर कुछ और था, परंतु आचार–व्यवहार के स्तर पर कुछ और था। सुमित सरकार अपनी पुस्तक 'आधुनिक भारत' में लिखते हैं – ''19वीं सदी के बुद्धिजीवी वर्ग ने सायास अपने लिए एक मध्यवर्गीय छवि बना ली थी। जो जमींदारों से नीचे किंतु श्रम करने वाले से ऊपर था। यह वर्ग अपना आदर्श यूरोपीय 'मध्यवर्ग' में खोजता था। पाश्चात्य शिक्षा के माध्यम से इसने जान लिया था कि पुनर्जागरण, धर्म

सुधार, बौद्धिक जागृति एवम् जनतांत्रिक, क्रांति अथवा सुधार जैसे आंदोलनों के माध्यम से इसी वर्ग ने मध्ययुग को आधुनिक युग में रूपांतरित किया था।''[4]

हिंदुस्तान में मध्यवर्ग का उदय 19वीं शताब्दी के आरंभ में हुआ। यह एक ऐसा वर्ग था जो सामान्य जीवन में 'सामान्य सुविधाओं' से युक्त था तथा नौकरीपेशा और शिक्षित होने के कारण वह देश और समाज की तात्कालिक परिस्थितियों के प्रति जागरुक भी रहता था। इसी मध्यवर्ग ने आगे चलकर आधुनिक समाज के निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आरंभिक दौर में यह वर्ग शिक्षा और नौकरी में अपनी हिस्सेदारी तक सीमित रहा, पर कुछ आगे चलकर इसे शासन और सत्ता में भागीदारी की उम्मीद भी थी, इसका कारण औपनिवेशिक सत्ता से इसका टकराव भी हुआ। इसी कारण कांग्रेस जैसे संगठन, समाज सुधार तथा राष्ट्रवाद की भावना का जन्म हुआ।

आम मान्यता है कि भारत में अंग्रेजी राज से पहले मध्यवर्ग का अस्तित्व नहीं था। अंग्रेजों के आगमन के बाद ही भारत में मध्यवर्ग का जन्म हुआ। क्या सचमुच भारत में अंग्रेजी राज के पहले मध्यवर्ग नहीं था? अगर वह था तो उसका स्वरूप कैसा था?

अगर हम मध्यकालीन भारतीय इतिहास पर नजर डालें तो वहाँ भी मध्यवर्ग के समान एक वर्ग अस्तित्व में था। जिसमें उस युग के मुंशी, मनसबदार, व्यापारी, वैद्य, पुरोहित और शासन के कर्मचारी शामिल थे। परन्तु मध्यकालीन भारत का मध्यवर्ग औपनिवेशिक भारत के मध्यवर्ग से सर्वथा अलग था। साथ ही दोनों की वैचारिक दृष्टि भी अलग–अलग थी। औपनिवेशिक काल के मध्यवर्ग की मानसिक चेतना मध्यकालीन मध्यवर्ग से काफी अलग थी। मध्यकालीन भारत का मध्यवर्ग सामंती युग की मानसिकता से युक्त था,

जबकि 19वीं सदी का मध्यवर्ग सामंतवाद का विरोधी है। मध्यकाल में तार्किकता के लिए कोई जगह नहीं थी, जबकि 19वीं सदी का मध्वर्ग तार्किकता को काफी तरजीह देता है। मध्यकालीन भारत के सामंती शासन में नियुक्त कर्मचारीगण एक पेंशन भोगी कर्मचारी के रूप में कार्य करते थे। 19वीं सदी के मध्यवर्ग की भी यही स्थिति थी परंतु दोनों में बुनियादी अंतर शिक्षा का था। मध्यकालीन वर्ग मात्र अपने व्यवसाय की कुशलता और समझ जितना ही शिक्षित हो पाया। जबकि 19वीं सदी का मध्यवर्ग स्कूलों, कॉलेजों से निकला था, जिस कारण वह तुलनात्मक रूप से ज्यादा जागरुक था। यही कारण है कि मध्यकालीन मध्यवर्ग की तुलना में 19वीं सदी का मध्यवर्ग सामाजिक बदलावों का वाहक बना।

भारत में जिस मध्यवर्ग का उदय 19वीं सदी में हुआ, उसके पीछे कुछ महत्वपूर्ण कारण थे। आधुनिक शिक्षा का प्रसार, राष्ट्रीय नवजागरण की चेतना और प्रेस की स्थापना ने इस वर्ग की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

मध्ययुगीन भारत में शिक्षित लोगों की तादाद बहुत ही कम थी। यही नहीं 19वीं सदी में भी साक्षर कहे जाने वाले लोग कम ही थे। पश्चिमोत्तर प्रांत में शेष हिंदुस्तान की तुलना में शिक्षा का प्रसार बहुत ही सीमित था। वस्तुतः ''19वीं सदी के पश्चिमोत्तर प्रांत में बंगाल या महाराष्ट्र जैसा नवजागरण नहीं हुआ। आधुनिक शिक्षाप्राप्त भद्रवर्ग 19वीं सदी के नवजागरण का मुख्य सामाजिक आधार था। यह आधार पश्चिमोत्तर प्रांत में न सिर्फ बहुत छोटा था बल्कि बहुत बाद में अस्तित्व में आया। बंगाल और बंबई के प्रांतों में 1820–30 से आधुनिक शिक्षा प्राप्त भद्रवर्ग का विकास हो रहा था। हिंदू कॉलेज (कलकत्ता) और एलीफिंस्टन् कालेज (बंबई) से आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की

शिक्षा लेकर निकले विद्यार्थियों ने ही नवजागरण के विभिन्न संगठन बनाए और आंदोलनों का नेतृत्व किया था। पश्चिमोत्तर प्रांत में 1870–80 तक ऐसा वर्ग बहुत कम विकसित हुआ था। आधुनिक शिक्षा पाने वाले भद्रवर्ग के सदस्य यहाँ गिनती के थे।''[5]

19वीं सदी के दौरान जिस मध्यवर्ग का उदय हो रहा था, उसके भीतर भी एक सूक्ष्म विभाजन था। यह विभाजन था शिक्षा का। युवकों के लिए शिक्षा जितनी आवश्यक समझी जाती थी, लड़कियों के लिए वह उतनी ही सुलभ नहीं थी। ''19वीं सदी के सुधार आंदोलन में भद्रवर्गीय पुरुष–सुधारकों का सबसे बड़ा अंतर्विरोध स्त्री–पुरुषों के बीच दोहरे मानदंडों के इस्तेमाल का था। ये मानदंड अक्सर एक–दूसरे के उल्टे भी होते थे। विद्यासागर, द्वारिकानाथ गांगुली और लाला देवराज जैसे कुछेक सुधारक ही इन अंतर्विरोधों के प्रति सजग और किसी हद तक उनसे मुक्त थे। ज्यादातर पुरुष–सुधारक स्त्रियों की परंपरागत भूमिका को ही कुछ साफ–सुथरे, उन्नत ढंग से जारी रखना चाहते थे।''[6] जाहिर है कि मध्यवर्ग के सुधारक स्त्रियों की शिक्षा और आधुनिकता को लेकर असमंजस में थे। समाज–सुधारक अनजाने ही शिक्षा के मामले में लिंग–भेद का शिकार थे। शायद वे परंपरा से मुक्त नहीं हो पा रहे थे। भारत का पश्चिमोत्तर प्रांत जोकि मूलतः हिंदी भाषी क्षेत्र था, वहाँ इस बात पर सहमति नहीं बन पाई थी कि लड़कियों को कैसी शिक्षा दी जाए? उन्हें सिर्फ धर्म कर्म और घरेलू कार्यों की शिक्षा दी जाए या फिर उन्हें ज्ञान–विज्ञान की भी शिक्षा दी जाए। इस द्वंद्व के कई दिलचस्प कारण थे, जैसे पढ़ी–लिखी लड़कियाँ कहीं चरित्रहीन न हो जाए, वे घरेलू काम की उपेक्षा न करने लगे या फिर पढ़–लिखकर लड़कियाँ कहीं मर्दों की बराबरी न करने लगें। स्त्री–शिक्षा की वकालत करने वाले कई लोगों के दिमाग में ऐसे फिजूल के

प्रश्न थे। एक ओर वे स्त्री–शिक्षा के समर्थक थे, दूसरी ओर दुविधाग्रस्त भी थे। ''सैयद अहमद के सहयोगी डिप्टी नजीर अहमद पश्चिमोत्तर प्रांत में मुस्लिम नवजागरण में स्त्री शिक्षा के भारी समर्थक थे। अपनी बेहद लोकप्रिय किताब 'मिरातुल–उरुस' में उन्होंने स्त्री शिक्षा की जबर्दस्त हिमायत की है, लेकिन साथ ही औरतों को कड़ी चेतावनी भी दी कि वे मर्दों की बराबरी करने की बात अपने दिमाग में हर्गिज न लाएँ।''[7] जाहिर है कि, शिक्षित स्त्रियों का दर्जा पुरुषों के नीचे ही था। बंगाल में ईश्वरचंद्र विद्यासागर, द्वारिकानाथ गांगुली और महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले ने न सिर्फ स्त्री शिक्षा पर जोर दिया, बल्कि इसके लिए गंभीरतापूर्वक प्रयास भी किया। इन्होंने स्त्रियों को आधुनिक ढंग की शिक्षा–दीक्षा देने पर भी बल दिया, जबकि हिंदी क्षेत्र अभी भी असमंजस में था भारतेंदु हरिश्चंद्र का मानना था कि ''लड़कियों को भी पढ़ाइये किंतु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है, जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुलधर्म सीखें, पति की भक्ति को और लड़कों को सहज में शिक्षा दो।''[8] 'वामा शिक्षक' उपन्यास का संपादन करते हुए गरिमा श्रीवास्तव ने भारतेंदु हरिश्चंद्र के उस उत्तर का जिक्र किया है, जो उन्होंने हंटर आयोग के सामने दिया था। हंटर आयोग के एक प्रश्न के उत्तर में भारतेंदु ने कहा था कि ''हमारे यहाँ गृहशिक्षा का चलन है। शरीफ घरों के लोग अपनी लड़कियों को पब्लिक – चाहे वे जिस उम्र की हों, स्कूल नहीं भेजना चाहते – चाहे वह स्कूल सरकारी हो या निजी। लड़कियों को पढ़ाने के लिए वे (शरीफ लोग) आमतौर पर घर में कोई ट्यूटर रख लेते हैं। यह गृह शिक्षा अकसर धार्मिक किस्म की होती है और पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान से इनका कोई संबंध नहीं होता।''[9] लड़कियों को शिक्षा दी जाए या नहीं, दी जाए तो कैसी और कितनी

शिक्षा दी जाए यह हिंदी नवजागरण का महत्वपूर्ण प्रश्न था। सिर्फ समाज सुधारक ही इस प्रश्न से नहीं टकरा रहे थे, बल्कि आरंभिक उपन्यासकार भी इस द्वंद्व से गुजर रहे थे। सन् 1872 ई. में रचित और सन् 1883 ई. में प्रकाशित 'वामा शिक्षक' उपन्यास में इसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। स्त्री–शिक्षा को लेकर 'मथुरादास' और 'जमुनादास' में जो संवाद होता है, उससे तात्कालीन युग की मनोदशा का पता चलता है –

''जमुनादास – यह सब ठीक पर लड़कियों के पढ़ाने लिखाने से बड़ी बड़ी बुराइयाँ निकलेंगी।।

मथुरादास – उन बुराइयों का नाम तो लीजिए।।

जमुनादास – जो लड़कियाँ पढ़ लिख जाएँगी और बड़ी होकर अपने सासरे जाएँगी तो वहाँ जाकर किसी के बस में नहीं रहेंगी – निडर और निर्लज्ज होकर जिस्को चाहेंगी चोरी छिपे चिट्ठी पत्री लिख भेजा करेंगी।

मथुरादास – यह आपका विचार ठीक नहीं है क्योंकि पढ़ने लिखने से मनुष्य सज्जन होता है – जी की बुराइयाँ सब निकल जाती हैं – अच्छे–अच्छे विचार जी में आते हैं... और यह बात भी है कि पढ़ी हुई स्त्री की संतान भी जीवट वाली और बुद्धिमान होती है देखो अँगरेजों के यहाँ सब पढ़ते हैं इसीलिए सब बुद्धिमान और शूरवीर होते हैं।''[10]

भारतेंदु हरिश्चंद्र और 'वामा शिक्षक' के इन उद्धरणों से एक बात साफ है कि स्त्री शिक्षा की जरूरत महसूस करने वाले लोग भी कई दुविधाओं से

घिरे थे। जमुनादास का यह कहना कि पढ़ी–लिखी स्त्रियाँ निर्लज हो जाती है और चुपके–चुपके किसी को पत्र लिखती है, उस काल की सामंती सोच को दर्शाता है। जमुनादास यह क्यों नहीं सोचते कि पढ़े–लिखे लड़के भी निर्लज्ज हो सकते हैं। वस्तुतः ऐसी सोच शिक्षा में लिंग भेद को बढ़ावा देती है।एक ही शिक्षा प्राप्त कर लड़के योग्य हो जाते हैं और लड़कियाँ निर्लज हो जाती हैं, यह समझ से परे है। जमुनादास अमर सामंती और रूढ़ीवादी सोच का प्रतिनिधित्व कर रहा है तो मथुरादास आधुनिक सोच का। मथुरादास का यह कहना की पढ़ी–लिखी स्त्री अपने संतान के भविष्य को भी संवार सकती है, आधुनिक सोच का प्रतीक है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्त्री शिक्षा की वकालत तो करते हैं पर यह भी चाहते हैं कि उनकी ज्यादातर शिक्षा घरेलू कामों तक सीमित रहें।

19वीं शताब्दी का हिन्दी प्रांत कई दुविधाओं से ग्रस्त था। एक ओर वह आधुनिकता की ओर बढ़ रहा था वहीं दूसरी ओर वह सदियों से चली आ रही परंपरा को नहीं छोड़ना चाहता था। आधुनिकता कह रही थी कि शिक्षा पर स्त्रियों का भी अधिकार होना चाहिए। जबकि परंपरा के कारण वह स्त्री शरीर की पवित्रता पर ज्यादा ध्यान दे रहा था। स्त्री का शरीर उसके होने वाले पति की जागीर है और उसे विवाह से पहले हर हाल में कुवांरी रहना चाहिए, यह उस काल की सर्वव्यापी सोच थी। शिक्षा के लिए लड़कियों को स्कूल जाना पड़ता, उन्हें घर से निकलना पड़ता। इस कारण उसकी 'यौन शुचिता' खतरे में थी। तात्कालीन मध्यवर्ग अपनी लड़कियों और स्त्रियों को अगर सहज रूप से स्कूल नहीं भेज पा रहा था तो उसके पीछे समाज की ये गलत धारणायें भी जिम्मेदार थी।

हिन्दी प्रदेश में आधुनिकता और स्त्री प्रश्न को जिन अन्य महत्वपूर्ण संदर्भों में देखा जाना चाहिए वे हैं – विधवा विवाह और बाल विवाह। समाज

सुधारकों के लिए विधवा विवाह एक अहम् कसौटी थी। ''ईश्वर चन्द्र विद्यासागर की अनथक कोशिशों से 1856 में विधवा विवाह का कानून बन जाने के 25 साल बाद भी पश्चिमोत्तर प्रांत में इसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं हुआ। आर्य समाज और कायस्थ महासभा के कुछ उत्साही सुधारकों को छोड़ कर किसी ने इनके पक्ष में कोई प्रभावशाली आवाज नहीं उठाई।''[11] उस काल में विधवा विवाह का समर्थन करने का अर्थ था अधर्म का समर्थन करना। इस संदर्भ में दयानंद सरस्वती भी अंतर्विरोधों से घिरे दिखते हैं। अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने उन्हीं बाल विधवाओं के पुनर्विवाह को शास्त्रसम्मत बताया है जो 'अक्षत योनि' की है, यानी जिनका शारीरिक सम्पर्क नहीं हुआ है। अगर कोई विधवा स्त्री अपने पूर्व पति से शारीरिक संपर्क बना चुकी है तो दयानन्द सरस्वती के मत में उसका पुनर्विवाह नहीं हो सकता। अर्थात् विधवा विवाह के लिए यौन शुचिता एक महत्वपूर्ण प्रश्न था। सन् 1880 में बंबई के एक पण्डित ने विधवा विवाह के खिलाफ बोलते हुए कहा कि ''पति द्वारा भोगी गई स्त्री दूसरे व्यक्ति के द्वारा ग्रहण करने योग्य उसी तरह नहीं होती जैसे एक आदमी की जूठी पत्तल में दूसरा आदमी नहीं खाता।''[12] विधवा विवाह आधुनिक हो रहे समाज के समक्ष एक बड़ा प्रश्न था। गौरतलब है कि पत्नी के मर जाने पर पति द्वारा दूसरा विवाह करना सामान्य बात समझी जाती है, परन्तु पति के मर जाने पर स्त्री द्वारा पुनर्विवाह करना चर्चा का विषय बन जाता है। जाहिर है कि पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों की स्थिति दोयम दर्जे की थी। जब सन् 1864 में बंगाल में पहला विधवा विवाह हुआ तो उसे देखने के लिए हज़ारों लोग जाम हो गए। तात्कालीन समाज में विधवा विवाह नीची निगाह से देखा जाता था, पर इस बात की चिंता कोई नहीं करता था कि एक विधवा किन–किन कष्टों से गुजरती है। आरंभिक समाजसुधारकों ने बहुत ही

विपरीत स्थितियों में विधवा विवाह आंदोलन चलाया। ''सबसे पहले विधवा विवाह को संपन्न कराने में विद्यासागर ने अपनी जेब से 10,000/– रु. खर्च किए ताकि उसे समाज में प्रचलित विवाहों जैसी प्रतिष्ठा मिल सके। इसके बाद भी उन्होंने कई विधवा विवाहों का आयोजन किया, पर उनका आंदोलन व्यवहार में सफल नहीं हो पाया। इसका मूल कारण परंपरा से चली आ रही स्त्रियों की यौन–शुचिता संबंधी धरणाएं थीं।''[13]

हालांकि इसी के समानांतर विधवा विवाह के लिए भी प्रयास जारी थे। दयानंद सरस्वती के न चाहते हुए भी पंजाब में आर्य समाज की पत्रिका 'आर्य मैग्जिन' में विधवा विवाह के लिए लगातार विज्ञापन छपते रहे। दयानंद सरस्वती ने इन विज्ञापनों पर ऐतराज भी जताया था और इसे रोकने के लिए लाहौर आर्य समाज के सेक्रेटरी मूलचन्द को चिट्ठी भी लिखी थी। हिन्दी नवजागरण के लेखकों में राधाचरण गोस्वामी ने विधवाओं की मार्मिक स्थिति पर गंभीरतापूर्वक लिखा। राधाचरण गोस्वामी ने पण्डितों और धर्म के ठेकेदारों पर यह आरोप भी लगाया कि यह व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण विधवाओं का विवाह नहीं होने देते। ''उन्होंने पंडितों और वैष्णव गुरु–गोसाइयों पर विधवाओं के आर्थिक–शारीरिक शोषण का इल्जाम लगाया जो अपने इन्हीं निकृष्ट स्वार्थों के लिए विधवा विवाह के खिलाफ थे। राधाचरण ने अपने समय के भद्रवर्गीय हिंदुओं के अंतर्विरोधों को भी उजागर किया जो रंडी रखने और लौंडेबाजी करने में रईसी की शान समझते थे, पर विधवाविवाह को बदनामी का काम समझते थे।''[14]

हिन्दी भाषी क्षेत्र में न तो विधवा विवाह के लिए कोई ठोस आंदोलन हुआ न ही इस क्षेत्र में कोई ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पैदा हुआ। राजाराम मोहन

राय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने सती प्रथा और विधवा विवाह के संदर्भ में ऐतिहासिक पहल की। सन् 1829 में राजाराम मोहन राय के प्रयासों से ही विलियम बेंटिक ने सती प्रथा पर रोक का कानून बनाया। 1856 में लॉर्ड कैनिंग के समय जो हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम बना वह ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयासों का नतीजा था। बंगाल के समाज सुधारक परंपरा से चली आ रही बुराईयों को दूर कर रहे थे। वे एक ऐसी संरचना तैयार कर रहे थे जहाँ स्त्रियों को सम्मानजनक अधिकार मिले। वे स्त्रियों को पुरुषों की दयादृष्टि से बाहर निकालकर उन्हें कानूनी आधार पर सक्षम बना रहे थे, जबकि हिन्दी प्रांत में ऐसी कोई क्रांतिकारी पैदा नहीं हुआ। इस प्रांत में स्त्रियों की स्थिति पर दया पूर्वक ही विचार किया गया। इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए वीरभारत तलवार लिखते हैं – ''लेकिन बनारस में विधवा विवाह करने की जगह विधवा आश्रम खोलने की होड़ ही ज्यादा रही। क्या आर्यसमाजी, क्या सनातनी, सबने बनारस में विधवा विवाह करने की जगह विधवा आश्रम खोले। हिंदी नवजागरण का गढ़ विधवाओं का भी गढ़ था। सारे हिन्दुस्तान से विधवाएँ काशी में आती थीं जो दशाश्वमेध घाट की सीढ़ियों से लेकर मुमुक्षु भवन जैसी बड़ी इमारतों तक में बसी हुई थीं। पर इनके लेखे बनारस में कोई विद्यासागर नहीं हुआ।''[15]

19वीं सदी का मध्यवर्ग अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का परिणाम था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी, फोर्ट विलियम कॉलेज, अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार, दफ्तरों में रोजगार के अवसर, प्रेस की स्थापना जैसे कारणों ने मध्यवर्ग को जन्म दिया। पर यह मध्यवर्ग मूलतः साधन सम्पन्न होना चाहता था, चेतना सम्पन्न नहीं। वह अंग्रेजी राज्य में मिलने वाली सुविधाओं को भोगना चाहता था। पश्चिमी चाल ढाल को अपनाना चाहता था। हालांकि आगे चलकर इसी मध्यवर्ग में

चेतना का विकास हुआ और इसने स्वाधीनता आंदोलन में भी भाग लिया। मध्यवर्ग अपनी सहूलियत के हिसाब से आधुनिकता को अपना रहा था। इस वर्ग की नजर में अशिक्षित व घरेलू लड़की पिछड़ेपन का प्रतीक थी। इस कारण वह उसे कुछ हद तक शिक्षित करना चाहता था। 19वीं सदी का मध्यवर्ग अपने हिसाब से स्त्री को बदलना चाह रहा था, परन्तु यह बदलाव कुछ सीमाओं में कैद था। मध्यवर्ग जिस स्त्री की कल्पना कर रहा था उसमें वह आधुनिकता व परंपरा दोनों का मिश्रण चाहता था। इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए पार्थ चटर्जी ने कहा है 'नई स्त्री को आधुनिक होना था, परन्तु उसे राष्ट्रीय परंपरा के चिन्हों का भी पालन करना था अतः वह पश्चिमी स्त्री से आवश्यक रूप से अलग थी।'[16]

जब हम 19वीं सदी के मध्यवर्ग और आधुनिकता के संदर्भ में स्त्री प्रश्नों पर विचार करते हैं तो स्पष्ट देखते हैं कि स्त्री सुधार का प्रश्न कई अंतर्विरोधों में फँस कर रह गया। हिन्दी प्रदेश में स्त्रियों की दशा में कोई उल्लेखनीय बदलाव नहीं हो पाया। हिन्दी, उर्दू के आरंभिक उपन्यासों में ऐसे अंतर्विरोध खुलकर सामने आते हैं। इन आरंभिक उपन्यासों में निःसंदेह स्त्री शिक्षा की वाकलत की गई है पर इसका मूल उद्देश्य है घर के भीतर पति के लिए एक दक्ष और कुशल सहायक तैयार करना। अगले अध्याय में हम इन सारे प्रसंगों की चर्चा उदाहरण सहित करेंगे।

संदर्भ

1 नज़ीर अहमद : दुलहन का दर्पण (मिरातुल उरुस), अनुवादक : जगन्नाथ प्रभाकर, सेतु प्रकाशन, झाँसी, प्रथमावृत्ति, सं. 2028 विक्रमी, पृ. 15 और 17.

2 अज्ञेय : केन्द्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2005, पृ. 302.

3 बी.बी. मिश्र : दि इंडियन मिडिल क्लासेज : देयर ग्रोथ इन मॉडर्न टाइम्स, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1978, पृ. 11.

4 सुमित सरकार : आधुनिक भारत (1885–1945), अनुवाद सुशीला डोभाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 86.

5 वीरभारत तलवार : रस्साकशी (उन्नीसवीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत), सारांश प्रकाशन, पहला पेपरबैक संस्करण 2006, पृ. 117.

6 उपरोक्त, पृ. 187.

7 उपरोक्त, पृ. 188.

8 भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली (भाग 6) : संपादक– ओम प्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008, पृ. 70.

9 गरिमा श्रीवास्तव : (संपादन) वामा शिक्षक, मुंशी ईश्वरीप्रसाद, मुंशी कल्याण राय, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, वसंत कुंज, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2014, पृ. बारह (XII)

10 उपरोक्त, पृ. 10–11.

11 वीरभारत तलवार : रस्साकशी, उपरोक्त, 176.

12 उपरोक्त, पृ. 186.

13 उपरोक्त, पृ. 186.

14 उपरोक्त, पृ. 183.

15 उपरोक्त, पृ. 187.

16 पार्थ चटर्जी : एम्पायर एण्ड नेशन, एसेन्शियल राइटिंग्स, (1985–2005) परमानेंट ब्लैक, रानीखेत, 2012, पृ. 31.

चतुर्थ अध्याय

हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन

4.1 स्त्री जीवन का संदर्भ

4.2 'घरेलू स्त्री' बनाम 'वेश्या जीवन : एक दुनिया समानांतर'

4.3 मध्यवर्ग, यथार्थवाद और तत्कालीन समाज

4.1 स्त्री जीवन का संदर्भ

"मनुष्य हो चाहे स्त्री विद्या सबको भाग्य लगा देती है। हाय वे कैसे बुरे माता–पिता हैं कि जो अपनी सन्तान को विद्या नहीं सिखाते। धिक्कार है उन पर कि जो यह बात कहा करते हैं कि स्त्री को विद्या न पढ़ानी चाहिए और बड़े ही मूर्ख हैं वे लोग जो अपने मुख से ये बातें कहा करते हैं कि विद्या पढ़ी हुई स्त्री बिगड़ जाती है। क्या भाग्यवती स्त्री नहीं थी कि जो कई वर्ष अपने पति से अलग रह के पवित्र रही? और क्या यह विद्या ही का प्रताप नहीं कि विपत्काल में धैर्य संतोष को हाथ से न छोड़ा?"[1] *– भाग्यवती उपन्यास का एक अंश*

"अब तुमको ऐ मेरी प्यारी बेटी असगरी खानम! सोचना चाहिए कि मियाँ बीबी में भगवान ने कितना अन्तर रखा है। धर्म की पुस्तकों में लिखा है कि हज़रत आदम स्वर्ग में अकेले घबराया करते थे। उनके बहलाने को खुदा ने हज़रत हब्बा को, जो सबसे पहली नारी, संसार में हो गुजरी हैं, पैदा किया। इस प्रकार नारी का जन्म केवल पुरुष के मनोरंजन के लिये हुआ था। सो नारी का कर्त्तव्य है कि पुरुष को प्रसन्न रखे। खेद है कि संसार में कितनी कम महिलाएँ इस कर्तव्य का पालन करती हैं। संसार की व्यवस्था पुरुष जाति से होती है।"[2]

– मिरातुल उरुस उपन्यास का एक अंश

भारतीय नवजागरण की तरह ही स्त्री प्रश्न हिंदी नवजागरण का प्रमुख मुद्दा था। महाराष्ट्र और बंगाल के समाज सुधारकों ने जिस तत्परता से स्त्री समस्याओं (बाल विवाह, विधवा विवाह) के निराकरण के लिए प्रयास किया, वैसा उल्लेखनीय प्रयास हिंदी प्रदेश में नहीं हुआ। हिंदी प्रदेश के नवजागरण को लेकर कई विवादास्पद मत भी हैं। यह विवादास्पद मुद्दा भी अपनी जगह कायम है कि हिंदी प्रदेश का नवजागरण अपनी संपूर्णता में 'प्रगतिशील' है या 'प्रतिक्रियावादी'। इस प्रश्नो के होते हुए भी निर्विवाद रूप से यह तो कहा ही जा सकता है कि नवजागरण का काल परिवर्तनों का आरंभिक काल था। कुछ अंतर्विरोधों के बावजूद इस काल में पारंपरिक जीवन पद्धति से अलगाव दिखता है। यही वह समय है जब भारतीय समाज पर 'पश्चिमी सभ्यता और ज्ञान–विज्ञान' का असर पड़ा। मध्यवर्ग का उदय, कॉलेज की स्थापना, शिक्षा का प्रसार आदि ने पारंपरिक समाज को एक नई दुनिया से परिचित करवाया। इस नए समाज ने सदियों से चले आ रहे रीति–रिवाजों को आलोचनात्मक

नजर से देखा और उसे सुधारने का प्रयास भी किया। "नवजागरण और सुधार के दौर में हर मुल्क का मध्यवर्ग अपनी विवाह, धर्म और परिवार की संरचनाओं का पुनर्गठन करता है। वह परंपरा से सवाल पूछता है और परंपरा से परंपरा को काटने की कोशिश पर आधुनिकता तक अपना सफर पूरा करता है। परंपरा का मोह भी इस दौर में उतना ही प्रबल रहता है जितना परंपरा के प्रतिरोध का आग्रह। परंपरा से उसका मोह सिर्फ भोलेपन से भरा मोह नहीं होता बल्कि परंपरा की रक्षा करने में उसे स्वार्थ भी नजर आता है।"[3]

19वीं सदी का हिंदी–उर्दू उपन्यास भी परंपरा से मोह और आधुनिकता के आग्रह का दस्तावेज है। बांग्ला के मुकाबले हिंदी और उर्दू में "उपन्यासों का आगमन थोड़ी देर से हुआ और जब हुआ तो सुधारवाद के लक्ष्य उसमें काफी प्रमुख बनकर उभरे। अगर यह कहा जाए कि जो लोग उपन्यास लिख रहे थे, उनके लिए सामाजिक यथार्थवाद नहीं बल्कि सामाजिक सुधारवाद ही प्रमुख था तो गलत नहीं माना जाएगा।"[4] नवजागरण के केंद्र में स्त्री संबंधी मुद्दे प्रमुखता से शामिल थे। जाहिर है ऐसे में स्त्री केन्द्रित उपन्यासों का मूल स्वर 'परंपरागत स्त्री' को 'आधुनिक ढंग' से सुधारने का है। आरंभिक उपन्यासों से गुजरने पर साफ–साफ पता चलता है कि स्त्री केन्द्रित उपन्यास मूलतः स्त्रियों को शिक्षित करने के लिए लिखे गये थे। उपन्यासकारों ने एक ओर पढ़ी–लिखी स्त्री पात्रों की छवि गढ़ी और दूसरी ओर अनपढ़ स्त्री की। इस अंतर द्वारा उन्होंने पढ़ी–लिखी और अनपढ़ स्त्री के मध्य अंतर दिखलाया। आरंभिक उपन्यासकारों में "स्त्री शिक्षा के लिए सहानुभूति थी पर स्त्री की वैयक्तिकता को स्वीकारने के लिए वह तैयार न थे। स्त्री–पुरुष के बीच उन्मुक्त व स्वच्छंद प्रेम की दबी हुई लालसा तो भी पर यूरोपीय उपन्यासों की तुलना में उन्हें उपन्यासों और कथाओं में व्यक्त करने में अनगिनत मर्यादागत संकोच थे।"[5]

आरंभिक उपन्यासों की चर्चा करते समय हमें तात्कालिक समाज का यथार्थ भी याद कर लेना चाहिए। जिस समाज में बाल–विवाह का बोलबाला हो, सती–प्रथा गौरव की बात हो, विधवा–विवाह का निषेध हो, लड़कियों का घर से निकलना मुश्किल हो, उस दौर में उपन्यासकार एकाएक प्रगति की छलांग नहीं लगा सकता। जहाँ स्त्री को लोकतांत्रिक अधिकार देने के बजाए उसे भोग लेने की प्रवृत्ति सर्वव्यापी हो, वहाँ अगर आरंभिक उपन्यासकार स्त्री शिक्षा की बात लिख रहे थे तो यह भी एक क्रांतिकारी पहल थी। आरंभिक उपन्यासों की चर्चा करते हुए वैभव सिंह ने माना है कि सारे आरंभिक उपन्यासों के केंद्र में उच्च जाति की स्त्रियाँ ही है। वे कहते हैं– "मिरातुल उरुस में दिल्ली के उच्च जाति के मशहूर खानदान, 'भाग्यवती' में काशी के ब्राह्मण, 'परीक्षागुरु' में दिल्ली में कारोबार करने वाले एक साहूकार और 'निस्सहाय हिंदू' में गोहत्या की चिंता करने वाले उच्च जाति ब्राह्मणों की कथा कही गई है। इन्हीं उच्च जाति की हिंदू स्त्रियों के बारे में निर्मित चिंताओं के मद्देनजर ही उमा चक्रवर्ती ने अपने लेख 'वाट एवर हैप्पेंड टू वैदिक दासी' में लिखा "स्त्रियों से जुड़े सवालों के संदर्भों में 19वीं सदी का पूरा ध्यान उच्च जाति की हिंदू स्त्रियों पर केन्द्रित था चाहे वह अतीत में उनकी उन्नत दशा को प्रकट करना हो या वर्तमान में उनकी निम्न दशा में सुधार करने की चेतना हो।"[6] आरंभिक उपन्यासों को सिर्फ उच्च जाति की हिंदू स्त्रियों तक सीमित करने की वैभव सिंह की कोशिश न तो तार्किक है ना वाजिब। यह जरूर है कि इन उपन्यासों की मुख्य स्त्री पात्र उच्च जाति की स्त्रियाँ है, पर क्या किसी उपन्यास में इस बात का तनिक भी उल्लेख है कि सिर्फ उच्च जाति की स्त्रियाँ ही शिक्षा प्राप्त करें। क्या किसी भी उपन्यासकार ने यह कहा कि निम्न जाति की स्त्रियों को शिक्षा से दूर रखा जाए। जाहिर सी बात है कि वे समस्त

स्त्रियों के लिए शिक्षा की वकालत कर रहे थे। 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास की भूमिका में पंडित गौरीदत्त लिखते हैं "बेपढ़ी स्त्री जब एक काम को करती है उसमें क्या–क्या हानि होती है। पढ़ी हुई जब उसी काम को करती है उससे क्या–क्या लाभ होता है।"[7] 'भाग्यवती' की भूमिका में पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी लिखते हैं "बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिंदी भाषा में लिखूँ कि जिसके पढ़ने से भारतखण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो।"[8] 'वामा शिक्षक' उपन्यास की भूमिका में उपन्यासकार का मत है– पश्चिमउत्तरदेशाधिकारी श्रीमन्महाराजाधिराज लेफ्टिनेंट गवर्नर बहादुर की यह इच्छा है कि कोई पुस्तक ऐसी बनाई जाए कि उससे हिंदुओं व आर्यों की लड़कियों को भी लाभ पहुँचे और उनकी शासना भी भली–भाँति हो।"[9] इन सारे उपन्यासकारों की चिंता स्त्री शिक्षा को लेकर थी न कि सिर्फ उच्च वर्ण की स्त्रियों की शिक्षा को लेकर। 'भाग्यवती' का उपन्यासकार 'भारतखण्ड की स्त्रियों' की शिक्षा को लेकर चिंतित है, वहीं 'वामा शिक्षक' के (दोनों) उपन्यासकार 'हिंदुओं व आर्यों की लड़कियों' को शिक्षा का लाभ पहुँचाना चाहते हैं। 'भारतखण्ड' और 'हिंदुओं की लड़कियों में' उच्च जाति की लड़कियाँ भी शामिल हैं और तथाकथित निम्न जाति की भी। ऐसे में यह मानना कि आरंभिक उपन्यासकारों की मूल चिंता सिर्फ उच्च जाति की हिंदू स्त्रियों तक सीमित थी, फिजूल की बात है।

आरंभिक उपन्यासों में चित्रित स्त्रियों पर बात करते समय हमें युगीन यथार्थ का भी अवलोकन कर लेना चाहिए। 19वीं सदी के दौरान पश्चिमोत्तर प्रांत में हिंदी भाषी वर्ग अपनी लड़कियों को स्कूल भेजने के मामले में उदासीन था। महिला अध्यापिकाओं का घोर अभाव था। लड़कपन में विधवा हो जाने के कारण हजारों बालिकाऐं घर की चारदीवारी में कैद थी। हिंदी प्रांत में कोई

व्यक्ति आसानी से अपनी लड़की को स्कूल भेजना नहीं चाहता था, स्त्री–अध्यापिका बनाने की बात करना तो दूर की कौड़ी थी। जबकि उसी काल में पंजाब और बंगाल में लड़कियाँ शिक्षा की ओर कदम बढ़ा रही थीं। वीरभारत तलवार पश्चिमोत्तर प्रांत की स्त्री शिक्षा की कमी पर विचार करते हुए कहते हैं "इसका कारण यह भी था कि इन स्कूलों में पढ़ाने के लिए भद्रवर्ग अपने घर की स्त्रियों को अध्यापिका की नौकरी पर भेजने के लिए राजी नहीं था। भद्रवर्ग की विधवाएँ भी इस काम के लिए नहीं मिली जबकि पंजाब में आर्यसमाजी परिवारों की स्त्रियाँ इस काम के लिए आगे आईं और बंगाल में लड़कियों को अध्यापिका बनने का प्रशिक्षण देने वाले दो नार्मल स्कूल पहले से चल रहे थे, जिनमें 1881–82 में कुल 41 लड़कियाँ प्रशिक्षित हो रही थीं। पश्चिमोत्तर प्रांत में छोटी–छोटी लड़कियाँ परदे में स्कूल जातीं। स्त्री–अध्यापिकाओं के अभाव में क्लास में पढ़ाई के दौरान शिक्षक और छात्राओं के बीच परदा रहता। 19वीं सदी के आखिरी दशकों में पूरे भारत में जितनी लड़कियाँ शिक्षित थीं, स्कूल जा रही थी और प्रतिवर्ष उनकी वृद्धि की जो दर थी– इन सभी मामलों में पश्चिमोत्तर प्रांत सबसे पीछे था और बनारस जो हिंदी नवजागरण का गढ़ था– इसमें और भी पीछे था।"[10] जहाँ की लड़कियाँ परदे में कैद थीं, खुलकर सांस नहीं ले पा रही थीं और अघोषित पहरे में शिक्षा ग्रहण कर रही थी, ऐसे प्रतिकूल हालात में आरंभिक उपन्यासकार स्त्री शिक्षा केन्द्रित उपन्यासों की रचना करके समाज की 'जड़ चेतना' को 'जाग्रत' कर रहे थें। वे धीरे–धीरे एक ऐसे सकारात्मक वातावरण का निर्माण कर रहे थे, जहाँ लड़कियों को बिना परदे में शिक्षा मिलें। वे खुलकर पढ़ सकें। जिस समाज में स्त्री की यौन–शुचिता सबसे बड़ा प्रश्न हो उसे स्त्री शिक्षा के लिए तैयार करना बहुत ही मुश्किल था।

'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामा शिक्षक' और 'भाग्यवती' को काफी समय तक 'स्त्री शिक्षा विषयक ग्रंथ' माना गया, उपन्यास नहीं। स्त्री जीवन में सुधार और स्त्री शिक्षा के विषय को प्रमुखता से उठाने वाले आरंभिक उपन्यासों में 'देवरानी जेठानी की कहानी' काफी महत्वपूर्ण है। लेखक ने भूमिका में ही स्पष्ट कर दिया है कि इस पुस्तक की रचना क्यों की गई– "इस पुस्तक में यह भी दर्शा दिया है कि इस देश के बनिये जन्म–मरण विवाहादि में क्या–क्या करते हैं, पढ़ी और बेपढ़ी स्त्रियों में क्या–क्या अंतर है, बालकों का पालन और पोषण किस प्रकार होता है और किस प्रकार होना चाहिए, स्त्रियों का समय किस–किस काम में व्यतीत होता है, और क्यों कर होना उचित है। बेपढ़ी स्त्री जब एक काम को करती है, उसमें क्या–क्या हानि होती है। पढ़ी हुई जब उसी काम को करती है उससे क्या–क्या लाभ होता है। स्त्रियों की वह बातें जो आज तक नहीं लिखी गयीं मैंने खोज कर सब लिख दी है। और इस पुस्तक में ठीक–ठीक वही लिखा है जैसा आजकल बनियों के घरों में हो रहा है। बाल बराबर भी अंतर नहीं है।"[11]

स्पष्ट है कि उपन्यासकार स्त्रियों को एक 'जड़ माहौल' से निकाल कर 'प्रगतिशील माहौल' में ले जाना चाहता है। बेपढ़ी स्त्री को पढ़ी–लिखी हुई बनाने से क्या–क्या फायदे हो सकते हैं लेखक ने उपन्यास में विस्तार से चर्चा की है। कई आलोचकों का मानना है कि आरम्भिक उपन्यासों में वर्णित शिक्षा संबंधी विचार 'पुरुषवादी दृष्टिकोण' से लिखे गये हैं। यह पूर्णतः सत्य नहीं है। देवरानी जेठानी उपन्यास के आवरण पृष्ठ पर उपन्यास का शीर्षक इस प्रकार है–

"देवरानी जेठानी की कहानी
एक वृद्ध और लिखी–पढ़ी स्त्री की
सम्मति से
पण्डित गौरीदत्त ने बनाई"[12]

स्पष्ट है कि आरम्भिक उपन्यासों में वर्णित स्त्री शिक्षा से जुड़े विचार केवल पुरुषवादी दृष्टिकोण से नहीं लिखे गये थे, बल्कि उन्हें उस समय की पढ़ी लिखी स्त्रियों की स्वीकृति प्राप्त थी। गौरीदत्त ने 'पढ़ी लिखी स्त्री की सम्मति से' उपन्यास की रचना की। उपन्यासकार ने सायास और चेष्टापूर्वक स्त्री के मत को स्थान दिया। जिस समय 'गौरीदत्त' 'देवरानी–जेठानी की कहानी' की रचना कर रहे थे, उस "समाज में अभी अशिक्षा के साथ–साथ अंधविश्वास, सामाजिक मूढ़ताओं तथा कुप्रथाओं का प्राबल्य था। बच्चे के बीमार पड़ने पर माता–पिता उसे शफाखाने में दिखाने या किसी योग्य हकीम से उसका इलाज कराने के बजाय टोने–टोटके, झाड़–फूँक आदि का सहारा लेते थे। हैसियतदार घरों में बच्चों को गहने पहचानने की कुप्रथा के कारण अक्सर चोर, उचक्के और बदमाश बच्चों को उड़ा ले जाते थे और गहनों के लालच में उनकी हत्या तक कर डालते थे। अशिक्षित स्त्रियाँ घर के कामकाज में लगी होने के समय बच्चे रोवें नहीं, इसलिए उन्हें अफीम चटाकर सुला देती थीं। छोटी उम्र में ब्याह का चलन था। सात साल की उम्र में सगाई कर दी जाती थी। बहुत–सी अबोध लड़कियाँ छुटपने में विधवा हो जाती थीं। समाज में लड़के–लड़कियों को पढ़ाने का रिवाज नहीं था, लड़कियों को पढ़ाने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं अनुभव की जाती थी।"[13] इस उद्धरण को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि हम किसी अंधकारमय समाज का चित्र देख रहे हैं। यह समाज 'ठहरा हुआ' और 'गतिहीन' समाज था। यहाँ सदियों से चली आ रही परंपरा जस की तस बनी हुई थी। औरतों और पुरुषों में स्पष्ट विभाजन था। उनके काम बंटे हुए थे। यह पूरा माहौल किसी भी स्त्री के लिए कतई उत्साहपूर्ण नहीं था। ऐसे प्रतिकूल माहौल में स्त्री शिक्षा की बात कहना क्रांतिकारी पहल के समान था। जिन आलोचकों ने आरंभिक उपन्यासों की स्त्री

पात्र को पुरुष सांचे में ढ़ला हुआ माना है वे शायद तत्कालीन परिस्थितियों की विषमता को जानबूझकर याद नहीं करते। वैभव सिंह का मानना है कि "देवरानी जेठानी की कहानी, वामा शिक्षक या भाग्यवती सभी उपन्यासों की नायिकाएँ व स्त्री चरित्र पहले से विवाहित हैं और शिक्षा के माध्यम से केवल बेहतर ढंग से अपने पतिव्रत धर्म का निर्वाह करने का प्रयास कर रही हैं। उनका चरित्र प्रशंसा की राजनीति का शिकार है जिसके अंतर्गत ठस्स किस्म के दिमाग वाली पर घरेलू कार्यों में दक्ष औरतों की प्रशंसा कर पुरुष उनके चरित्र को खास घरेलू सांचे में कैद रखना चाहते हैं। उनका चरित्र नितांत इकहरा और एकायामी है और उनकी विशेषताऐं केवल बेपढ़ी स्त्रियों के संदर्भ में व्यक्त होती है।"[14] अत्यधिक तार्किक, प्रगतिशील और स्त्री–हितैषी बनने के लोभ में वैभव सिंह न सिर्फ इन स्त्री–पात्रों का अवमूल्यन करते हैं, बल्कि तात्कालिक संदर्भों से काटकर इनका मूल्यांकन करते हैं। सिर्फ 'भाग्यवती' उपन्यास ही इस सारे खोखले तर्क को ध्वस्त करने के लिए पर्याप्त है। भाग्यवती का चरित्र न तो 'प्रशंसा की राजनीति का शिकार है' ना ही वह 'खास घरेलू सांचे में कैद रहती है' ना ही उसकी विशेषताएँ 'केवल बेपढ़ी स्त्रियों के संदर्भ में व्यक्त होती है।'

आज की आलोचनात्मक शब्दावली के हवाले से कहें तो 'भाग्यवती' सर्वाधिक 'बोल्ड' स्त्री चरित्र है। वह अपने समय से 100 साल आगे की महिला है। लेखक ने उसका जो चरित्र गढ़ा है वह सन् 1860–1870 का नहीं बल्कि 1960–70 का है। 'भाग्यवती' अपने समय से सौ–डेढ़ सौ साल आगे की रचना है। भाग्यवती को शास्त्रों के साथ–साथ कानून और चिकित्साशास्त्र की भी जानकारी है। वह हरिद्वार के मेले में ठगों के षड्यंत्र को विफल करती है। इलाहाबाद में कुंभ के मेले में परिवार से बिछड़ जाती है। उसके साथ उसका

नन्हा बालक भी है। जरा सोचिए 1860–70 ई. में इन स्थितियों में कोई भी स्त्री रोने के अलावा और क्या करती? रह–रह कर ईश्वर को याद करती, पर भाग्यवती हौसला नहीं हारती। प्रयत्न करती है और रथ पर सवार होकर वापस आती है। लाखों के मेले में गुम हो जाना और अपनी विद्या के बल पर राजा को प्रभावित करके रथ से वापस आना कोई साधारण काम नहीं है। भाग्यवती पुलिस के सिपाहियों से बेधड़क बहस कर लेती है। वह सारा कानून जानती है। कल्पना कीजिए कि 1857 के विद्रोह के तुरंत बाद अंग्रेजी राज के सिपाहियों से बहस करना, कितने हौसले की बात है।

'भाग्यवती' को स्त्री होने की कमजोरी का अहसास नहीं है। 'पुरुष शरीर' ही पुरुषों की सबसे बड़ी ताकत मानी जाती है और 'स्त्री शरीर' स्त्रियों की सबसे बड़ी कमजोरी। इस लिंग भेद के कारण ही स्त्री को दोयम दर्जे की जिंदगी गुजारनी पड़ती है। 'भाग्यवती' अपने 'स्त्री शरीर' को कभी भी बाधा नहीं बनने देती है। वह वे सारे काम करती हैं जो एक पुरुष कर सकता है। उपन्यासकार ने भाग्यवती की लैंगिक हीनता खत्म कर दी है। उसे नाम और शरीर तो स्त्री का दिया, पर उससे वे सारे काम करवाए जो पारंपरिक रूप से पुरुषों के समझे जाते हैं। पूरे उपन्यास में भाग्यवती 'Leading Role' में है और उसका पति एक 'सहायक अभिनेता' नजर आता है।

पं. श्रद्धाराम जी ने समाज की लैंगिक विभाजन वाली प्रवृत्ति पर करारा प्रहार किया है। आर्य समाज से जुड़े होने के कारण उनकी दृष्टि काफी प्रगतिशील थी। 'भाग्यवती' अपनी लड़की के जन्म पर जरा भी उदास नहीं होती। वह लड़के और लड़की को एक समझती है। कन्या के जन्म के कारण भाग्यवती का पति मनोहरलाल उदास हो जाता है। उसे समझाते हुए भाग्यवती

कहती है– "बालक भी माता–पिता के मन को दस–पन्द्रह वर्षों लौं खिलाने के नाईं प्रसन्न करता है सो इतनी अवस्थापर्यन्त कन्या भी माँ–बाप को कुछ थोड़ी लाडली और प्यारी नहीं होती। यदि कहो कि कन्या ब्याही जाने के पीछे पराई हो जाती है, यह बात तो बालक में भी उसके समान ही देखी जाती है क्योंकि वह स्याना होने से अपने स्त्री पुत्र का हो जाता है, जैसा पहले वह अपने माता–पिता का बना रहता है उतना फिर पीछे से नहीं रहता। यदि इस बात को झूठ मानते हो तो अपनी ओर ही देख लो, तुम तो बड़े बुद्धिमान थे, मेरे साथ ब्याहे जाने के पीछे अपने माता–पिता के क्यों न रह गये?"[15] भाग्यवती समाज में प्रचलित स्त्री–विरोधी मतों का एक–एक करके निवारण करती है। वह लैंगिक भेदभाव के खिलाफ खुलकर बोलती है। इतना ही नहीं 'भाग्यवती' स्वयं अपने चरित्र द्वारा यह सिद्ध करती है कि स्त्री किसी भी मायने में पुरुष से कमतर नहीं है बशर्ते उसे अच्छी शिक्षा–दीक्षा दी जाए।

'भाग्यवती' उपन्यास का एक मार्मिक पहलू है 'भाग्यवती' का ससुराल से निकाला जाना। षड्यंत्र में फंसकर भाग्यवती के ससुर सास उसे घर से निकाल देते हैं। यहाँ तक की उसका पति मनोहरलाल भी उसका साथ नहीं देता। परंतु भाग्यवती हिम्मत नहीं हारती। वह सोचती है "बुद्धिमान वही है जो विपत्काल में धैर्य को हाथ से न छोड़े। हाय! यदि युद्ध में ही शस्त्र काम न आये तो फिर कब आवेंगे? सो यदि विपत्काल में ज्ञान विचार ने सुख न दिया तो फिर कब काम आयेंगे? अब तो यह योग्य है कि कोई ऐसा उपाय करूँ कि जिससे सासु और ससुरे के मन से भ्रांति दूर होकर मुझे निरपराध जानने लग जाएँ।"[16] जिस समाज में स्त्रियों का घर से निकलना बड़ी बात समझी जाए, जहाँ घर से बाहर जाने के लिए स्त्री को पति, पुत्र, देवर या ससुर का सहारा चाहिए, वहाँ भाग्यवती अकेले ही घर से निकल जाती है। पति के घर से

निकलकर वह पिता के घर नहीं जाती बल्कि स्वयं अपना घर बनाती है। कुछ समय बाद अपने परिश्रम और विद्या से वह एक नया घर खड़ा करती है, अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित करती हैं। महत्वपूर्ण है कि इस दौरान वह किसी पुरुष (पति, पिता या ससुर) की सहायता नहीं लेती। इन्हीं कारणों से भाग्यवती अपने समय से आगे की रचना है। भाग्यवती 1860–1870 में जो करती है, वह 1960–1970 के दशक की भारतीय स्त्रियों के लिए भी मुश्किल था।

'भाग्यवती' पहली स्त्री है जो पति के घर से निकलकर अपना घर बनाती है। कष्ट के दिनों को चुपचाप सहती है पर स्वाभिमान से समझौता नहीं करती। पं. श्रद्धाराम ने 'भाग्यवती' के विपत्तिकाल का बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है– "इतने में जो कुछ मन में उठा तो वह लोहे का तसला एक पड़ोसन के यहाँ गहने रख के पाँच आने के पैसे ले आयी। घर में आते ही दो आने का तो सूत मँगाया एक आने में चार सूए। और दो आने में भोजन मँगवा के पेट भरा। हाथ ऐसे शीघ्र चलता था कि साँझ लौं एक जोड़ी जुराब की ऐसी बूटे बेल से सजाई कि उसी दिन आठ आने की बेच दी। कुछ दिन तो यही चाल रही कि दो आने में भोजन और दो आने का सूत ला के चार आने पैसे बचा तो गयी। महीने के पीछे वह तसला छुड़ा के उसी एक बरतन में जैसे रसोई का काम चलाने लगी वह बात भी सुनने के योग्य है।

पहले तो तसले में पानी ला के कपड़े पर आटा मांड लेना और फिर तसले में दाल बना लेना। फिर दाल को दोनों में डाल के उसी तसले से तवे का काम चलाना और फिर रोटी पोकर उसी तसले में जल भर पीना। इस विपत से दिन काटकर, जब दूसरे महीने में जुराबों की कमाई में से चौदह–पंद्रह रुपए पास हो गए तो पाँच रुपये में रसोई के बरतन मँगाए और

वह तसला जिससे लिया था उसे फेर दिया। फिर दस रुपये में एक रेशमी चादर मँगा के उस पर सूजनी काढ़ने का कार्य आरम्भ किया। उस पर ऐसी सुंदर सिलाई की कि सूई के काम में फूल–पत्ती बेल–बूटा से अधिक इस भाँति–भाँति के दोहे भी लिख दिए–

विद्या बंधु विदेश में, विद्या विपत सहाय।
जो नारी विद्यावती, सो कैसे दुःख पाय।।
राज भाग सुखरूप धन, विपत समय तब जाँह।
इक विद्या विपता समय, तजे न नर की बाँह।।"[17]

इस पूरे प्रसंग में तीन–चार बातें गौर करने वाली हैं। 'भाग्यवती' उपन्यास में पति के लिए **'स्वामी'** शब्द का प्रयोग करती है, परंतु विपत्ति में वह पति का मुँह ताकने के बजाए स्वयं उद्यम करती है। वह अपने गहनों को पारंपरिक स्त्री की तरह कलेजे से लगाए नहीं रखती, बल्कि उन्हें गिरवी रखकर जीवन चलाने का प्रबंध करती है। आमतौर पर सिलाई–कढ़ाई को औरतों के लिए फिजूल माना जाता है। समझा जाता है कि यह उन्हें घरेलू कार्यों में फंसाए रखने का माध्यम भर है, परंतु इसी हुनर के कारण 'भाग्यवती' अपना रोजगार शुरू कर पाती है। 'सिलाई–कढ़ाई' ही भाग्यवती के लिए 'कुटीर उद्योग' या 'हस्तशिल्प' की भूमिका निभाता है। इसी से वह आगे जमीन लेती है और अपना घर बनाती है। ससुराल में घर से निकाली गई भाग्यवती धीरे–धीरे अपने पैरों पर खड़ी होती है। "जब घर में (भाग्यवती के) पाँच–सात नौकर रखने का सामर्थ्य हो गया तो फिर एक–दो गायें भैसे भी रख लीं। अब दूध–दही भी घर में ही होने लग गया और गोबर से ईंधन का काम हुआ। यदि कोई गाय–भैंस अच्छा कट्टा–बच्छा देती तो खेती के काम में जोतती और जो दुबला–पतला देखती तो बेच के रुपये इकट्ठे कर लेती। संयम और यतन ऐसी वस्तु है कि थोड़े ही दिनों में भाग्यवती धनवती कहाने लग गयी।"[18] पति

के घर से निकाली गई, एक तसले में दाल–रोटी बनाकर खाने वाली भाग्यवती, जिसके पास सिवाय विद्या के कुछ नहीं था, थोड़े ही दिनों में ऐसी प्रगति करती है कि पाठकों को आश्चर्य होता है। वस्तुतः 'भाग्यवती' का चरित्र ऐसा है कि उसके लिए कुछ भी असंभव नहीं है।

'भाग्यवती' स्त्रियों के लिए ध्रुवतारा है। वह तारा जिसे देखकर कोई भी यात्री मंजिल का रास्ता पा सकता है। वह तारा जो अंधेरी रात में पथ प्रदर्शक का काम करता है। वह तारा जो अटल है और प्रकाशमान है। उपन्यासकार 'भाग्यवती' को स्त्रियों के लिए 'रोल मॉडल' के रूप में प्रस्तुत करता है– "देखों उसने (भाग्यवती ने) इनसे अलग होकर चौगुणा तो अपना घर बना लिया और काशी भर में नाम पाया, सो अलग रहा। भाई विद्या बड़ी अच्छी वस्तु है। इसके समान और कोई धन नहीं। कोई कहता देखो, जिस भाग्यवती को इन्होंने नंगी–भूखी, निर्धन, निराश्रय करके घर से निकाल दिया था आज उसके यहाँ सैकड़ों कंगाल भोजन पा के निकलते हैं। और आज उसने सौ रुपया धर्मार्थ निकाल के पाठशाला में भेजा है कि यहाँ विदेशी विद्यार्थी विद्या पढ़ते हैं। आज उसने एक हवेली गहने रखी है और आज उसके घर में कंगालों के लिए धर्मार्थ औषधि बाँटने वाले दो वैद्य नौकर रखे गए हैं इन बातों को सुन के सासु और ससुरे के मन में लज्जा तो आती पर कुछ उत्तर नहीं दे सकते थे।"[19] मैंने आरंभ में इस बात का उल्लेख किया था कि 'भाग्यवती' ने लैंगिक विभाजन को खत्म कर दिया। साथ ही इस बात को भी रेखांकित किया था कि आरंभिक उपन्यासों की स्त्री सिर्फ पुरुषों के अनुसार गृह–प्रबंध करने तक सीमित नहीं थी। 'भाग्यवती' जिस समाज और काल की रचना है, उस समय कंगालों को भोजन और विद्यालयों को अनुदान में रुपए कौन देता था? बड़े–बड़े सेठ और महाजन यह काम करते थे। बड़े–बड़े व्यापारी ही रोगियों के

लिए मुफ्त में औषधि बँटवाते थे। 'भाग्यवती' वह सारे काम करती है जो उस समय का 'भद्रवर्ग' कर रहा था। 'उच्चवर्गीय भद्र पुरुषों' के समानांतर 'भाग्यवती' 'उच्चवर्गीय भद्र स्त्री' का उदाहरण प्रस्तुत करती है। वह पुरुष ढाँचे में ढ़लने के बजाए स्त्री के लिए एक नए ढाँचे का निर्माण करती है। 'भाग्यवती' 'धनवती कहलाने लगी' और 'काशी भर में नाम पाया' जैसे उद्धरणों द्वारा उपन्यासकार ने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि स्त्री सिर्फ पुरुष की परछाई नहीं है। अगर स्त्री को शिक्षा मिले तो वह 'भाग्यवती' की तरह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकती है। शहर भर में नाम कमा सकती है। स्कूलों को अनुदान दे सकती है, सैकड़ों गरीबों को भोजन करवा सकती है। स्त्री वह सारे काम कर सकती है जो एक पढ़ा–लिखा पुरुष करता है। 'भाग्यवती' पुरुषवादी संरचना के बरक्स स्त्री सशक्तिकरण का आदर्श प्रस्तुत करता है। सन् 1860–70 में 'भाग्यवती' काशी जैसे बड़े नगर में न सिर्फ सार्वजनिक हस्ती बनकर उभरती है, बल्कि वह 'स्त्री–स्वाभिमान' का प्रतीक भी बन जाती है। उसके मनोभाव हैं– "यदि मैं अपने बाप के यहाँ अपनी विपत्ति की बात लिख भेजूँ तो मुझे सब कुछ वहाँ से आ सकता है परन्तु उसने इस बात को अच्छा समझा कि मनुष्य को किसी के अर्थी होना श्रेष्ठ नहीं। सिंह और शूरवीर वही है जो किसी दूसरों की मार से अपना पेट न भरे।"[20]

जाहिर है कि आरंभिक उपन्यास की स्त्री 'केवल बेहतर ढंग से अपने पतिव्रत धर्म का निर्वाह' करने तक सीमित नहीं है। आरंभिक उपन्यासों पर चर्चा करते हुए बार–बार कहा जाता है कि इन उपन्यासों का उद्देश्य 'घरेलू कार्यों में दक्ष स्त्री का निर्माण' करना है, कि उपन्यासकार इन स्त्रियों के चरित्र को घरेलू सांचे में कैद कर देते हैं। वस्तुतः इस पूरी प्रक्रिया में घरेलू कार्यों को निम्न दर्जे का बताया जाता है और इसे एक प्रकार से हास्यास्पद सिद्ध कर

दिया जाता है। यह सही है कि स्त्री को सिर्फ घरेलू कार्यों तक सीमित नहीं रखना चाहिए, परंतु क्या घरेलू कार्यों का कोई महत्व नहीं? अगर कोई स्त्री घरेलू कार्यों में लगी है तो किस तर्क से वह निम्न दर्जे की स्त्री हो गई। घर का प्रबंधन क्या देश की प्रगति से जुड़ा मसला नहीं है? परिवार चलाना और कुशलता पूर्वक गृहस्थी संभालना क्या कम महत्वपूर्ण हैं? घर के भीतर एक पढ़ी–लिखी स्त्री का होना क्या परिवार को व्यवस्थित नहीं करता। हर पढ़ी–लिखी स्त्री अनिवार्य रूप से दफ्तर जाए यह तो रोजगार की उपलब्धता के अनुसार भी संभव नहीं है। आज 2017 में जब रोजगार के इतने अवसर उपलब्ध हैं तब हम आसानी से रोजगार में स्त्रियों के प्रतिनिधित्व की बात कर सकते हैं, परंतु सन् 1860–1870 के उत्तर भारत में कितने रोजगार थे इस पर भी विचार करना चाहिए। हम आज के हिसाब से आरंभिक उपन्यासों की स्त्री को देखेंगे तो कई असंगतियाँ नजर आएंगी परंतु तत्कालीन संदर्भों में देखें तो विसंगतियों की तुलना में यह उपलब्धि की तरह दिखेगी। ज्ञानचंद जैन ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास' में इन्हीं संदर्भों पर विचार करते हुए लिखा है– "गौरीदत्त ने अपनी कहानी में पढ़ी–लिखी देवरानी और अपढ़ जेठानी के व्यवहार और चरित्र का अंतर दिखाकर न केवल लड़के–लड़कियों को शिक्षा देने के लाभ दर्शाये हैं, वरन् बहुत–सी सामयिक शिक्षाएँ भी दी हैं। जिनमें बदलते समाज के नए सामाजिक मूल्यों की झलक मिलती है– जैसे लड़के–लड़कियों को गहने नहीं पहनाने चाहिए, ब्याह–शादी में उतना ही खर्च करना चाहिए जितना अपनी चादर में पैर पसारने की गुंजाइश हो, बच्चों को अफीम चटाकर सुला देना एक ऐसी कुप्रथा है जिसे त्याग देना चाहिए क्योंकि कभी अफीम की मात्रा ज्यादा हो जाने पर बच्चे की जान पर बन सकती है, बच्चों को बीमार पड़ने पर उनका इलाज शफाखाने ले जाकर किसी योग्य

हकीम से कराना चाहिए। टोने–टोटके, गंडे–तावीज या झाड़–फूँक के चक्कर में न पड़ना चाहिए, उन्हें चेचक का टीका लगवा देना चाहिए, इससे चेचक निकलती ही नहीं या निकलती भी है तो उसका जोर नहीं होता।"[21] आज का आलोचक जिन बातों को छोटी–छोटी घरेलू कार्यव्यापार कहकर टाल देता है 19वीं सदी में यही बातें महत्वपूर्ण थी। छोटे बच्चों को समय से चेचक का टीका लगवाना, झाड़–फूँक के बजाए अस्पताल जाकर इलाज करवाना, खर्च के हिसाब से घर का प्रबंधन करना क्या कम उल्लेखनीय बातें हैं? कोई भी सुधार क्रमशः ही होता है। अगर 1870–80 के दशक में पढ़ी–लिखी स्त्री इतना कर रही थी, तो यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं था? अपने बच्चों का अच्छी तरह लालन–पालन करके क्या वे देश के लिए एक स्वस्थ्य और योग्य पीढ़ी का निर्माण नहीं कर रही थीं? आय के हिसाब से घर का प्रबंधन करके क्या वे परिवार को आने वाले कर्जों से नहीं बचा रही थीं? झाड़–फूँक के बजाए अस्पताल में इलाज करवाने वाली महिलाएँ क्या एक वैज्ञानिक समाज की नींव नहीं रख रही थी? यह स्त्रियाँ घरेलू कार्यों में लगी होकर या घर की सीमा में रहते हुए भी कई कार्य वैसे कर रही थी जो औपनिवेशिक दासता से घिरे राष्ट्र के लिए महत्वपूर्ण था।

आरंभ से ही नवजागरण काल के साहित्यकारों का ध्यान स्त्री प्रश्नों पर था। उनका मानना था कि स्त्री–शिक्षा सामाजिक सुधारों का माध्यम है। इन्हीं कारणों से आरंभिक उपन्यासकार एक ऐसे ढाँचे में उपन्यास लिख रहे थे, जिससे स्त्री–शिक्षा को बढ़ावा मिले। उन्नीसवीं सदी का उपन्यासकार यह स्वीकार करता था कि पढ़ी–लिखी स्त्री घर का बेहतर संचालन कर सकती है। साथ ही आने वाली पीढ़ी को भी शिक्षित कर सकती है। साथ ही आने वाली पीढ़ी को भी शिक्षित कर सकती है। यह अकारण नहीं है कि अधिकांश

उपन्यासों में पढ़ी और बेपढ़ी स्त्री के बीच का अंतर दिखाया गया है। 'पढ़ी' स्त्री अच्छी है और बेपढ़ी स्त्री बुरी। 'पढ़ी' स्त्री को पति के साथ–साथ परिवार के अन्य सदस्यों का स्नेह मिलता है, जबकि 'बेपढ़ी' पति के लिए मुसीबत पैदा करने वाली और परिवार को तोड़ने वाली है। पढ़ी स्त्री संयुक्त परिवार की वकालत करती है जबकि बेपढ़ी स्त्री पति के साथ अलग हो जाती है। ये उपन्यास स्त्री–शिक्षा की वकालत करने के साथ–साथ पारंपरिक भारतीय मूल्यों की भी वकालत कर रहे थे।

मुंशी ईश्वरीप्रसाद और मुंशी कल्याण राय द्वारा दलित 'वामा शिक्षक' का मुख्य उद्देश्य 'स्त्री शिक्षा' तो है ही पर उपन्यासकार यह भी दिखाता है कि संयुक्त परिवार को बचाना चाहिए। उपन्यास के अंत में लेखकद्वय स्त्रियों को संबोधित करते हुए लिखते हैं– "ऐ लड़कियों तुमको चाहिये कि तुम गंगा और किशोरी का–सा चाल चलन और विद्या गुण सीखो क्योंकि तुमने इस पुस्तक में पढ़ा होगा कि गंगा ने अपनी विद्या और गुण से घर का कैसा अच्छा प्रबंध किया और सासु सुसरे और अपने पति और नातेदारों को प्रसन्न रक्खा और अपनी बुद्धिमानी से कंगाल से अमीर बन गई– सब ने उसकी बड़ाई और प्रशंसा की– अपनी संतान को उचित रीति से पाला और पढ़ाया और किशोरी उसकी बहन ने विधवा और कंगाल होने पर भी केवल अपने गुण और चतुराई से घर को ऐसा चलाया है कि जीते जी अपने नातेदारों किंतु अपने बाप की भी एक कौड़ी की कचौड़ी नहीं हुई और किसी ने उस्से इतनी बात तक भी नहीं कही कि तेरे मुँह में कै दाँत हैं और हज़ार रुपए लगाकर अपने लड़के का विवाह किया और दो हजार रुपए से उसे दूकान करा दी कि जिससे उसकी गिन्ती रईसों और अमीरों में होने लगी और बड़े–बड़े हाकिम उसकी प्रशंसा करने लगे इसलिए जो तुम भी गंगा और किशोरी का सा चाल चलन सीखोगी

तो वैसे ही तुम्हारा जीवन भी सुख से बीतेगा दुःख तुम्हारे पास को भी नहीं फटकेगा और जो कोई लड़की राधा और पार्वती का चाल चलन और हठ सीखेगी वह सदा दुःख और विपत् में फँसी रहेगी।"[22] लेखक ने उपन्यास में पार्वती और किशोरी का चित्रण किया है। पार्वती और किशोरी दोनों विधवा हैं पर एक का जीवन काफी कष्टपूर्ण है और दूसरे का सुखपूर्ण लेखक ने एक जैसी परिस्थिति में दो पात्रों को डालकर दिखाया है कि पढ़ी और बेपढ़ी स्त्री में क्या अंतर है। बेपढ़ी पार्वती परिवार से अलग होकर रहती है और 'मुगलानी' नामक महिला ठग से ठगी जाती है। चूँकि पार्वती संयुक्त परिवार से अलग होकर रहती थी अतः 'मुगलानी' जैसी ठग के लिए वह आसान शिकार थी। उपन्यासकार ने दिखाया है कि पार्वती का जेठ और देवर उसका काफी ध्यान रखते थे परंतु उसे हर हाल में संयुक्त परिवार से अलग रहना था। "पार्वती की माँ ने पार्वती के बुरी तरह से कान भर दिए अर्थात् उसको यह समझा दिया कि जो तुझको वहाँ (ससुराल में) किसी तरह का दुःख हो तो सबसे अलग हो जाना और अपने सुसरे की कमाई का हिस्सा बँटवा लेना अब तेरा क्या, अकेला दम है एक बार करेगी दो बार खाएगी—पार्वती तो हठीली और मूर्ख थी ही वह भला देवर जेठों में क्या निर्वाह करने वाली थी, दूसरे उसकी माँ के कान भरने— कहावत है कि एक तो करेला दूसरे नीम चढ़ा— निदान उसने सासरे जाकर दो वर्ष भी निर्वाह न किया।"[23] अगर पार्वती के नजरिए से देखें तो कहा जा सकता है अगर पार्वती को अलग रहने की इच्छा थी तो इसमें गलत क्या है? निःसंदेह पार्वती को अलग रहने का अधिकार था उसे अपना निर्णय लेने का पूरा हक था। परंतु यह तर्क तब खोखला लगता है, जब पता चलता है कि विधवा पार्वती के ससुराल वाले उसका ख्याल रखते थे। कोई ऐसी जायज माँग नहीं थी जिसे वे पूरा न करते हो। वे उसका अपनी हैसियत के अनुसार

ख्याल रखते। "लाला हजारीलाल और उनके भाई उसकी (पार्वती की) खातिरदारी करते और जिस गहने या कपड़े के लिए कहती अपने वित्त समान बनवा देते परंतु तिस्पर भी उसकी त्यौरी चढी रहती कभी कहती कि मैं तुलसी जी का विवाह करूँगी और कभी कहती कि मुझको एकादशी का उद्यापन करवा दो निदान हर महीने में सौ पचास रुपए का खर्च बतला देती– घर में ऐसा क्या था जो सारी हठ उसकी पूरी होती– घरों में तो वैसे ही बहुत खर्च होते हैं– न जाने कैसे बिचारे हजारीलाल घर चलाए जाते थे एक आध बार तो पार्वती के कहने पर उन्होंने दस बीस रुपए खर्च कर दिए फिर जब पास न हुआ तो नट गये– पार्वती को अलग होने का अवसर हाथ आया।"[24] स्पष्ट है कि पार्वती की हर संभव माँग का ख्याल रखा जा रहा था, परंतु वह परिवार की आर्थिक हैसियत से बाहर जाकर अपने लिए अतिरिक्त लाभ माँग रही थी। ऐसी स्थिति में उसका संयुक्त परिवार में रहना संभव नहीं था। हालांकि पार्वती के अलग होने के समय भी हजारीलाल ने उसे उसका हिस्सा सात सौ रुपए उसको दे दिए।"[25] अनपढ़ पार्वती इतने इकट्ठे रुपए देखकर फूली न समाई और सोची कि यह रुपया तो मुझको उमर भर खाने को बहुत है– जब ही दो सौ रुपए के कर्नफल और झुमके बनवाने के लिए सुनार को दे दिए।"[26] उपन्यासकार ने यह दिखाने का प्रयास किया है एक विधवा और अनपढ़ स्त्री का हित संयुक्त परिवार में ही सुरक्षित है। अनपढ़ स्त्री अपना हक पाकर भी उसे फिजूल के खर्च में गँवा देती है। पढ़ी–लिखी न होने के कारण उसमें 'व्यापार–बुद्धि' और सामाजिक ज्ञान का अभाव होता है। फलतः वह संयुक्त–परिवार का संरक्षण खोकर दुनिया में अकेली रह जाती है।

'पार्वती' के बरक्स लेखकद्वय ने किशोरी का चरित्र उभारा है। पार्वती की तरह किशोरी भी विधवा हो जाती है। परंतु पार्वती अनपढ़ है और किशोरी

पढ़ी–लिखी। यहाँ तक की किशोरी के ससुर भी नहीं है, यानी वह पति और ससुर के बिना घर चलाती है। किशोरी के घर में एक भी युवा पुरुष नहीं है, जो तत्कालीन समाज में स्त्री का सबसे बड़ा 'सहारा' समझा जाता था। पर किशोरी हिम्मत से काम लेती है। यह आधुनिक चिकित्साशास्त्र की जानकारी रखती है और अपने बेटे हरप्रसाद को चेचक से बचाती है। किशोरी की सास चेचक होने पर झाड़–फूक करवाने की बात करती है परंतु किशोरी का स्पष्ट कहना था कि "नहीं नहीं यह तो मैं कभी नहीं करूँगी उजड़े स्याने दिवाने को तो अपने घर में पाँव न धरने दूँगी फिर किशोरी ने डॉक्टर के पास आदमी भेजा और लड़के का सब हाल कहला भेजा और यह भी कहला भेजा कि कोई ऐसी दवा बताइए या दीजिए जिस्से शीतला अच्छी तरह से भर आवे और लड़के के घबराहट दूर हो।"[27] किशोरी प्रगतिशील स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है। पति को गुजर जाने के बाद स्वयं और अपने छोटे बच्चे हरप्रसाद को संभालती है। किशोरी चूँकि शिक्षित है अतः उसे अपने पुत्र के भविष्य की चिंता है। "चार पाँच बरस तक किशोरी ने हरप्रसाद को आप नागरी और उर्दू पढ़ाई और हिसाब किताब सिखलाया।"[28] किशोरी एक ऐसे स्त्री पात्र के रूप में सामने आती है जो स्वावलंबी है, प्रगतिशील तथा मेहनती है। किशोरी अपने बूते धीरे–धीरे अपना कारोबार खड़ा करती है। बेटे हरप्रसाद को दो हजार रुपए देकर बीच बाजार में उसकी दुकान खुलवाती है। इतना ही नहीं वह स्वयं भी काम करती है, अपना व्यापार खड़ा करती है– "किशोरी आप टोपियाँ और दुपट्टे आदि कलाबत्त बना कर अपनी दूकान पर बिकरी के लिए भेज देती– साथ–साथ लड़कियों और औरतों को किशोरी ने यह काम सिखाया था अब उन्हीं से अपनी दूकान का माल बनवाती ओर उनको वाजिब मजदूरी दिया करती– इन युक्तियों से दो तीन वर्ष के पीछे उस दूकान की दो ढाई सौ

रुपए महीने की आमदनी हो गई।"[29] किशोरी की उद्यमशीलता किसी के लिए भी प्रेरणादायक हो सकती है। 'भाग्यवती' की तरह ही वह एक 'आदर्श स्त्री' पात्र है। दोनों ने अपनी विद्या और कौशल से धन अर्जित किया। किसी पुरुष का सहारा नहीं लिया। दोनों ने नगर भर में ख्याति अर्जित फिर किशोरी की प्रगति का एक चित्र देखिए– "अब किशोरी और उसकी सास दान पुन्य भी बहुत करने लगीं– कई कुँए सड़कों पर बनवाए कई बार गो–शत दान किया अर्थात् एक सौ एक गौ पुन्य की सच है कि भगवान् को दिन फेरते कुछ देर नहीं लगती– जब ललता प्रसाद और ठाकुर प्रसाद मरे थे तब उनके घर में क्या था सारे मुहल्ले के लोग यह कहते थे कि देखिए इन रांडों का निर्वाह कैसे होगा पर किशोरी को सराहिए कि अपनी समझ और गुण से कभी किसी की एक कौड़ी उधार न खाई वरन् अपनी चतुराई से आज को अमीरी भुगती और फिर इस अमीरी में सारी उमर उस्की बीती ललता प्रसाद को दिल्ली में कोई जान्ता भी न था अब उनके पोते हरप्रसाद ने ऐसा नाम बनाया कि दिल्ली के सभी क्या छोटा क्या बड़ा हरप्रसाद को जान्ने लगे और दिल्ली के रईसों में एक रईस गिने जाने लगे हाकिम भी उनकी बहुत इज्जत करने लगे और सकार की तर्फ़ से और रईसों की तरह उस शहर के म्यूनिस्पिल कमिश्नर नीयत हुए।"[30]

किशोरी की प्रगति का चित्र किसी को भी मनोहारी लग सकता है, पर हमें यह भी देखना चाहिए कि यहाँ तक पहुँचने में किशोरी को क्या–क्या दुःख उठाने पड़े। 1870–80 के दशक की एक ऐसी स्त्री जिसका पति मर गया है, ससुर भी न हो, पुत्र छोटा हो जिसे किसी पुरुष का सहारा न हो वह इतनी तरक्की करती है कि पूरे शहर में उसका नाम हो जाता है। वह सड़कों के किनारे राहगीरों के लिए कई–कई कुँए बनवाती है। किशोरी ने कभी किसी की

एक कौड़ी उधार न खाई यानी कभी किसी के सामने हाथ न पसारा। जो कुछ किया खुद के बलबूते किया। किशोरी के पति ठाकुर प्रसाद और ससुर ललता प्रसाद को दिल्ली में कोई जान्ता भी न था पर आज किशोरी और उसके बेटे हरप्रसाद दिल्ली के नामी रईसों में गिने जाते हैं। क्यों यह सब एकाएक हुआ? क्या किसी ने चुटकी बजा दी और किशोरी एकाएक मालामाल हो गई? नहीं। यह सब हुआ किशोरी के पढ़े–लिखे होने के कारण। यह इसलिए संभव हुआ क्योंकि विद्या ने किशोरी को स्वावलंबी बनाया। शिक्षित होने के कारण उसने विषम परिस्थिति में हार नहीं मानी। अपने लिए नया रास्ता तैयार किया।

किशोरी पुरुषवादी सामाजिक संरचना में कैद होने से इंकार करती है। वह पुरुषवादी ढाँचे के समानांतर स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास करती है वह भी बिना किसी पुरुष की सहायता के। आरंभिक हिंदी उपन्यासों में 'भाग्यवती' और 'वामा शिक्षक' की किशोरी दो ऐसी पात्र है जो घर की देहरी लाँघती है, और क्रमशः 'काशी' और 'दिल्ली' जैसे बड़े शहरों में अपना नाम पैदा करती है। अपनी इस यात्रा में वे किसी पुरुष का सहारा नहीं लेती। उन्हें सिर्फ अपनी विद्या और पुरुषार्थ का सहारा है। दोनों ने मर्दवाची ढाँचे के समानांतर अपने व्यक्तित्व का विकास किया। दोनों जब संकट में थीं तो इनके आस–पास के लोगों को लगता था कि इनका गुजारा कैसे होगा? पर समय बीतने के साथ–साथ दोनों ने समाज को झुठला दिया; जिन आलोचकों को लगता है कि आरंभिक उपन्यासों की स्त्रियाँ सिर्फ पुरुषों की परछाई थी, या घरेलू कार्यों तक सीमित थी, उन्हें भाग्यवती और 'वामा शिक्षक' दुबारा पढ़ लेनी चाहिए। आरंभिक उपन्यास की स्त्रियों को सिर्फ 'घरेलू कार्यों की देखभाल' तक समेटने का प्रयास अतर्किक तो है ही पुरुषवादी सोच का प्रमाण भी है। पुरुषवादी मानसिकता स्वतंत्र स्वावलंबी और तार्किक स्त्री को जब बर्दाश्त नहीं कर पाता

तो उसकी अनदेखी करने लगता है। ऐसी सशक्त स्त्रियों की अनदेखी करना वस्तुतः उनका अवमूल्यन करना है।

आरंभिक हिंदी उपन्यासकार जिन मुद्दों से टकरा रहा था वहीं चिन्ताएँ आरंभिक उर्दू उपन्यासकारों के सामने थी। 'परीक्षागुरु' और 'मिरातुल–उरुस' का केंद्र दिल्ली है। 'शरीफ़जादा' उमराव जान अदा और कामिनी की कथाभूमि लखनऊ है। बनारस की 'भाग्यवती' और मेरठ की 'वामा शिक्षक' की कहानियाँ लगभग एक जैसी है। दिल्ली, मेरठ, लखनऊ तथा बनारस के उपन्यासकारों के सामने लगभग एक जैसी समस्याएँ थीं। अगर हम 'परीक्षागुरु', 'भाग्यवती', 'वामा शिक्षक' और 'देवरानी–जेठानी की कहानी' के साथ आरंभिक उर्दू उपन्यास 'मिरातुल उरुस' (1869 ई.) और 'शरीफ़जादा' को पढ़े तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

जिस तरह 'श्रद्धाराम फुल्लौरी' मुंशी ईश्वरीप्रसाद और मुंशी कल्याण राय तथा पं. गौरीदत्त स्त्रियों को शिक्षित करने के हिमायती थे, उसी तरह नज़ीर अहमद भी स्त्रियों को शिक्षित करने के पक्षधर थे। वे 'मिरातुल उरुस' की भूमिका में लिखते हैं– "तुम तो पर्दे में बन्द हो। किसी से मिल जुल नहीं सकती, इसलिए सिवाय पढ़ने–लिखने के तुम्हारे सामने और कोई उपाय नहीं है। मैं तो कहूँगा कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को पढ़ने–लिखने की आवश्यकता है। आखिर घर में बैठी–बैठी जमाने भर की बातें तुम्हें मालूम हो जायँगी। तुम्हें पता लगेगा कि संसार उन कुछ घरों तक सीमित नहीं है, जिनमें तुम रहती हो। वह दिल्ली या और दूसरे शहरों तक भी सीमित नहीं, जिनके नाम तुमने सुन रखे हैं जब तुम इतिहास और भूगोल पढ़ोगी तब तुम्हें मालूम होगा कि संसार कितना बड़ा है।"[31]

'मिरातुल उरुस' की यह भूमिका आरंभिक हिंदी उपन्यासों के मुकाबले काफी व्यापक है। 'वामा शिक्षक' उपन्यास की रचना (रचनाकाल 1872 ई., परंतु प्रकाशन सन् 1883 ई. में) 'मिरातुल उरुस' के बाद हुई। लेखकद्वय उपन्यास की भूमिका में इस बात को स्वीकार करते हुए लिखते हैं "इन दिनों मुसलमानों की लड़कियों के पढ़ने के लिए तो एक–दो पुस्तकें जैसे 'मिरातुल उरुस' आदि बन गई परंतु हिंदुओं व आर्यों की लड़कियों के लिए अब तक कोई ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई कि जिससे उनका जैसा चाहिए वैसा लाभ पहुँचे।"[32] स्पष्ट है कि 'वामा शिक्षक' के रचनाकारों को 'मिरातुल उरुस' की जानकारी थी। इसी प्रकार सन् 1870 में प्रकाशित 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास की भूमिका में पण्डित गौरीदत्त लिखते हैं कि "बेपढ़ी स्त्री जब एक काम को करती है, उसमें क्या–क्या हानि होती है। पढी हुई जब उसी काम को करती है उससे क्या–क्या लाभ होता है।"[33] आरंभिक हिंदी उपन्यासकार स्त्री को शिक्षित करने के हिमायती है, ठीक उसी तरह जैसे उर्दू के आरंभिक उपन्यासकार है। परंतु नजीर अहमद की दृष्टि ज्यादा व्यापक है। डिप्टी नज़ीर अहमद स्त्री शिक्षा पर जोर देने के साथ–साथ यह भी कहते हैं कि 'पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को पढ़ने–लिखने की ज्यादा आवश्यकता है।' साथ ही ये लड़कियों के लिए 'इतिहास' और 'भूगोल' पढ़ना भी जरूरी मानते हैं, जिससे उन्हें पता चले कि 'संसार कितना बड़ा' है। नजीर अहमद पर्दे में कैद मुस्लिम औरतों को 'जमाने भर की बातें' बताना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि स्त्री पर्दे से निकलकर न सिर्फ आस–पास की दुनिया देखे बल्कि उसे पूरे संसार का हाल मालूम हो।

हिंदी उपन्यासों की तरह ही घर का कुशल प्रबंधन और संयुक्त परिवार की चिंता उर्दू उपन्यासकारों का मुख्य कथ्य है। 'मिरातुल उरुस' के लेखक

नज़ीर अहमद ने 'अकबरी' और 'असगरी' के माध्यम से यही बात कही है। 'अकबरी' अनपढ़ है, जबकि 'असगरी' पढ़ी–लिखी है। अकबरी का चरित्र देखिए– "उसने न तो कुछ पढ़ा लिखा न कोई कला सीखी न बुद्धि ग्रहण की और न अपनी आदतों को सँवारा। सारांश यह कि अकबरी में सिवाय इसके कि वह प्रतिष्ठित भद्र परिवार की बेटी थी, प्रशंसा की कोई बात ही न थी।"[34] वहीं दूसरी ओर पढ़ी–लिखी असगरी 'सर्वगुण संपन्न' थी। "उसने छोटी सी आयु में 'कुरआन मजीद' का अनुवाद और अन्य विषयों पर उर्दू की पुस्तकें पढ़ ली थीं। लिखने में भी यह पंगु न थी। यदि माता दिल्ली होती और पिता बाहर नौकरी पर, तो जब तक दिल्ली रहती, घर का हाल पिता को प्रति सप्ताह लिख भेजा करती। प्रत्येक प्रकार का कपड़ा सी लेती थी और विविध प्रकार के स्वादिष्ट भोजन–व्यंजन पकाना जानती थी। सारे मुहल्ले में 'असगरी खानम' की प्रशंसा होती थी। माता के घर का सारा प्रबन्ध असगरी खानम के हाथों में था। जब कभी बाप छुट्टी लेकर घर आता घर–गृहस्थी के प्रबंध में असगरी से परामर्श करता। रुपया पैसा, कोठरियों और सन्दूकों की कुंजियाँ, सब कुछ असगरी के अधिकार में रहा करता था।"[35] पढ़ी–लिखी असगरी हर काम में कुशल है। वह घर का सारा प्रबंध संभालती है और घर–गृहस्थी के प्रबंध में पिता को सलाह देती है। 'अकबरी' में कोई गुण न था जबकि "असगरी की भाग्य–शीलता गुण और कार्य–कौशल को देखकर न केवल माता–पिता ही मन प्राण से उसको चाहते, बल्कि मुहल्ले के सब लोग भी असगरी से बहुत प्यार करते थे।"[36]

अकबरी का अशिक्षित होना और असगरी का शिक्षित होना तब और उभर कर सामने आता है जब दोनों का निकाह हो जाता है। अकबरी का निकाह आकिल से और असगरी का निकाह कामिल से होता है। आकिल और कामिल दोनों भाई है। उपन्यासकार ने दोनों को एक ही स्थिति में रखकर

दिखाया है कि पढ़ी–लिखी जहाँ परिवार को संवारती है, वहीं 'बेपढ़ी' परिवार से अलग होना पसंद करती है।

आरंभिक हिंदी उपन्यासों की तरह 'मिरातुल उरुस' में भी 'ससुराल का जीवन' स्त्री की कसौटी है। जो स्त्री इस कसौटी पर खरी उतरी वह अच्छी है और जो इस कसौटी पर असफल हो गई वह बुरी है। ससुराल में सास–ससुर की सेवा, देवर–ननद से स्नेहपूर्ण व्यवहार और घर का कुशल प्रबंधन जैसी कुछ कसौटियों पर खरा उतर कर ही 'अच्छी बहू' की पदवी पाई जा सकती है। अकबरी इन सारी कसौटियों पर खरी नहीं उतरती। "अकबरी ब्याह होने से क्या सुधरती उसने तो चौथे पाँचवे महीने पति से अनुरोध करना आरम्भ कर दिया, 'हम से तुम्हारी माँ के साथ नहीं रहा जाता।' हम या तो रहेंगे अपने पीहर में, या ऐसी ही जबरदस्ती है तो किसी दूसरे मुहल्ले में चलकर रहो।"[37] अकबरी विवाह के बाद अलग रहने की जिद करती है जबकि ससुराल में उसे कोई कष्ट नहीं है। 'अकबरी' का स्वभाव हिंदी उपन्यास 'वामा शिक्षक' की पात्र 'पार्वती' की तरह है। 'पार्वती' के जेठ और देवर उसका ख्याल रखते हैं पर वह हर हाल में अलग ही रहना चाहती है। यही स्वभाव 'अकबरी' का है। 'अकबरी' की अपनी ससुराल में किसी से नहीं बनती। वह बात–बात पर तुनक जाती है। घर का कोई काम नहीं करती। इस कारण ससुराल वाले उसे 'मिजाज़दार बहू' कहते हैं। अकबरी पति के अलावा ससुराल के अन्य लोगों से स्नेह नहीं करती। "जब से ब्याह हुआ मिजाज़दार ने एक दिन भी अपनी छोटी ननद के साथ प्यार से बात नहीं की थी और न कभी अपने पास आने और बैठने दिया था। परन्तु भाई के कहने से ईद की खुशी में महमूदा दौड़ी चली गई और बोली, "भाभी उठो।" भाभी ने उठते ही महमूदा के एक थप्पड़ जमा दिया। महमूदा रोने लगी।" [38] अनपढ़ अकबरी का हर व्यवहार सामान्य

शिष्टाचार की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। वह संयुक्त परिवार से अलग होकर पति के साथ रहती है। अकबरी का शौहर मुहम्मद आकिल और उसकी सास उसे समझाने का प्रयास करते हैं, पर वह किसी की नहीं सुनती।

उपन्यासकार ने संयुक्त परिवार का महत्व बताने के लिए कई घटनाओं की रचना की है। अलग होते ही अकबरी को रसोई का प्रबंध करना पड़ता है, जिसमें वह नाकाम साबित होती है। अकबरी ने "कभी खाना पकाया न था। रोटी पकाई तो विभिन्न आकार की, न गोल, न चौखूँटी, एक कान इध निकला हुआ तो चार कान उधर। किनारे मोटे, बीच में टिकिया। कहीं जली, कहीं कच्ची। धूऐं में काली और दाल जो पकाती, तो पानी अलग दाल अलग।"[39] अकबरी न खाना पकाना जानती थी न घर का प्रबंधन करना। अगर वह संयुक्त परिवार में रहती तो शायद उसके ये काम कोई और कर देता। 'चुनिया' नामक पात्र ने उसके घर में चोरी भी करवा दी। उपन्यासकार यहीं नहीं रूकता उसने अनपढ़ अकबरी के ठगे जाने का भी वृतांत लिखा। उन दिनों दिल्ली शहर में एक 'कुटनी हज्जिन का भेष' धारण करके ठगी कर रही थी। हज्जिन के लिए अकबरी 'नरम चारा' थी। घर–ससुराल से अलग, अनपढ़, लापरवाह और किसी की बात पर तुरंत भरोसा करने वाली अकबरी आखिर कब तक 'हज्जिन' जैसे ठग से बचती। अकबरी उसकी बातों में आकर उसे अपना सारा जेवर दे बैठती हैं। बाद में "दोनों मियाँ बीबी में खूब लड़ाई हुई। सारा मुहल्ला इकट्ठा हो गया। बात पर बात चली तो मालूम हुआ कि इसी 'हज्जिन' ने कंचनी की गली में अहमदबख्स खाँ की बीबी का सारा जेवर इसी बहाने से ठग लिया कि एक फकीर से दुगुना करा लाऊँगी।"[40]

अकबरी एक ऐसे पात्र के रूप में चित्रित की गई है जो अनपढ़ है। ना तो वह पढ़ सकती है ना घर का प्रबंधन कर सकती है। उसका व्यवहार

ससुराल के अन्य सदस्यों के प्रति रूखा है। उसे विद्या का ज्ञान तो नहीं ही है, सामाजिक व्यवहार में भी वह शून्य है। वह धीरे–धीरे अपना सर्वस्व लुटा बैठती है। उपन्यासकार अकबरी का किस्सा खत्म करते हुए कहता है– "लड़कपन में उसने न तो कोई विद्या या कला सीखी। न कुछ उसके व्यवहार में सुधार हुआ जब उसने सास से अलग होकर स्वतन्त्र घर बनाया बर्तन, भाण्डे, कपड़े, जेवर सब कुछ उसके पास था, परंतु वह घर–गिरस्ती की रीति–नीति नहीं जानती थी। कुछ ही दिनों में उसने साज–सज्जा व सामान मिट्टी में मिला दिया और एक ही वर्ष में हाथ–कान से नंगी रह गयी।"[41]

अनपढ़ स्त्री चाहे आरंभिक हिंदी उपन्यासों की हो चाहे उर्दू की दोनों की गति एक सी है। 'अकबरी' के चरित्र का प्रभाव शायद 'वामा शिक्षक' की पार्वती पर पड़ा है। दोनों अशिक्षित हैं, संयुक्त परिवार से अलग रहती है और ठगों द्वारा धोखा खाती है। अनपढ़ स्त्री मुश्किल वक़्त में लाचार और असहाय नज़र आती है। वह एक कदम भी नहीं बढ़ा सकती। ना ही पति की कुछ सहायता कर सकती हैं। उपन्यासकार ऐसे चरित्रों की सृष्टि करके एक ओर जहाँ अशिक्षा से होने वाली हानि का ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं, वही दूसरी ओर वे ऐसे चरित्र को परिवार के लिए 'अनफिट' करार देते हैं। वे साफ कहना चाहते हैं कि शिक्षित स्त्री ही व्यवस्थित परिवार का आधार है। शिक्षित स्त्री न सिर्फ कुशल प्रबंधन कर सकती है, बल्कि वह परिवार को आने वाले संकटों से भी बचा सकती है। पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी की 'भाग्यवती' पढ़ी–लिखी है, अतः वह कई अवसरों पर अपने परिवार को ठग से बचाती है। 'भाग्यवती' उपन्यास में ठगों के कई वर्णन है। ऐसा लगता है कि बनारस में सैकड़ों ठग घूम रहे हैं, पर 'भाग्यवती' के रहते उसका परिवार कभी धोखा नहीं खाता। 'विद्या' पढ़ी होने के कारण वह अपने 'विवेक' से ठगों की हर चाल को निष्फल कर देती

है। भाग्यवती का परिवार जब हरिद्वार की यात्रा पर जाता है तो वह दो बार ठगों के प्रयत्न को निष्फल करती है। 'मिश्र' नामक पात्र ठगों द्वारा धोखा खाता है और वह भाग्यवती के परिवार के खाने में बेहोशी की दवा मिला देता है। फिर भी ठगों के हाथ कुछ खास नहीं लगता क्योंकि नोट और गहनों को जमीन में गाड़ कर रखती है। वह यात्रा में भी चौकस रहती है। "नोट के कागद और सब का गहना–पत्ता और टोकड़ी जहाँ डेरा हुआ करता है मैं (यानी भाग्यवती) सब कामों से पहले थैली में भर कर के एक गढ़े में दबा दिया करती हूँ सो ईश्वर की दया से वह सब कुछ वैसा ही धरा है और गाड़ी भी खड़ी है। तब तो सब के मन प्रसन्न हुए और बोले, इस मिश्र ने तो हमारे प्राण भी खोये थे और पदार्थ लुटवाने में भी कुछ घाटा नहीं रखा था पर तुम्हारा भला हो तुमने अपनी बुद्धि से सब का गहना–पत्ता और नोट बचा छोड़े नहीं तो भीख माँग के घर पहुँचाना पड़ता।"[42] पढ़ी–लिखी भाग्यवती के 'संरक्षण' में उसका परिवार सुरक्षित रहता है। जब ससुराल वाले 'भाग्यवती' को घर से निकाल देते हैं उस समय उसके ससुर जगदीश जी ठगे जाते हैं ऐसा लगता है कि उस समय धन को दोगुना करने या गहने को दोगुना करने का झांसा देकर ठग लोगों को फँसाते थे। 'मिरातुल उरुस' की अकबरी की तरह 'भाग्यवती' के ससुर जगदीश जी भी इसी लोभ में ठगे जाते हैं। "जब बाबा जी ने देखा कि अब यह पण्डित लालच में पूरा अँधा हो गया है तो कहा, पण्डित जी! हमने तो रसायन के बताने में कुछ पड़ा नहीं रखा पर क्या करें तुम्हारे भाग्य में इस अनंत लाभ का प्राप्त होना नहीं लिखा। सो अच्छा हम तुम्हारे पाँच–सात वर्ष के निर्वाह के लिए कुछ पदार्थ अपने हाथ से ही बना देते हैं। जब वह खालोगे तो फिर कभी देखा जाएगा। जाओ, आपको जितना कि मिल सके कुछ सोना हमको ला दो। हम वह सोना दुगना बना देंगे। पण्डित जी

तुरन्त अपनी स्त्री का सारा गहिना उतार लाये और ला के बाबाजी को संभाल दिया।"[43] 'भाग्यवती' की अनुपस्थिति में उसका परिवार ठगा जाता है। श्रद्धाराम फुल्लौरी इस घटना द्वारा पढ़ी–लिखी स्त्री का महत्व बताना चाहते हैं। 'भाग्यवती' की अनुपस्थिति में उसकी ननद देवकी भी ठगी जाती है। पण्डित जगदीश जी की बड़ी बहू भी एक उत्तम साधनी संन्यासन द्वारा ठगी जाती है। 'भाग्यवती' की अनुपस्थिति में उसके ससुराल के अधिकांश सदस्य ठगे जाते हैं। लेखक ऐसे प्रसंगों के माध्यम से एक ओर तो शिक्षित स्त्री का महत्व बताना चाह रहा है, दूसरी ओर वह इस बात की ओर भी इशारा कर रहा है कि तत्कालीन समाज में ठगों और जालसाजों का बोलबाला था। यदि इनसे घर–परिवार को बचाना है तो अपनी स्त्रियों को शिक्षित बनाओ।

पढ़ी–लिखी स्त्री परिवार को ठगों और धोखेबाजों से तो बचाती ही हैं, वे संयुक्त परिवार को ढंग से चलाना भी जानती हैं। 'मिरातुल उरुस' की अकबरी के मुकाबले पढ़ी–लिखी 'असगरी' इन दोनों कसौटियों पर खरी उतरती है। वह अपने ससुराल की नौकर 'मामा अजमत' की कारगुजारियों का पर्दाफाश करती है। असगरी एक–एक चीज का हिसाब करती है और देखती है कि 'मामा अजमत' घर के हिसाब किताब में गबन करती है। "हर चीज में मामा अजमत का गबन सिद्ध हुआ। परन्तु ये सब बातें इस प्रकार हुईं कि असगरी की सास को पता तक न चला। इस मामा का वास्तविक परिचय इस प्रकार है... कि यह औरत पचीस बरस से इस घर में थी और सदा लूटने पर उतारू। एक दिन की बात हो तो छिप जाय।"[44] घर के कुशल प्रबंधन का एक अर्थ यह भी है कि घर में होने वाले नाजायज खर्चे को रोका जाए। असगरी घर का हिसाब किताब दुरुस्त करती है और 'मामा अजमत' जैस नौकरों को सही रास्ते पर लाती है।

संयुक्त परिवार की सार्थकता और ससुराल के सभी सदस्यों से स्नेहपूर्ण व्यवहार करके असगरी एक 'आदर्श पत्नी और आदर्श बहू' का प्रतिमान प्रस्तुत करती है। 'असगरी' पहले अपने घर को दुरुस्त करती है फिर अपने बहन और बहनोई के रिश्तों को सुधारती है। अपनी बहन अकबरी और उसके पति मुहम्मद आकिल को संयुक्त परिवार का महत्व समझाते हुए असगरी कहती है "यहाँ अकेले आपको तकलीफ होती है। न बच्चों को कोई सम्भालने वाला है न घर को कोई देखने वाला। दुःख सुख आदमी के साथ है। जरूरत के बिना अलग रहना मुनासिब नहीं और पिछली बातें गई बीती हुईं। आपस की एकता न होना क्या अच्छी बात है। और एक दूसरे से नाराजगी कैसी?" अकबरी जो अलग घर करने का मजा अच्छी तरह चख चुकी थी और बहाना ही ढूँढती थी कि फिर साथ रहने को कोई कहे, तुरन्त राजी हो गई। अब असगरी दोनों को अपने साथ लिवा लाई।"[45]

इन आरंभिक उपन्यासों की शिक्षित स्त्री पात्र हर विषम परिस्थितियों से निकलना जानती है। परिवार का कुशल प्रबंधन करना और संयुक्त परिवार को बचाए रखना इनकी सर्वोच्च प्राथमिकता है। इसके साथ ही वे अपने पति की 'मार्गदर्शक' भी है। 'भाग्यवती' 'वामा शिक्षक' और 'मिरातुल उरुस' की नायिकाओं के पति अपनी–अपनी पत्नियों के सामने कमतर नजर आते हैं। मुश्किल समय में ये स्त्रियाँ ही उनका 'मार्गदर्शन' करती हैं। 'असगरी' का पति मुहम्मल 'कामिल' विवाह के समय तक खास–पढ़ा लिखा न था। वह दिन–दिन घर से बाहर रहता और देर रात वापस आता। असगरी उसे शिक्षा और नौकरी का महत्व बताती है। "असगरी की इन बातों ने मुहम्मद कामिल पर बहुत अच्छा प्रभाव डाला। उसने खेलना बिलकुल छोड़ दिया और पहले की निस्बत अरबी पर भी परिश्रम करने लगा। एक अध्यापक से विद्यालय के बाहर

हिसाब किताब आदि भी सीखना आरम्भ कर दिया। परमात्मा ने समय में बड़ी सामर्थ्य दी है। इसको नियम और व्यवस्था के साथ खर्च करने से कुछ दिनों में मुहम्मद कामिल की योग्यता अरबी में भी बढ़ गयी और गणित में भी उसने निपुणता प्राप्त कर ली।"[46] इतना ही नहीं असगरी ही अपने पति को नौकरी के लिए प्रेरित करती है। असगरी की सलाह पर चलते हुए उसका पति मुहम्मद कामिल ऊँचे ओहदे तक पहुँचाता है। जब उसे पता चलता है कि उसका पति रिश्वत लेता है तो वह उसे समझाती है।

"मुहम्मद कामिल, "मैं खुद नहीं लेता, फिर इसमें क्या डर है?"

असगरी, "एक तो रिश्वत छिप नहीं सकती। इलावा इसके मान लिया कि आदमी को पता न चला, खुदा, जो पर्दों में देखता है, वह तो जानता है। लोगों का गुनाह जमा करना और आखिरी हिसाब के दिन खुदा के सामने जवाब देने की जिम्मेदारी लेना बड़ी निडरता की बात है।"

इस प्रकार समझा बुझाकर असगरी ने मुहम्मद कामिल से रिश्वत तथा बुरी आदतों के बारे तौबा कराई।"[47]

आरंभिक उपन्यासों की पढ़ी–लिखी स्त्रियाँ कई बार 'कुशल गृहिणी' की सीमा का अतिक्रमण करती है। वे पति, परिवार और बच्चों के लिए अभिभावक की भूमिका भी निभाती हैं। मिरातुल उरुस की 'असगरी' के सामने सारे पुरुष पात्र फीके लगते हैं। 'भाग्यवती' उपन्यास में 'भाग्यवती' के सामने कोई पुरुष पात्र टिक नहीं पाता। 'वामा शिक्षक' की किशोरी अपने परिवार की अभिभावक है। वह सारे पुरुष पात्रों से 'बीस' है। ये पढ़ी लिखी स्त्रियाँ अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद काफी प्रगतिशील है।

जिस दौर में इन उपन्यासों की रचना हो रही थी, उस समय 'पढ़ी लिखी स्त्री' से अपेक्षा की जा रही थी कि वह अपने परिवार के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को समझे। वह परिवार का कुशल संचालन करे। आरंभिक उपन्यासकार पढ़ी–लिखी स्त्री को 'आज्ञाकारी' और 'कुशल गृहिणी' बनाना चाहते थे पर कई स्त्रियाँ इस ढाँचे का अतिक्रमण कर जाती हैं। जैसे–जैसे कथा का विकास होता है, पुरुष पात्र पीछे छूटते जाते हैं, स्त्रियों का व्यक्तित्व निखरता जाता है। निःसंदेह ये स्त्रियाँ 'पति को परमेश्वर' मानने की मानसिकता से ग्रसित हैं, तो भी ये काफी हद तक प्रगतिशील, आत्मनिर्भर और स्वावलंबी हैं।

आरंभिक उपन्यासों में प्रगतिशीलता के जितने तत्व हैं, उतने ही तत्व पुरुषवादी संरचना के भी हैं। ऐसा लगता है प्रगतिवादी और सामंतवादी सोच साथ–साथ चल रहे हो। वैभव सिंह का मानना है "हिंदी समेत सभी भारतीय उपन्यासों की नियति एक विशेष किस्म के संकट का सामना करने से जुड़ी थी। यह ऐसा संकट था जिससे यूरोप या रूस परिचित न था और वह संकट था– गुलामी के रास्ते आधुनिकता तक पहुँचने का संकट; एक ऐसी परायी शक्ति के माध्यम से आधुनिकता से परिचित होने का जो अपनी प्रकृति में गुलामी पैदा करने वाली थी। उस समय के आधुनिक परंपरा से प्रेम करते थे और परंपरा से प्रेम करने वाले आधुनिकता को उत्सुकता की दृष्टि से देखते थे।"[48] परंपरा आधुनिकता और सदियों से चले आ रहे रीति–रिवाजों के तिराहे पर आरंभिक उपन्यासकार खड़े थे। इस कारण उनकी रचनाओं में हर प्रवृत्ति का चित्रण मिलता है। इन उपन्यासकारों ने एक ऐसी स्त्री गढ़ने का प्रयास किया जो पढ़ी लिखी हो पर उसे सीना पिरोना भी आता हो। वह पति को सलाह तो दे पर पति से दबकर रहे। अधिकांश उपन्यासों में किसी न किसी

अवसर स्त्री को धार्मिक ग्रन्थ पढ़ते हुए दिखाया गया है। इसके पीछे संभवतः लेखक का उद्देश्य उसके चरित्र का धार्मिक मूल्य के अनुसार विकास करना है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' में पण्डित गौरीदत्त छोटी बहू के माध्यम से आदर्श बहू का चित्रण करते हैं। छोटी बहू की कई विशेषताओं में से एक यह भी है कि "जब कभी ज्ञान–चर्चा छेड़ देती तो भगवत् गीता के श्लोक पढ़–पढ़ कर ऐसे सुन्दर अर्थ करती कि सुनकर सब मोहित और चकित हो जातीं। और जिस दिन एकादशी, जन्माष्टमी, रामनौमी या और कोई तिथि–पर्वी होती और सीना पिरोना न होता तो उस दिन तुलसीदास और सूरदास के भजन गाती और विष्णुपद सुनाती कि सब प्रसन्न हो जाती।"[49] देवरानी शिक्षित तो है ही परंपरा से चली आ रही धार्मिक रीति–रिवाजों का पालन भी करती है। इस कारण वह 'आदर्श पत्नी' और 'आदर्श गृहिणी' के प्रतिमान में 'फिट' है।

'परंपरा का संरक्षण' और 'आधुनिकता की वकालत' का उदाहरण एक साथ 'देवरानी जेठानी की कहानी' में है। छोटी बहू के द्वारा उपन्यासकार 'परंपरा' पर बल देता है तो किरपी नामक दस वर्ष की बाल–विधवा का उल्लेख करके अपनी प्रगतिशील सोच का। उपन्यासकार कम उम्र में विधवा हुई किरपी के पुनर्विवाह का समर्थन करता है। उल्लेखनीय है कि दयानंद सरस्वती ने अक्षत् योनि विधवा बालिका के पुनर्विवाह का समर्थन किया था। उनके इस विचार का शायद लेखक पर प्रभाव पड़ा हो। किरपी के पुनर्विवाह का समर्थन करते हुए लेखक मार्मिकता के साथ–साथ तर्क का भी सहारा लिया है– "देखो इस लौंडिया ने देखा ही क्या है? यह क्या जानेगी कि मैं भी जगत में आई थी। किसी के जी की कोई क्या जाने है। इसके जी में क्या–क्या आती होगी। इसके साथ की लौंडियें अच्छा खाये हैं, पहिने हैं। हँसे हैं, बोले हैं। गावें हैं, बजावें हैं। क्या इसका जी नहीं चाहता होगा? सात फेरों

की गुनहगार है। पत्थर तो हमारी जाति में पड़े हैं। मुसलमानों और साहब लोगों में दूसरा विवाह हो जाय है। और अब तो बंगालियों में भी होने लगा। जाट, गूजर, नाई, धोबी, कहार, अहीर आदियों में तो दूसरे विवाह की कुछ रोक–टोक नहीं। आगे धर्मशास्त्र में भी लिखा है कि जिस स्त्री का उसके पति से सम्भाषण नहीं हुआ हो और विवाह के पीछे पति का देहान्त हो जाय तो वहाँ पुनर्विवाह योग्य है। अर्थात् उस स्त्री को दूसरा विवाह कर देने से कुछ दोस नहीं।"[50] जिन उपन्यासों में प्रगतिविरोधी तत्व हैं, उन्हीं उपन्यासों में प्रचुर प्रगतिशील तत्व भी है।

आरंभिक उपन्यासों की सबसे बड़ी सीमा है 'पति के पदवी' को श्रेष्ठ बताना। 'पति परमेश्वर' की भावना हर स्त्री पात्र में दिख जाती है। स्त्री कितनी भी शिक्षित हो, गुणी हो तो भी उसका दर्जा पति से नीचे ही है। नारी पुरुष की योग्य साथी तो है ही उसकी 'दासी' भी है, यह प्रसंग कई उपन्यासों में आया है। यहाँ तक की 'भाग्यवती' जैसी 'बोल्ड' स्त्री ससुराल में स्वयं को 'दासी' और पति को 'स्वामी' मानती है। 'भाग्यवती' षड्यंत्र में फँसने पर अपने ससुर को पत्र लिखते हुए कहती हैं "स्वस्ति श्री परम करुणा निधान, वेद विद्या विशारद अधिक सुज्ञान, धर्म प्रचारक, पर निवारक, दया–समुद्र, तुम ही विष्णु–स्वरूप और तुम ही मेरे ब्रह्मा और रुद्र मैं भाग्यवती मूढ़मति चरण सरोज पर सिर धरती हूँ, कान धरकर सुनिए एक विनती करती हूँ। मैं दीन छीन परम मलीन इस घर की दास हूँ... अपनी दासी समझ के अभयदान दीजिए।"[51] स्त्री का जिस घर में विवाह हुआ हो वह वहाँ की 'बहू' होती है 'दासी' नहीं। भाग्यवती ससुराल में कई बार स्वयं को 'दासी' कहती है। उसकी इस दासता के पीछे सदियों से चली आ रही वह पुरुषवादी सोच है जो स्त्री को हमेशा से निम्न दर्जे का मानता रहा है।

'मिरातुल उरुस' की असगरी 'भाग्यवती' की तरह ही पढ़ी–लिखी और स्वाभिमानी महिला है। वह लड़कियों का स्कूल भी चलाती है परंतु 'पति' के सामने वह भी लाचार नजर आती है। स्त्रियों को बचपन से ही पति को परमेश्वर मानने की जो घुट्टी पिलाई जाती है वह समय के साथ–साथ उनके खून में घुल जाता है। ऐसे समय में सिमोन द बोउआ का प्रसिद्ध कथन याद आता है 'स्त्री पैदा नहीं होती, बना दी जाती है'। विवाह के तुरंत बाद असगरी के पिता दूर अन्देश खाँ उसे पत्र लिखते हुए नसीहत देते हैं– "नारी का जन्म केवल पुरुष के मनोरंजन के लिये हुआ था। सो नारी का कर्तव्य है कि पुरुष को प्रसन्न रखे।... हदीस में पैगम्बर साहब फरमाते हैं कि परमात्मा के सिवाय किसी दूसरे को सजदा करना उचित होता, तो बीबी को आदेश देता कि अपने मियाँ को सजदा किया करे।... असगरी खानम। मेरा परामर्श यह है कि तुम बात–चीत में और उठने बैठने में भी अपने पति के आदर का ध्यान रखना। धर्म में पति–पत्नी के सम्बन्ध में बहुत से आदेश हैं और चूँकि तुमने कुरआन का अनुवाद और उर्दू की बहुत सी पत्रिकाएँ पढ़ी है, मैं आशा करता हूँ, वे आदेश थोड़े बहुत अवश्य तुम्हारे ध्यान में होंगे।"[52] एक तो पिता की सलाह दूसरे धर्मग्रंथों का हवाला ऐसे में कोई भी नवविवाहित पति को परमेश्वर मानने को बाध्य है। विवाह से पहले जिस व्यक्ति को लड़की ने देखा तक न हो, जिससे मिली न हो, विवाह होते ही न जाने वह कैसे उसका 'परमेश्वर' हो जाता है। पति होना ही जैसा सबसे बड़ी योग्यता हो। लड़की के माता–पिता और धार्मिक ग्रंथ मिलकर एक ऐसी मानसिकता का निर्माण करते हैं। उसे सूत्र वाक्य की तरह रटवा दिया जाता है कि पति का दर्जा ऊँचा है। 'मिरातुल उरुस' में असगरी का पिता जैसी 'सलाह' अपनी बेटी को देता है वैसी ही सलाह की एक झलक 'वामा शिक्षक' में मिलती है। गंगा को उसके विवाह के

समय सलाह देते हुए उसकी शिक्षिका ज्ञानो कहती है– "बेटी तुमको सोचना चाहिये कि पुरुष और नारी में क्या संबंध हैं– पुरुषों का पद भगवान ने स्त्रियों से बड़ा रक्खा है– शास्त्र में लिखा है कि जहाँ तक हो सके स्त्रियाँ अपने पुरुषों की टहल करें और उनके अधीन रहें उन की सम्मति के विरुद्ध काम करना अपना जन्म भ्रष्ट करना है, देखो धर्म शास्त्र के 185वें श्लोक का यह तात्पर्य है कि मदिरा पान करना–खोटों की संगति–पति से वियोग–इधर उधर फिरना–कुसमय सोना– दूसरे के घर रहना यह है बातें स्त्रियों के लिए बुरी है स्त्रियों का बड़ा धर्म वही है कि अपने पुरुष की टहल करें यही स्त्रियों का पूजन और पाठ नित्य नियम है और धर्म्म है इस्से स्त्रियों को बैकुंठ प्राप्त होता है।"[53] 'पति के अधीन रहना', 'पति के पद को श्रेष्ठ माना' और 'पति की सेवा' करते हुए परलोक में बैकुंठ प्राप्त करना जैसी बातें बताकर स्त्रियों को पुरुषवादी संरचना के अनुसार ढाला जा रहा था। महत्वपूर्ण है कि ऐसी बातों का औचित्य सिद्ध करने के लिए 'धर्म ग्रंथों' का भी सहारा लिया जा रहा था। क्या आरंभिक उपन्यासों को यह भय था कि पढ़ी–लिखी स्त्री पति की 'अधीनता' के बजाए 'बराबरी' पर जोर देगी? उन्होंने सायास ऐसे प्रसंगों की रचना की या फिर वे अपने समय से आगे नहीं देख पाए?

'परीक्षागुरु' में मदनमोहन की स्त्री पति के लिए जान देने को भी तैयार रहती है। मदनमोहन एक लापरवाह और मूर्ख युवक है। वह अपने बाप–दादा की संपत्ति को फिजूल के खर्चों में बर्बाद कर देता है। उसके लेनदार उस पर मुकदमा कर देते हैं, जिस कारण उसे जेल जाना पड़ता है। ऐसे निकम्मे और मूर्ख पति के लिए विलाप करते हुए उसकी स्त्री कहती है– "स्त्री को पति से अधिक संसार में और कौन है? जगत माता जानकीजीनें राज सुख छोड़कर पति के संग बन मैं रहना बहुत अच्छा समझा था।... पति के लिए गहना क्या?

प्राण तक देनें पड़े तो मैं बहुत प्रसन्न हूँ।"[54] पति के लिए जान देना जैसे स्त्री के जीवन का परम सौभाग्य हो। आरंभिक उपन्यासों की यह बातें बहुत ही खटकने वाली है।

इन प्रसंगों में अक्सर धर्म के आधार पर स्त्री को पुरुष से 'निम्न' और 'हीन' बताया गया है। 'वामा शिक्षक' में एक जगह इन धार्मिक प्रतीकों का सकारात्मक पहलू सामने आया है। जमुनादास अपनी लड़कियों को पढ़ाना नहीं चाहता, परंतु उसका भाई मथुरादास उसे स्त्री शिक्षा का महत्व बताते हुए, धार्मिक प्रतीकों के माध्यम से समझाता है। वह कहता है 'मीराँबाई' अच्छी कविता जानती थी और उसकी कविता आज गाई जाती है। द्रोपदी वेद और पुराण में निपुण थी। मंदोदरी को वेद और शास्त्र सब आता था। मंडन मिश्र की पत्नी ने ज्ञान के बल पर शंकराचार्य से शास्त्रार्थ किया था। राजा भोज की रानी ने लड़कियों के लिए सैकड़ों पाठशाला खुलवाई। शिव जी ने पार्वती जी को कहा था कि जो स्त्रियाँ पाप से मुक्त होना चाहती हैं वे पढ़ना लिखने सीखें।"[55]

हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों का उदय नवजागरण के काल में हुआ। नवजागरण अंतर्विरोधों का काल था, जाहिर है उन अंतर्विरोधों की छाया आरंभिक उपन्यासों पर पड़नी ही थी। इन अंतर्विरोधों के होते हुए भी ये उपन्यास काफी हद तक प्रगतिशील थे। आज तकरीबन डेढ़ सौ साल बाद जब हम मुड़कर 1870–80 के इन उपन्यासों को देखते हैं तो ये उपन्यास हमारे अतीत का सामाजिक दस्तावेज लगते हैं। इसमें तत्कालीन समाज के सारे चित्र है। वह समाज जैसा था वह इन उपन्यासों में चित्रित हुआ ही है, साथ ही आने वाले बेहतर समाज की आकांक्षा भी इनमें मौजूद है।

संदर्भ

1 श्रद्धाराम फुल्लौरी : भाग्यवती (संपादक : मधुरेश), यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012, पृ. 70

2 नज़ीर अहमद : दुलहन का दर्पण (मिरातुल उरुस) अनुवादक : जगन्नाथ प्रभाकर सेतु प्रकाशन, झाँसी प्रथमावृत्ति सं. 2028 विक्रमी (साहित्य अकादमी, नई दिल्ली पुस्तकालय में सुरक्षित, पुस्तक सं. H 891-433 NAZ, AOO, No. 37606), पृ. 71

3 वैभव सिंह : भारतीय उपन्यास और आधुनिकता (नवजागरण और 1857 का विशेष संदर्भ) आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा) द्वितीय संस्करण 2013, पृ. 19

4 उपरोक्त, पृ. 19

5 उपरोक्त, पृ. 10

6 उपरोक्त, पृ. 21

7 पण्डित गौरीदत्त : देवरानी जेठानी की कहानी (संपादक : डॉ. पुष्पपाल सिंह) रेमाघव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली, प्रथम पेपरबैक, संस्करण 2006, पृ. 23

8 श्रद्धाराम फुल्लौरी : भाग्यवती, पूर्वोक्त, पृ. 9

9 मुंशी ईश्वरीप्रसाद, मुंशी कल्याण राय : वामा शिक्षक (संपादन एवम् प्रस्तुति : डॉ. गरिमा श्रीवास्तव) राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, दूसरी आवृत्ति 2014, पृ. उन्तीस (XXIX)

10 वीरभारत तलवार : रस्साकशी (उन्नीसवीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत), सारांश प्रकाशन, दिल्ली, पहला पेपर बैक, संस्करण 2006, पृ. 50

11 पण्डित गौरीदत्त : देवरानी जेठानी की कहानी, पूर्वोक्त, पृ. 23

12 उपरोक्त, पृ. 22

13 ज्ञानचंद जैन : प्रेमचंद्र–पूर्व के हिंदी उपन्यास आर्य प्रकाशन मंडल, गांधीनगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1998, पृ. 33–34

14 वैभव सिंह : भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पूर्वोक्त, पृ. 77

15 श्रद्धाराम फुल्लौरी : भाग्यवती, पूर्वोक्त, पृ. 71

16 उपरोक्त, पृ. 56

17 उपरोक्त, पृ. 58–59

18 उपरोक्त, पृ. 59

19 उपरोक्त, पृ. 60

20 उपरोक्त, पृ. 58

21 ज्ञानचंद जैन : प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास, पूर्वोक्त, पृ. 34

22 मुंशी ईश्वरीप्रसाद, मुंशी कल्याण राय : वामा शिक्षक, पूर्वोक्त, पृ. 109–110

23 उपरोक्त, पृ. 101–102

24 उपरोक्त, पृ. 102

25 उपरोक्त, पृ. 102

26 उपरोक्त, पृ. 102–103

27 उपरोक्त, पृ. 96

28 उपरोक्त, पृ. 98

29 उपरोक्त, पृ. 99

30 उपरोक्त, पृ. 99

31 नज़ीर अहमद : दुलहन का दर्पण (मिरातुल उरुस) अनुवादक : जगन्नाथ प्रभाकर, सेतु प्रकाशन, झाँसी, प्रथमावृत्ति, सं. 2028, विक्रमी, पृ. 16–17

32 मुंशी ईश्वरीप्रसाद, मुंशी कल्याण राय : वामा शिक्षक, पूर्वोक्त, पृ. उन्तीस (XXIX)

33 पण्डित गौरीदत्त : देवरानी जेठानी की कहानी, पूर्वोक्त, पृ. 23

34 नज़ीर अहमद : दुलहन का दर्पण, पूर्वोक्त, पृ. 22

35 उपरोक्त, पृ. 23

36 उपरोक्त, पृ. 23

37 उपरोक्त, पृ. 25

38 उपरोक्त, पृ. 32

39 उपरोक्त, पृ. 50

40 उपरोक्त, पृ. 61

41 उपरोक्त, पृ. 61–62

42 श्रद्धाराम फुल्लौरी : भाग्यवती, पूर्वोक्त, पृ. 82

43 उपरोक्त, पृ. 61

44 नज़ीर अहमद : दुलहन का दर्पण, पूर्वोक्त, पृ. 82–83

45 उपरोक्त, पृ. 167

46 उपरोक्त, पृ. 135

47 उपरोक्त, पृ. 169

48 वैभव सिंह : भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पूर्वोक्त, पृ. 66

49 पण्डित गौरीदत्त : देवीरानी जेठानी की कहानी, पूर्वोक्त, पृ. 33

50 उपरोक्त, पृ. 48

51 श्रद्धाराम फुल्लौरी : भाग्यवती, पूर्वोक्त, पृ. 57

52 नज़ीर अहमद : दुलहन का दर्पण, पूर्वोक्त, पृ. 71–73

53 मुंशी ईश्वरीप्रसाद, मुंशी कल्याण राय : वामा शिक्षक, पूर्वोक्त, पृ. 50

54 लाला श्रीनिवास दास : परीक्षागुरु, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 158

55 मुंशी ईश्वरीप्रसाद, मुंशी कल्याण राय : वामा शिक्षक, पूर्वोक्त, पृ. 14–15

4.2 'घरेलू स्त्री' बनाम 'वेश्या जीवन' : एक दुनिया समानांतर

"सरे–शाम से दो कँवल जल जाते हैं, दो–दो महरियाँ, दो–दो खिदमतगार हाथ बाँधे खड़े हैं। खूबसूरत नौजवान रईसज़ादे हर वक़्त दिल बहलाने को हाज़िर। चाँदी की गुड़गुड़ी मुँह से लगी हुई है, सामने पानदान खुला हुआ है, एक–एक को पान लगा के दे रही हैं, चुहलें हो रही हैं। उठती हैं तो लोग बिस्मिल्लाह कहते हैं। चलती हैं तो लोग आँखे बिछाए देते हैं। ये है कि किसी की परवाह ही नहीं। जो है उन्हीं के हुक्म का पाबंद और इनके हुक्म ऐसे होते हैं कि ज़मीनों–आसमान टल जाए मगर इनका कहना न टले। फ़रमाइशों का तो कहना ही क्या, बिना माँगे लोग कलेजा निकालके दिए देते हैं, कोई दिल हथेली पर रखे हुए हैं कोई जान कुर्बान करता है और यहाँ किसी की नज़र कबूल नहीं होती, कोई बात नज़र में नहीं समाती।... अदाएँ वे जो मार ही डाले मगर मरने वाले मरते हैं। इधर इसको रूलाया, उधर उसको हँसाया। किसी के कलेजे में चुटकी ली, किसी का दिल तलुओं से मसल डाला। बात–बात में रूठ जाती हैं, लोग मना रहे हैं कोई हाथ जोड़ रहा है, कोई मिन्नत कर रहा है। वायदा करती हैं और मुकर जाती है, क़सम खाती है और भूल जाती है।"[1] *– उमराव जान 'अदा' उपन्यास का एक अंश*

"गले में मोती का कन्ठा सोने की करधनी, जड़ाऊ कमरजेब, पांव में तोड़े, कान में हीरे का फूल और नाक में याकूत की सोनहली कील रमणी (गुलेनार) की सुन्दरता पर पालिश कर रही है! नाज़ और नख़रा तो ऐसा कि बड़े–बड़े योगियों का योग भ्रष्ट कर दे! सुन्दरता देखकर यही जी चाहता है कि हज़ार आँखों से दीदे फाड़–फाड़ कर पहरो देखते रहिये! गोरी–गोरी रंगत देखकर चम्पे का रंग पीला पड़ जाय। कमर तक लटकी हुई चोटी देखकर नागिन अपने विष में आप ही लम्बी हो जाय! बड़ी–बड़ी कटीली आंखे ऐसी कि हिरन की भी चौकड़ी भूल जाय! सुड़ौल नाक ऐसी नुकीली कि देखकर सुए के भी नाक में दम आ जाय!... जिधर नज़र उठाकर देखें प्रलय का दृश्य दिखाई दे!"[2] *– गुलेनार उपन्यास का एक अंश*

हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासकार एक ओर जहाँ पढ़ी–लिखी घरेलू स्त्री का चित्रण कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर ऐसे उपन्यासकार भी थे जो 'वेश्या जीवन' का चित्रण कर रहे थे। एक तरफ 'आदर्शवादी स्त्री' का चरित्र था दूसरी ओर 'यथार्थवादी स्त्री' का। 'आदर्शवादी स्त्री' की चाह सबको थी पर 'वेश्याओं' से अपनी पहचान कोई नहीं बताना चाहता था। 'स्त्री–शिक्षा' देने वाले उपन्यासों का मूलभाव सुधारवाद है, वही 'वेश्या जीवन' का चित्रण करने वाले उपन्यास यथार्थवादी है। 'भाग्यवती' (1887), 'वामा शिक्षक' (1883) और 'मिरातुल उरुस' (1869) जहाँ 'स्त्री शिक्षा' की कथा कहते हैं; वहीं 'उमराव जान अदा' (1899), 'स्वर्गीय कुसुम' (1901) और गुलेनार (1907) 'स्त्री त्रासदी' की कथा कहते हैं। एक ओर स्त्री को शिक्षित किया जा रहा था तो दूसरी ओर

'अमीरन' को खरीद–बेच कर 'उमराव जान' बनाया जा रहा था। 'वामा शिक्षक' का 'मथुरादास' जहाँ अपनी बेटियों को पढ़ा–लिखा रहा था वहीं 'स्वर्गीय कुसुम' में कुसुम के पिता पुत्र की कामना के लिए अपनी बेटी कुसुम को 'देवदासी' बना देते हैं। 'मिरातुल उरुस' की असगरी लड़कियों के लिए घर में ही स्कूल खोलती है जबकि 'गुलेनार' उपन्यास की नायिका 'वेश्यावृत्ति' से लोगों को फँसाती है। वस्तुतः ढ़लते हुए सामंतवाद और आने वाले आधुनिक युग को समग्रता से समझने के लिए हमें इन सारे उपन्यासों को एक साथ पढ़ना होगा। साफ दिख रही दुनिया के समानांतर एक ऐसी भी दुनिया थी जिससे हम नज़र नहीं चुरा सकते।

उन्नीसवीं सदी के नवजागरण के कारण भारतीय जन मानस यह स्वीकार करने लगा था कि 'शिक्षित स्त्री' न सिर्फ घर का उचित प्रकार से संचालन कर सकती है, बल्कि यह आने वाली पीढ़ी को भी शिक्षित कर सकती है। यही वह काल था जब पढ़े–लिखे और नौकरीपेशा युवा का उदय हुआ। पढ़े–लिखे मध्यवर्गीय युवा के मन में एक शिक्षित जीवन साथी की चाह थी। वह 'घर के अंदर' अपने लिए 'एक योग्य साथी' की तलाश कर रहा था। इन्हीं कारणों से आरंभिक उपन्यासकार एक ऐसी स्त्री छवि का निर्माण कर रहे थे जो 'श्रेष्ठ गृहिणी' और 'सभ्य स्त्री' हो। राधा कुमार ने अपनी पुस्तक 'स्त्री संघर्ष का इतिहास' में नवजागरण काल की स्त्री शिक्षा के पीछे के उद्‌देश्य पर मत व्यक्त करते हुए कहा है– "स्त्रियों की शिक्षा का एक उद्‌देश्य तो यह था कि ऊँची जाति की महिलाओं को 'असभ्य स्त्री समुदाय' से किसी भी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करने से रोका जाए और दूसरा यह कि उनके अंदर निहित अशिष्टता की बुराई का इलाज किया जा सके।"[3] क्या सिर्फ अशिक्षित स्त्रियाँ ही 'असभ्य स्त्री समुदाय' थी जिनसे दूर रहने के लिए स्त्री शिक्षा की

वकालत की जा रही थी। समाज में पतित समझे जाने वाली स्त्री को दलदल से निकालने का कोई संगठित प्रयास क्यों नहीं हो रहा था? पढ़ा–लिखा मध्यवर्गीय युवा 'शिक्षित स्त्री' की तलाश में था। वहीं दूसरी ओर बड़े–बड़े रईस, और जमींदार 'वेश्याओं' की तलाश में। शिक्षित युवा घर के भीतर योग्य जीवन साथी चाहता था, जबकि सामंती रईस और जमींदार घर के बाहर 'वेश्या' की संगत चाहते थे। पढ़े–लिखे युवाओं के लिए स्त्री का गुणवती होना मायने रखता था, जबकि रईसों के लिए वेश्या का रूपवती होना। ढ़हती हुई सामंती प्रवृत्ति और आने वाली आधुनिकता के मुहाने पर खड़े समाज में उपरोक्त दोनों प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। □

हिंदी–उर्दू के आरंभिक उपन्यासों में वेश्या जीवन पर लिखे गए उपन्यासों में 'उमराव जान अदा' सर्वश्रेष्ठ है। किशोरीलाल गोस्वामी का उपन्यास 'स्वर्गीय कुसुम व कुसुम कुमारी' (1901) तथा जैनेन्द्र किशोर का उपन्यास 'गुलेनार' (1907) भी उल्लेखनीय है।

उमराव जान 'अदा' एक बेहद यथार्थवादी उपन्यास है। इसमें 'स्त्री शिक्षा' के बजाय 'स्त्री त्रासदी' की कथा है। इसे उर्दू का पहला 'ट्रेजिक उपन्यास' भी कहा जा सकता है। 'उमराव जान अदा' में 'त्रासदी' के कई तत्व है। उमराव को उस गुनाह की सजा मिली जो उसने किया ही नहीं था। बच्ची 'अमीरन' वेश्या उमराव बना दी जाती है। सालों बाद जब वह वापस फैजाबाद के अपने घर पहुँचाती है तो उसे उसका निश्छल बचपन याद आ जाता है। 'उमराव जान अदा' उपन्यास में 'फ्लैश बैक' शैली का प्रयोग किया गया है। यह एक तरह से आत्मकथात्मक उपन्यास भी है। मिर्जा हादी 'रूस्वा' ने उपन्यास की भूमिका में लिखा है कि वे 'उमराव' को जानते थे और उसकी

कहानी सुनकर ही उन्होंने इस उपन्यास की रचना की। यह उपन्यास के साथ–साथ उमराव की 'जीवनी' भी है। उमराव जान की जीवनी, जिसे उसके एक जानकार ने उपन्यास का रूप दे दिया।

'उमराव जान अदा' उपन्यास को 'यथार्थवादी' और वास्तविक उपन्यास मानते हुए T.W. Clark द्वारा संपादित पुस्तक 'The Novel in India' में Ralph Russell लिखते हैं "Mirza Muhammad Hadi Rusva (1858-1931) took the next major step forward, and that too a step of such significance that one can truly say of his greatest work Umrao Jan Ada (1899) that with it a real novel in the internationally accepted modern sense of the term, at last makes its appearance in Urdu literature... Umrao Jan Ada has remained in many respects an isolated achievement. Even Rusva himself never wrote anything to compare with it. His other two major novels are more closely comparable with Nazir Ahmad's tales than with his own masterpiece."[4]

'मिर्जा हादी रुस्वा' के इस उपन्यास में वैसा क्या था जो इसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर की यथार्थवादी रचना बना रहा था। किन कारणों से मिर्जा हादी की यह रचना अद्वितीय 'मास्टरपीस' बन गई।

'उमराव जान' उपन्यास की कहानी 19वीं सदी के मध्यकाल की है। 'उमराव जान' लेखक को संयोग से मिलती है और उन्हें अपनी जिंदगी का सारा हाल सुनाती है। मिर्जा हादी उसे उपन्यास के रूप में लिखकर पढ़ने के लिए उमराव को देते हैं। उमराव एक बार तो चाहती है कि वह उपन्यास को फाड़कर फेंक दे, फिर यह सोचकर रूक जाती है कि खुदा के घर भी उसका हिसाब–किताब लिखा होगा, उसे कैसे मिटा सकती है।

"न पूछो नामा–ए–आमाल की दिलावेज़ी
तमाम उम्र का क़िस्सा लिखा हुआ आया।

(सारी जिंदगी का हाल लिखा हुआ देखकर, अपने किए हुए कामों का चिट्ठा देखकर, दिल को जो तकलीफ़ पहुँची, उसे न पूछो)

मिर्ज़ा रूस्वा साहब, जब आपने मेरी जिंदगी के हालात लिखके मसविदा मुझे पढ़ने के लिए दिया तो मुझे ऐसा गुस्सा आया कि जी चाहता था टुकड़े–टुकड़े करके फेंक दूँ। बार–बार ख़याल आया कि जिंदगी में क्या कम काला मुँह हुआ था, जो उसकी कहानी मरने के बाद भी बाकी रहे और लोग पढ़ें और मेरी लानत–मलामत करें? मगर कुछ आपका लिहाज़ करके हाथ रूक गया।"[5]

उमराव जान अदा लखनऊ के नवाबों के सामंती शौक को व्यक्त करने वाली रचना है। हालांकि कुछ आलोचकों का मानना है कि इसमें लखनऊ ही वास्तविक नायक है और वह उमराव जान के माध्यम से अपनी कहानी कह रहा है। हालांकि इस उपन्यास से पहले ही पण्डित रतननाथ सरशार अपने उपन्यास 'फसाना–ए–आजाद' में लखनऊ का विशद वर्णन कर चुके थे। उमराव जान अदा मूलतः अमीरन के उमराव बनने की मार्मिक कथा है। "लखनऊ के जीवन का बहुपक्षीय चित्रण होने के बावजूद यह कहना उपन्यास की उस मूलकथा से अन्याय करना होगा जो एक स्त्री के संघर्ष को प्रथम पुरुष की वर्णनात्मक शैली में उभारने के लिए रचा गया है। इसमें बाहरी स्थितियाँ इतनी भी महत्वपूर्ण नहीं है कि वे व्यक्ति के भीतर की चेतना के उथल–पुथल व विक्षोभ को ढक लें और उन्हीं को प्रमुखता प्राप्त हो जाए। लखनऊ भी यहाँ उमराव जान की कथा के माध्यम से निर्मित हुआ है, न कि

लखनऊ की कथा के किसी हिस्से के रूप में उमराव की कहानी कही जाती है। पतनशील सामंतवाद व उपनिवेशवाद के टकराव से केवल नगर का ध्वंस नहीं होता बल्कि मानव–आत्माओं पर भी विराट आघात होते हैं। इस रूप में उपन्यास में लखनऊ का नायकत्व ढूँढ़ने से कहीं अधिक सार्थक यह है कि हम निरंतर परिस्थितियों की मार सहकर भी पूरे स्वाभिमान से जीने का प्रयास करते जीते–जागते, हाड़–माँस के चरित्रों के नायकत्व को पहचाने और उनकी वैयक्तिकता से संवाद करने के लिए समाज की आतुरता को पहचानें।"[6]

उमराव जान 'अदा' वेश्या जीवन की हर सच्चाई बयान करता है। फैजाबाद की रहने वाली अमीरन का दिलावर खाँ अपहरण कर लेता है और उसे लखनऊ ले जाकर बेच देता है। जब अमीरन का अपहरण होता है उस समय उसकी शादी उसकी फूफी के लड़के से तय हो चुकी थी। जिसे किसी के घर की वधू बनना था वह 'नगरवधू' बना दी जाती है। यह "उपन्यास केवल उमराव की नहीं बल्कि 'अपहृत स्त्रियों' के समूह की कथा भी है। उमराव का अपहरण फैजाबाद से होता है और लखनऊ के बाज़ार में उसका सौदा होता है। एक अन्य लड़की रामदेई एक नवाब के घर में बिकती है और खुर्शीदा नामक लड़की को लखनऊ के मेले में एक हिंदू राजा के कारिंदे उठा ले जाते हैं। कथा के माध्यम से मानव तस्करी की भयंकर रूप से अमानवीय और आपराधिक गतिविधियाँ उभरती है। औपन्यासिक आख्यान में इन अपहृत स्त्रियों के चित्रण में तो लेखक गहरी सहानुभूति व प्रभावशाली यथार्थवाद का परिचय देता है, पर सामंती ढांचे से जुड़ा जो पुरुषवाद इसके लिए उत्तरदायी है, वह उसकी आलोचना करने या कहीं से भी उसे नीचा दिखाने का काम नहीं करता है।"[7]

उमराव के अपहरण के बाद उसे लखनऊ लाकर बेचा जाता है। उसके

साथ की अपहृत लड़कियों का भी सौदा होता है। कोई दो सौ में खरीदी जाती है, कोई ड़ेढ–सौ में। ऐसा लगता है जैसे ये इन्सान न होकर कोई सामान हों। उमराव के खरीदे जाने पर हुसैनी और ख़ानम साहब इस बात की चर्चा करती हैं कि डेढ़ सौ में यह सौदा मंहगा तो नहीं है। स्त्री शरीर को उत्पाद में बदलने की प्रवृत्ति का आरंभ यहीं से होता है। बुजुर्ग वेश्याओं के लिए खरीदी हुई नौजवान लड़कियाँ 'निवेश' की तरह है, जो बाद में उन्हें 'मुनाफा' कमा कर देती है। उमराव को 'वेश्या' में ढ़ालने के लिए नाच–गाने की शिक्षा दी जाती है। उसे गाने–बजाने के लिए भी प्रशिक्षित किया जाता है। उसे अलिफ़–बे से लेकर फारसी की गुलिस्ताँ तक पढ़ाई जाती है। कुल मिलाकर उसे एक ऐसे ढांचे में रखा जाता है, ताकि वह वेश्या जीवन को स्वाभाविक रूप से अपना ले। एक पूरा तंत्र है जो मासूम और भोली लड़की को वेश्या बना देता है।

उपन्यास लखनऊ के सामंती जीवन पर करारा व्यंग्य करता है। लगभग हर रईस आदमी वेश्या का शौक रखता है। 70 वर्ष के नवाब जाफ़र अली खाँ साहब के मुँह में एक दाँत न था, शरीर झुक गया था सर में एक काला बाल न था पर वे भी वेश्याओं की सोहबत को तरसते थे। "इस उम्र में और ऐसी हालत में रंडी नौकर रखना उस ज़माने का फैशन था। कोई अमीर–रईस ऐसा न होगा जिसके पास रंडी न हो।"[8] वेश्या रखना सामंती समाज की शान थी। जिसके पास वेश्या न हो उसका दर्जा छोटा समझा जाता था। आज हम ऐसे समाज को क्या कहेंगे सामंती, मूर्ख, विलासप्रिय या हद दर्जे का कमीना? कोई भी उपमान ऐसे धूर्त लोगों के लिए छोटा पड़ेगा।

उमराव जान अदा उपन्यास वेश्याओं के जीवन का परत दर परत उधेड़ती है। वेश्याओं की भी कई श्रेणियाँ होती थी। इनमें से कुछ डेरादारनियाँ,

कुछ नोचियाँ और कुछ रंडियाँ कहलाती थी। कुछ को 'खानदानी रंडियों' का दर्जा प्राप्त था। इन "खानदानी रंडियों के यहाँ पेशा नहीं होता बल्कि नौकरी होती है। कभी–कभी तो एक रंडी सारी ज़िंदगी एक ही आदमी की नौकर रहती है और दूसरा आदमी उसके साथ हँसी–मजाक भले कर ले, शरीर को हाथ नहीं लगा सकता। उनके यहाँ लड़की जब ज़वान होने पर पहली बार नौकरी करती है तो उसी तरह से खुशी मनाई जाती है और जलसे होते हैं जैसे घर–गृहस्थों में शादी के मौके पर। इस रस्म को मिस्सी कहते हैं।"[9] उपन्यास में हम समाज का वह घिनौना चेहरा देखते हैं जहाँ धूमधाम से एक लड़की को किसी की 'यौन दासी' बना दिया जाता है। उसके सारे स्वप्न, उसकी सारी आकांक्षाएँ बस अपने 'मालिक' पर आकर खत्म हो जाती है। वह जिसकी नौकर है उसे हर तरह से खुश रखना ही उसकी 'नौकरी' है। उसे इस 'नौकरी' की एक तय रकम भी मिलती है, जैसे नवाब जाफ़र अली खाँ अपनी वेश्या को पचहत्तर रुपये माहवार देते थे।[10] 'वामा शिक्षक' 'भाग्यवती' और 'मिरातुल उरुस' का उपन्यासकार लड़कियों को पढ़ा–लिखाकर अपने पैरों पर खड़ा कर रहा था। वहीं समाज का एक अंग ऐसा भी था जो स्त्री को 'यौन दासी' बना रहा था। वेश्या दूसरों का मनोरंजन करती है परन्तु स्वयं उसके अंदर कितना दुःख और विषाद है यह कोई नहीं देखता।

यह उपन्यास पुरुषवादी सामाजिक संरचना का पर्दाफ़ाश करता है। पुरुषवादी संरचना एक स्त्री से उसकी संवेदना छिनकर उसे 'संवेदना शून्य' बना देता है। वह अपनी 'सर्वाइवल' (Survival) के लिए धीरे–धीरे वे सारे काम करने लगती है, जिसे आरंभ में वह 'गलत' मानती है। जब उसे पता चलता है कि उसे इसी 'पुरुषवादी संरचना' में 'यौन दासी' बनकर रहना है तो धीरे–धीरे वह भी संवेदनाशून्य होकर 'धूर्त' और 'घाघ' हो जाती है। इस प्रकार एक

इंसान से उसकी इंसानियत छिन जाती है। उमराव जान की स्वीकारोक्ति है "मैं एक घाघ औरत हूँ, घाट–घाट का पानी पिए हूँ। जो जिस तरह बनाता है बन जाती हूँ।"[11] उपन्यास में बहुत ही सूक्ष्मता से दिखाया गया है कि नवाबों और रईसों के 'चंगुल' में फंसने पर ये स्त्रियाँ धीरे–धीरे उसी के अनुसार ढल जाती है। उन्हें इस तरह से 'ट्रेनिंग' दी जाती है कि वे ठाठ–बाट और ऐशो–आराम की आदी हो जाती है। उन्हें पता ही नहीं चलता कि वे अपनी स्वतंत्रता की कीमत पर यह सब हासिल कर रही है। उमराव जान कहती है "जवान होने के बाद ऐशों आराम में पड़ गई। उस जमाने में गा–बजाके मर्दों को रिझाना मेरा पेशा था। इसमें औरों के मुकाबले मुझे जितनी कामयाबी मिलती थी, उतनी ही मैं खुश होती थी; जहाँ कामयाबी नहीं होती थी, रंज होता था।"[12]

मिर्जा हादी रूस्वा ने एक ऐसे कपटी और सामंती समाज का चित्रण किया है जो न तो वेश्याओं के बिना जिंदा रह सकता है न ही उन्हें अपने घर में रख सकता है। सामंती समाज एक शरीफ़ लड़की को वेश्या तो बना सकता है लेनिक किसी वेश्या को शरीफ़ स्त्री का दर्जा नहीं दे सकता। रूस्वा ने इस 'त्रासदी' को जिस कुशलता से उजागर किया है, उसकी तारीफ़ करते हुए सैयद एहतेशाम हुसैन अपनी पुस्तक 'उर्दू अदब की तन्क़ीदी तारीख' में लिखते हैं– "नफस्याती नज़र से ये एक औरत के अंदर तवायफ और घरेलू औरत का वो तनाज़ा है, जो फनकार को फैज़ान देता है।"[13]

'उमराव जान अदा' की त्रासदी दो मौकों पर पाठक को अतिशय भावुक कर देती है। पहला, जब वह तवायफ़ बनने के बाद फैजाबाद में अपने पुराने घर के सामने पहुँचती है। दूसरा, जब उपन्यासकार उसकी जीवनी लिखकर

उसके सामने रख देता है। वह फैजाबाद के मुजरे में नाच रही है, लोग उसे देखकर वाह–वाह कर रहे हैं, पर उसकी नजर इमली के उस पेड़ पर अटक जाती है जिसके नीचे वह बचपन में खेला करती थी। 'बच्ची अमीरन' वर्षों बाद उसी इमली के पेड़ के सामने आती है, पर 'तवायफ़ उमराव जान' बनकर। "मेरा पहला मुजरा नौ बजे शुरू हुआ और बारह बजे तक चला किया। गाने के बाद मैं शामियाने के बाहर निकली, घरों की क़तार को देखा। कुछ और तरह की थी, जिससे ख़याल हुआ कि शायद वह जगह न हो। एक मकान के दरवाजे को ग़ौर से देखा की। दिल को यक़ीन हो गया, यही मेरा मकान है। जी चाहता था कि घर में घुस जाऊँ, माँ के क़दमों में गिर जाऊँ। मगर हिम्मत न होती थी, क्योंकि मैं जानती थी कि कस्बों में रंडियों से परहेज करते हैं और बाप–भाई की इज़्ज़त का ख़्याल था। फिर ख़्याल आया कि हाय, गज़ब है, एक दीवार की आड़ है उधर मेरी माँ बैठी होगी और इधर मैं उन्हें देखने के लिए तड़प रही हूँ, एक नज़र देखना भी मुमकिन नहीं।"[14] उमराव जान एक कदम बढ़ाकर बेहिचक अपनी माँ के पास नहीं जा सकती, क्योंकि वह 'वेश्या' है, परंतु शादीशुदा स्त्रियाँ आराम से अपने मायके जा सकती हैं। यह दो तरह की दुनिया हमारी 'सभ्यता' की पोल खोलती है। उमराव को दिलावर खाँ के पापों की सजा भुगतनी पड़ती है। अपनी जिंदगी का किस्सा पढ़कर वह बस यही कहती है– "वक़्त न होता, तो क्या दिलावर खाँ मुझे उठाके लाता और लाके खानम के हाथ बेचता और मैं वह सब बुरे काम करती, जिनको अब मैं बुरा समझती थी?... जहाँ तक मेरी बात है, अपने हाल तो यह हैं.... कि :

मरने के दिन क़रीब हैं शायद कि ऐ हयात
तुझसे तबीयत अपनी बहुत सीर हो गई।

(ऐ ज़िंदगी, तुझसे अपनी तबीयत भर गई, अब मरने के दिन नज़दीक है।)"[15]

हादी रूस्बा ने एक वेश्या के जीवन पर उपन्यास लिखकर न सिर्फ उर्दू साहित्य को यथार्थवाद से जोड़ा बल्कि साहस का भी परिचय दिया। उमराव एक ऐसी स्त्री की त्रासद दास्तान है जो मर्दों द्वारा उजाड़ी जाती है। मिर्जा रूस्वा ने प्रेमचंद के 'सेवासदन' (यह उमराव जान अदा के बाद की रचना है) की तरह वेश्याओं के लिए किसी आदर्शवादी मॉडल की वकालत नहीं की, उन्होंने समाज के कड़वे यथार्थ को बस हमारे सामने रख दिया है। वे उमराव जान के जीवन पर न तो कोई नैतिकतावादी टिप्पणी करते हैं न अपनी तरफ से कोई उद्धारमूलक कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। इन्हीं खूबियों के कारण उपन्यास 'क्लासिक' के निकट पहुँच जाता है। हालांकि उपन्यास की एक सीमा यह है कि लेखक "मुस्लिम सामंतवाद के प्रति कोई स्पष्ट आलोचना विकसित करने में रुचि नहीं दिखाता है। ये मुस्लिम सामंत लखनऊ–फैजाबाद की नवाबी संस्कृति के सामान्य पोषक हैं और उपन्यासकार कभी ऐसे प्रसंग नहीं रचता जिससे उन सामंतों के बारे में हमें नकारात्मक राय बनाने का अवसर प्राप्त हो। वह वेश्या रूपी नायिका के मानवीय पक्षों को प्रकट कर उपन्यास के क्षेत्र में क्रांतिकारी आग़ाज़ करता है पर एक–दो आपराधिक प्रवृत्ति के जालिम डाकुओं के अलावा किसी खलनायक वर्ग या समूह की चर्चा नहीं करता है। कह सकते हैं कि उर्दू उपन्यास की आधुनिकता सामंतवाद की आलोचना से नहीं आरंभ होती है बल्कि उसकी आधुनिकता सामंतवाद के चंगुल में फंसने वाली स्त्रियों की कथाओं से जुड़कर अपनी प्रामाणिक अभिव्यक्ति प्राप्त करती है।"[16]

जैनेन्द्र किशोर का उपन्यास 'गुलेनार' (1907) 'उमराव जान अदा' की तरह ही वेश्या जीवन का चित्रण करता है। उमराव में वेश्या जीवन का यथार्थवादी चित्रण है पर 'गुलेनार' एक 'उपदेशात्मक उपन्यास' है। जो यह

सीख देता है, कि वेश्याओं की कुसंगति से दूर रहना चाहिए। उमराव जान की तरह ही गुलेनार कलकत्ते की एक वेश्या है जो 500 रुपये महीने पर 'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' में काम करती है। उस समय नाटक मंडलियों में औरतों का काम करना अच्छा नहीं माना जाता था। जिस कारण आमतौर पर वैश्याऐं ही उसमें भाग लेती थीं। अपनी पुस्तक 'स्त्री संघर्ष का इतिहास' में राधा कुमार का मानना है– "वैश्याओं के सुधार की पहली कोशिश कलकत्ता के माइकल मधुसूदन दत्त द्वारा की गयी। श्री दत्त यंग बंगाल ग्रुप के सदस्य थे। उन्होंने वैश्याओं को थियेटर की कलाकार बनाने का प्रस्ताव रखा। अपने प्रस्ताव की मंजूरी के लिए उन्होंने उसे बंगाल थियेटर कमेटी के पास भेजा। इसके बाद व्यवसायिक थियेटर में स्त्रियों की भूमिका अदा करने वाले पुरुषों का स्थान वैश्याओं ने ले लिया।"[17]

उमराव जान का बचपन में अपहरण करके उसे वेश्या बनाया गया, पर 'गुलेनार' के बारे में स्पष्ट नहीं है कि वह कैसे वेश्या बनी। हादी रूस्वा 'उमराव जान' के चरित्र पर सहानुभूतिपूर्वक लिखते हैं परंतु जैनेन्द्र किशोरी गुलेनार के प्रति घृणा पूर्ण दृष्टि रखते हुए कहते हैं– "गुलेनार भी झन्डे तले की छटी हुई टण्डी है। बड़े–बड़े इसका लोहा मान चुके हैं, फिर वनवारी किस खेत की मूली है। अच्छे–अच्छे को आँखों में धूल डालकर बेकौड़ी का गुलाम बना लेना इसी मक्कारा का काम है। इसके चलते हुये चालों का पता ज़रा टेढ़ी खीर है। बड़े–बड़े अमीरों को दिन दहाड़े लूट चुकी है। अन्त में मियाँ की लँगोटी भी उतरवा लेती है तब पिण्ड छूटता है! आज काशी भर में इसी की तूती बोलती है।"[18] उपन्यासकार 'गुलेनार' को 'मक्कार' और 'छटी हुई रण्डी' कहता है पर बनवारीलाल जैसे रईसों पर टिप्पणी नहीं करता जिनके कारण 'गुलेनार' वेश्या बनती है।

'गुलेनार' का बनवारीलाल बनारस का एक जाना–माना रईस है। वह पुरखों की दौलत को दोनों हाथ लुटाता है। उसके दोस्त और संगी–साथी उसकी चापलूसी करके उससे पैसे ऐंठते रहते हैं। बनवारीलाल उन रईसों का प्रतिनिधित्व करता है जो हजारों–लाखों के मालिक हैं पर जिनके पास 'दिमाग' नहीं है। 'श्यामबिहारी' जमुना चौबे और केशव कलवार जैसे मतलबी साथी बात–बात में बनवारीलाल से सौ–दो सौ रुपए ऐंठ लेते हैं।

बनवारीलाल' का वर्णन करते हुए उपन्यासकार इसके पुरखों की भी चर्चा करता है। जो 'संयमी' और 'किफायत' से रहने वाले थे। ज्ञानचंद जैन लिखते हैं "उपन्यास में बनवारीलाल और उसके पिता की पीढ़ी में जो अंतर आ गया था, उसका भी चित्रण है। बनवारीलाल के पिता बड़े ही सुशील, सरल स्वभावी, धर्मात्मा और परोपकारी थे। उनके द्वार से एक भी मँगता निराश नहीं लौटता, सदावर्त दिन भर चला करता था। प्रायः गुप्तदान किया करते थे।"[19] पुरानी और नई पीढ़ी के माध्यम से धन के सुयोग्य प्रबंधन और अपव्यय का भी उल्लेख किया गया है। बनवारीलाल के पिता अपने धन का प्रयोग परोपकार में करते हैं, वही बनवारीलाल धन का प्रयोग पतंग उड़ाने और वैश्याओं के प्रति अपने शौक पूरा करने में करता है।

'गुलेनार' और 'उमराव' की कुछ विशेषताऐं एक समान हैं। दोनों इस ताक में रहती है कि कोई रईस या जमींदार आदमी उनके चंगुल में फंस जाए। 'बनवारीलाल' जब 'गुलेनार' का थियेटर से अपहरण करवा कर, अपनी हवेली में ले आता है, तो वह काफी खुश होती है। वह अपनी 'नायका' को पत्र लिखती है–

"मेरी प्यारी खाला!

आदाब कबूल फ़र्माइयेगा! अब मैं थियेटर में नहीं हूँ, खुदा ने हमारे दिन फेर दिये। वह देता है तो छप्पर फाड़कर देता है। एक आँख का अंधा और गांठ का पूरा अमीरज़ादा हम पर जी जान से फरेफता है, यह सोने की चिड़िया नसीबों से हाथ आई है। जमसेर जी पूराने दुमकटे से पीछा छूटा। अब नया आशिक हाथ आया है।... अभी और भी सत्यनाश करके रन्डी का नाम उजागर करूँगी बेशक इसके साथ हमको पूरी खुशी नहीं होती है तौ भी रुपये के लिये प्यार का कोई पहलू उठा नहीं रक्खूँगी!"[20] 'गुलेनार' वेश्या के पेशे को पूरी तरह अपना चुकी है। वह गर्व से कहती है कि 'अभी और भी सत्यानाश करके रण्डी का नाम उजागर करूंगी।' ऐसा लगता है जैसे एक ओर तो वह पुरुषवादी समाज से अपने शोषण का बदला ले रही है और दूसरी तरफ अपने शरीर की कीमत वसूल रही है। उसे शायद पता है की एक वक्त के बाद बनवारीलाल का मन उससे ऊब जाएगा। इस 'ऊब' से पहले ही वह अपना पुख्ता इंतजाम कर लेना चाहती है। जाहिर है 'उमराव' की तरह ही 'गुलेनार' की भी 'ट्रेनिंग' हुई है।

'उमराव जान अदा' और 'गुलेनार' की कथाभूमि क्रमशः लखनऊ और बनारस है। दोनों उपन्यास तत्कालीन समाज की कई विसंगतियों को उजागर करते हैं। जैसे अपने शौक के लिए वैश्याओं का अपहरण करवा लेना। 'गुलेनार' में बनवारीलाल पुलिस को रिश्वत देकर गुलेनार के अपहरण का मामला दबवा देता है। वहीं उमराव जान 'अदा' में खुर्शीदा नामक वेश्या को लखनऊ के मेले से एक हिंदू राजा के कारिंदे दिन–दहाड़े उठा ले जाते हैं। दोनों उपन्यास सामंतवादी ताकतों की कामपिपासा का चित्रण करते हैं। अपने 'हवस' और 'शौक' को पूरा करने के लिए वे किसी भी हद तक जा सकते हैं।

वे 'अपहरण' के बाद होने वाले कानूनी कार्रवाईयों की परवाह नहीं करते। ना ही उन्हें इस बात से मतलब है कि जिसका अपहरण करवाया जा रहा है, उस पर क्या बीतेगी?

दोनों उपन्यासों में वेश्याओं से संबंध रखने वाले रईसों और नवाबों की पत्नियों का हल्का सा उल्लेख है। उपन्यास उस सामंतवादी ढाँचे का उल्लेख करता है जहाँ पत्नी जानती थी कि उसके पति का वेश्या से संबंध है, फिर भी वह कोई आपत्ति नहीं कर पाती थी। उमराव जान 'अदा' में हम नवाब जाफर अली खाँ की चर्चा करते हुए इस प्रसंग का उल्लेख कर चुके हैं। नवाब जाफ़र अली खाँ 'पचहत्तर रुपये महावार' पर एक वेश्या को अपने लिए रखे हुए थे। गुलेनार का अपहरण करके बनवारीलाल जब उसे अपने हवेली में लाता है तो उसकी पत्नी कुछ नहीं बोलती। विरोध तो दूर की बात है। बनवारीलाल अपनी पत्नी जानकी के सारे गहने लेकर गुलेनार को दे देता है, पर उसकी पत्नी जरा भी विरोध नहीं करती। "इसी वक्त बनवारी बाबू भी अपनी स्त्री के कुल गहने पत्ते जड़ाऊ और सादे उतरवाकर लाये इनकी स्त्री जानकी लक्ष्मी का अवतार थी, उसने ज़रा भी जेवर देने में आग्रह नहीं किया, वरन यह भी नहीं पूछा कि लेकर क्या करोगे, अपने पास एक छल्ला भी नहीं रक्खा, तुरंत कुल गहने पत्ते उतार कर अपने स्वामी के आगे धर दिये।"[21] पत्नियों का अपने पति के अनैतिक संबंधों पर आपत्ति न करना मजबूरी थी। पुरुषवादी और सामंतवादी समाज में उनके अधिकार ही कितने थे? संपत्ति पर भी उनका कोई अधिकार नहीं था, अगर वे विरोध करती तो किस शक्ति के आधार पर? उनसे यही आशा की जाती थी कि वे अपने काम से काम रखें और पति के मामले में दखल न दें। इन्हीं कारणों से पति के अनैतिक संबंधों को सहना उनकी मजबूरी थी।

'परीक्षागुरु' में मदनमोहन की स्त्री अपने पति के लिए प्राण त्यागने की बात करती है, पर 'गुलेनार' में बनवारीलाल की पत्नी जानकी अपने पति के सुख के लिए आत्महत्या कर लेती है। मरने से पहले वह अपने पति को एक पत्र लिखती है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस तरह है– "मेरे जीने से संसार तुम्हें बुरा भला कहता, पर अब तुम परस्त्री सेवन के सब तरह से अधिकारी हो।.. मेरे आंखों के तारे! तुम्हें सुखी छोड़कर मरती हूँ, यही मुझे परलोक में भी सुखकारी होगा।... यदि मैं सच्ची सुशील और पति परायण हूं तो परलोक में हमारा तुम्हारा फिर साथ होगा।"[22] एक दुर्व्यसनी और दुराचारी पति के लिए प्राण देते हुए पत्नी यह कहती है कि परलोक में हमारा मिलन होगा। वह अपने अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं करती। उसे पति का सुख सबसे प्यारा है। पति को 'परस्त्री' का कलंक न लगे इस कारण वह जहर खाकर आत्महत्या कर लेती है। पुरुषवादी संरचना ने स्त्री के शरीर और मस्तिष्क को किस तरह अपनी जकड़ में ले रखा है, यह प्रसंग उसका प्रमाण है। वह 'पति के सुख' के अलावा कुछ और सोच ही नहीं पाती। उपन्यास स्त्री का अपने पति के साथ 'सख्य भाव' का नहीं बल्कि 'दास्य भाव' का चित्रण करता है।

किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'स्वर्गीयकुसुम वा कुसुमकुमारी' वेश्या जीवन पर लिखा गया एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास की रचना 1889 में हुई और सन् 1901 में इसका प्रथम प्रकाशन हुआ। इसके द्वितीय संस्करण का प्रकाशन 1915 में हुआ। गोपाल राय के अनुसार "1889 ई. में आसपास किशोरीलाल गोस्वामी ने एक सत्य घटना के आधार पर स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी की रचना की। उपन्यास की भूमिका में गोस्वामी जी ने इसकी कहानी अपने मित्र पं. जगन्नाथ प्रसाद त्रिपाठी से सुनी बतायी है। यहाँ तक लिखा है कि उपन्यास के प्रमुख चार पात्रों के नाम (कुसुम, गुलाब, बसन्त तथा भैरों सिंह) भी यथावत् है।"[23]

ज्ञानचंद जैन के अनुसार 'कुसुम कुमारी' के पहले और दूसरे संस्करण में काफी अंतर है। "पूरा उपन्यास पहली बार 1901 में उनके (किशोरीलाल गोस्वामी के) 'उपन्यास मासिक पुस्तक' में छपा। 1915 में उन्होंने वृन्दावन, मथुरा में स्थापित अपने श्री सुदर्शन प्रेस से उसका दूसरा संस्करण छापा। ऐसा लगता है कि दूसरे संस्करण में उन्होंने उसमें कुछ संशोधन परिवर्द्धन कर दिया था, क्योंकि पहले संस्करण में डिमाई अठपेजी साइज के 23 फर्मे तथा 41 परिच्छेद थे किंतु दूसरे संस्करण में 27 फर्मे (214 पृष्ठ) तथा 57 परिच्छेद थे। पहला संस्करण मेरे देखने में नहीं आया।"[24] मैंने भी इस उपन्यास के पहले संस्करण को ढूँढने का प्रयास किया, परंतु मुझे भी यह प्राप्त नहीं हुआ। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में 'कुसुम कुमारी' का द्वितीय संस्करण है, प्रथम नहीं। वहाँ यह पुस्तक किशोरीलाल गोस्वामी के अन्य उपन्यासों जैसे 'माधवी–माधव' और 'सुलताना रज़ीयाबेगम' के साथ देखी जा सकती हैं। नागरी प्रचारिणी सभा में 'कि. 10/1' नाम से एक खाने में किशोरीलाल गोस्वामी की अधिकांश रचनाऐं सुरक्षित है। वही 'कुसुम कुमारी वा स्वर्गीय कुसुम' की एक प्रति भी है, जिस पर '843.../ कि. 10/1' की संख्या है। 843... के बाद पुस्तक पर कौन सी संख्या है, यह स्पष्ट नहीं है। संभवतः 8 या 9 है। मैंने अपने शोध कार्य में दूसरे संस्करण को आधार बनाया है। चूंकि इसका पहला संस्करण 1901 में छप चुका था, अतः मैंने 1910 तक के आरंभिक उपन्यासों में इसे शामिल करना उचित समझा।

गोपाल राय का मानना है कि "स्वर्गीय कुसुम वेश्या जीवन पर आधारित हिंदी का पहला उपन्यास है, जिसमें धर्म के नाम पर स्त्रियों द्वारा वेश्या जीवन जीने की विवशता का अंकन किया गया है। उपन्यास की केन्द्रस्थ पात्र कुसुम कुमारी अपने पिता द्वारा पुत्र प्राप्ति की कामना से श्री जगदीश को समर्पित कर

दी जाती है, जिसे मन्दिर का पुजारी पालता पोसता है और छह–सात साल की हो जाने पर एक वेश्या के हाथों बेच देता है। जो उसे नृत्य संगीत आदि की शिक्षा देकर वेश्यावृत्ति में डाल देती है। कुसुम इस वृत्ति से घृणा करती है।"[25]

'उमराव जान' में 'अमीरन' को दिलावर खाँ के कारण वेश्या बनना पड़ता है परंतु 'कुसुम कुमारी' में एक पिता ही अपनी पुत्री को 'देवदासी' बना देता है। कुसुम बिहार के एक बड़े जमींदार राजा कर्ण सिंह की पुत्री थी। परंतु पुत्र कामना के कारण कर्ण सिंह उसे मंदिर में 'दान' कर देते हैं। पिता का कर्तव्य है कि वह 'कन्यादान' करके उसे गृहस्थ आश्रम तक पहुँचाए परंतु उपन्यास में राजा कर्ण सिंह उसे मंदिर में दान करके 'वेश्यालय' तक पहुँचा देते हैं। उपन्यास बताता है कि एक सामंती समाज में राजा की पुत्री भी सुरक्षित नहीं है। पुत्री अपने पिता द्वारा ही 'देवदासी' बना दी जाती है। लड़कियों का जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं है। 'पुत्र कामना' के लिए उनकी बलि दी जा सकती है।

'कुसुम कुमारी' को इटाढ़ी की जमींदारिन और मशहूर वेश्या चुन्नी खरीद लेती है और उसे हिंदी, फारसी के साथ–साथ नाचने–गाने की भी तालीम देती है। 'भाग्यवती' और 'मिरातुल उरुस' की लड़कियों को इसलिए शिक्षा दी जाती है ताकि पढ़–लिख कर वे कुशलता से घर का संचालन कर सकें। जबकि 'उमराव जान अदा' और 'कुसुम कुमारी' को इसलिए शिक्षा दी जाती है कि वे 'कुशल वेश्या' बन सके। 'भाग्यवती', 'वामा शिक्षक' और 'मिरातुल उरुस' की स्त्रियों से आशा की जाती है कि वे अपने पति की कुशल साथी और सलाहकार बनेंगी जबकि 'उमराव जान' और 'कुसुम कुमारी' से आशा की जाती है कि वे अपने हर ग्राहक का कुशलतापूर्वक नाच–गाकर मनोरंजन करेंगी।

'उमराव जान' की तरह ही कुसुम कुमारी वेश्यावृत्ति से घृणा करती है। वह कहती है "संसार में यदि सचमुच किसी का जीना मरने से करोड़ दर्जे बुरा होता है तो वह वेश्याओं का है।"[26] कुसुम वेश्या के पेशे से निकलना तो चाहती है पर निकल नहीं पाती। वसन्त कुमार से उसका प्रेम होता है। दोनों गन्धर्व विवाह भी करते हैं। वसंत कुमार उसका साथ देने का वादा करता है परंतु हिंदू समाज 'वेश्या कुसुम' की होने वाली संतान को अपनाने से इंकार कर देता है। इस कारण त्याग का परिचय देते हुए कुसुम अपने पति को दूसरा विवाह कर लेने को कहती है। बसंत कुमार से कुसुम का संवाद मार्मिक तो है ही, हमारी सभ्यता पर भी कटु टिप्पणी है– "जब समाज में मैं नहीं घुस सकती और मेरे लड़के यदि होंगे तो वे उसी हैसियत से देखे या समझे जायेंगे जैसे कि रंडियों के लड़के देखे या समझे जाते हैं। पर मैं ऐसा न होने दूँगी और अपनी इस शादी को गुप्त ही रख कर संसार से अपना नाम–निशान मिटा दूँगी।"[27] उपन्यासकार कुशलपूर्वक "वेश्याओं के प्रति समाज की पाषाणहृदयता पर भी प्रकाश डालता है। एक बार नारी के वेश्या–जीवन के दलदल में फँस जाने पर समाज उसे उस दलदल से निकलने और फिर से सम्मानपूर्ण जीवन बिताने का कोई अवसर नहीं प्रदान करता। बसंत कुमार से गंधर्व विवाह कर लेने के बाद कुसुमकुमारी जब कभी सोचती थी कि मेरी सन्तान को हिंदू समाज की गोद में कभी स्थान मिल ही नहीं सकता तो यह बात उसके रोम–रोम में बिच्छू के डंक की तरह चुभती थी।"[28]

उपन्यास के अंत में कुसुम कुमारी का चरित्र सशक्त रूप से उभर कर सामने आता है। वह जब अपने पिता राजा कर्णसिंह से मिलती है तो प्रश्न पूछती है– "जिस प्रथा से व्यभिचार और वेश्यावृत्ति की दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़वार हुई जा रही है उस प्रथा को धर्म का अंग मानना– यह कैसा

विचार है?"[29] यहाँ कुसुम कुमारी समस्त वैश्याओं की आवाज बन जाती है। उसका यह प्रश्न 'व्यक्तिगत' न होकर 'सामूहिक' हो जाता है। ऐसा लगता है कि 'समस्त पीड़ित स्त्रियाँ' सामंतवादी और पुरुष सत्तात्मक समाज से प्रश्न पूछ रही है। कुसुम का तर्क करना, धर्म पर ऊँगली उठाना और कुप्रथा की आलोचना करना उसे प्रगतिशील चरित्र की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देता है।

उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी उपन्यास के अंत में वेश्या प्रथा के खिलाफ पात्रों के माध्यम से संदेश देते हैं। इस तरह यह उपन्यास वेश्या जीवन का चित्रण करने के साथ ही वेश्या जीवन की बुराईयों का भी संदेश देता है। एक स्त्री के लिए वेश्या जीवन जीना कितना तकलीफदेह हो सकता है इस पर भी किशोरीलाल गोस्वामी ने जोर दिया है। जिस जगन्नाथी पंडे ने बचपन में कुसुम कुमारी को पाला था, वह दाक्षिणात्य ब्राह्मण था और धर्म शास्त्रों का मर्मज्ञ था। उपन्यास के अंत में वह कहता है– "अब इस घोर कलिकाल में यह सत्यानासिनी प्रथा (देवदासी प्रथा) बंद हो जाय तो अच्छा है, क्योंकि धर्म की व्यवस्था देश काल और पात्र के अनुसार ही की जाती है इसीलिए शास्त्रों में प्रत्येक युग में धर्म की भिन्न–भिन्न व्यवस्थाएँ गई है।"[30] देश, काल के अनुसार चलने का आग्रह करके किशोरीलाल गोस्वामी परंपरा से चली आ रही 'दूषित प्रथाओं' को मिटाने का संदेश दे रहे हैं। उपन्यास के अंत में राजा कर्ण सिंह भी देवदासी प्रथा का नामो निशान मिटाने की प्रतिज्ञा करते हैं। अंत में राजा कर्ण सिंह कुसुम कुमारी को पुनः अपनी बेटी मान लेते हैं और उसके लिए सौ रुपए महीने की आमदनी तथा एक गाँव लिख देते हैं। ज्ञानचंद जैन का यह कहना सही है कि "कुसुम कुमारी हिंदी का ही नहीं भारतीय भाषा का पहला उपन्यास था जिसमें समाज की दूषित देवदासी प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई गई थी। उसे समाज की सत्यानासिनी प्रथा बता कर बंद करने की माँग की गई थी।"[31]

वेश्या जीवन पर लिखे गए इन आरंभिक उपन्यासों का फलक वाकई बहुत बड़ा है। अगर ये उपन्यास न लिखे जाते तो हमारे सामने सिर्फ 'घरेलू स्त्री' का ही चित्र होता। इन उपन्यासों ने 'स्त्री त्रासदी' को हमारे सामने रखा। इन उपन्यासों में स्त्री की पीड़ा और वेदना बहुत ही प्रमाणिक तौर पर व्यक्त हुई है। इन उपन्यासों ने सिद्ध किया कि जिस काल में 'स्त्री शिक्षा' और 'स्त्री सुधार' की बात हो रही थी उसी काल में 'सामंतवादी' और 'पुरुषवादी' व्यवस्था 'स्त्री शरीर' का शोषण कर रही थी। 'भाग्यवती', 'वामा शिक्षक' और 'मिरातुल उरुस' का अध्ययन करते समय हमें 'उमराव जान अदा', 'गुलेनार' और 'कुसुम कुमारी' को भी सामने रखना होगा, तभी हम तत्कालीन समाज का पूरा सच जान पाऐंगे।

संदर्भ

1 मिर्ज़ा हादी 'रूस्वा' : उमराव जान 'अदा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2012, पृ. 26–27

2 जैनेन्द्र किशोर : गुलेनार, हित चिन्तक प्रेस, काशी, संस्करण 1907 (नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के पुस्तकालय में पुस्तक की प्रति (क्रम संख्या 843/1जै. 02 से) सुरक्षित), पृ. 50–51

3 राधा कुमार : स्त्री संघर्ष का इतिहास, अनुवाद एवम् संपादन रमा शंकर सिंह, 'दिव्यदृष्टि', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण 2009, पृ. 40

4 T.W. Clark : The Novel in India (Its Birth and Development), George Allen and Unwin Ltd., Museum Street London, First Published in 1970, page 132-139

5 मिर्ज़ा हादी 'रूस्वा' : उमराव जान 'अदा', पूर्वोक्त, पृ. 90

6 वैभव सिंह : भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), द्वितीय संस्करण 2013, पृ. 109

7 उपरोक्त, पृ. 114

8 मिर्ज़ा हादी 'रूस्वा' : उमराव जान 'अदा', पूर्वोक्त, पृ. 39

9 उपरोक्त, पृ. 26

10 उपरोक्त, पृ. 39

11 उपरोक्त, पृ. 92

12 उपरोक्त, पृ. 91

13 सैयद एहतेशाम हुसैन : उर्दू अदब की तन्क़ीदी तारीख, तरक्की उर्दू ब्यूरो, संस्करण 1988, पृ. 205

14 मिर्ज़ा हादी 'रूस्वा' : उमराव जान 'अदा', पूर्वोक्त, पृ. 79

15 उपरोक्त, पृ. 91 और 96

16 वैभव सिंह : भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पूर्वोक्त, पृ. 114–115

17 राधा कुमार : स्त्री संघर्ष का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ. 84

18 जैनेन्द्र किशोर : गुलेनार, पूर्वोक्त, पृ. 51

19 ज्ञानचंद जैन : प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास आर्य प्रकाशन मंडल, गांधीनगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1998, पृ. 268

20 जैनेन्द्र किशोर : गुलेनार, पूर्वोक्त, पृ. 55

21 उपरोक्त, पृ. 56

22 उपरोक्त, पृ. 66 और 68

23 गोपाल राय : हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति 2009, पृ. 99–100

24 ज्ञानचंद जैन : प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास, पूर्वोक्त, पृ. 201

25 गोपाल राय : हिंदी उपन्यास का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ. 100

26 किशोरीलाल गोस्वामी : स्वर्गीयकुसुम वा कुसुमकुमारी, श्री सुदर्शप्रेस, वृन्दावन, मथुरा, द्वितीय संस्करण 1915, पृ. 108

27 उपरोक्त, पृ. 176

28 ज्ञानचंद जैन : प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास, पूर्वोक्त, पृ. 202

29 किशोरीलाल गोस्वामी : कुसुम कुमारी, पूर्वोक्त, पृ. 203

30 उपरोक्त, पृ. 209

31 ज्ञानचंद जैन : प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास, पूर्वोक्त, पृ. 203

4.3 मध्यवर्ग, यथार्थवाद और तत्कालीन समाज

''नहीं साहब मेरा क्या मकदूर है? मैं गरीब, आप (मदनमोहन) अमीर, मुझको दिन भर रोजगार धंधा धरना पड़ता है, आपका सबदिन हँसी दिल्लगी की बातों मैं रह जाता है। मैं दिनभर पैदल भटकता हूँ, आप सवारी बिना एक कदम नहीं चलते। मेरे रहने की एक झोपड़ी, आप के बड़े बड़े महल, मुल्क मैं अकालहो, गरीब बिचारे भूखों मरते हों, आप के यहाँ दिन रात ये ही हाहा, हीहो, रहैगी। सच है आप पर उन्का क्या हक है? उन्सै आपका क्या संबंध है? परमेश्वर ने आपको मनमानी मौज करनें के लिए दौलत देदी फिर औरों के दु:ख दर्द मैं पड़ने की आपको क्या जरूरत रही?''[1]

– कपड़ा व्यापारी हरकिशोर का मदन मोहन से संवाद का एक अंश (उपन्यास : परीक्षागुरू)

''आबिद हुसैन जिस कद्र मेहनत करते जाते थे, उसी कद्र मेहनत की आदत बढ़ती जाती थी। दो ही तीन महीने के बाद नौकर हो गए। साठ रूपया तनख्वाह पंद्रह रूपया भत्ता। महकमा–ए–तामीरात में नाज़ायज आमदनी की बहुत गुंजाइश है मगर हम अपने नाजरीन को यकीन दिलाते हैं कि हमारे दोस्त ने कभी एक हब्बा सिवाय तनख्वाह के नहीं लिया।... बीवी अलहदा काम करती थी जिससे यह वहम हो सकता है कि इन मियां–बीवी को जरूरत से ज्यादा रूपया पैदा करने की हवस थी। मगर इसके साथ ही नाजायज़ तरीके से रूपया पैदा करना इनका शुआर न था। इन्होंने जो कुछ पैदा किया वह अपने कुव्वतेबाजू से पैदा किया।''[2] *– 'मिर्जा हादी रुस्वा' के उपन्यास शरीफजादा का एक अंश'*

हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों में एक ओर जहाँ 'स्त्री सुधार' पर जोर दिया जा रहा था, वहीं दूसरी ओर अमीर और मध्यवर्गीय युवाओं को 'सद्व्यवहार और कुसंगति से बचने' की भी शिक्षा दी जा रही थी। एक तरफ आरंभिक उपन्यासकार 'स्त्री हितों की चिंता' कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर 'नौजवानों को सीख भी दी जा रही थी। 'वामा शिक्षक', 'भाग्यवती', 'मिरातुल उरूस' जैसे उपन्यास कुशल स्त्री निर्माण की नसीहतें दे रहे थे, तो 'परीक्षागुरू', 'शरीफजादा' और 'इब्नुलवक्त' जैसे उपन्यास मध्यवर्गीय युवाओं को 'काबिल आदमी' बनने की सीख दे रहे थे। आरंभिक उपन्यासों की चिंता में 'स्त्री' के साथ–साथ 'नौजवान' भी थे। इन उपन्यासों में अंग्रेजी सभ्यता की तड़क–भड़क और अंग्रेजी ढंग की जीवन पद्धति से बचने की भी सलाह दी गई है। इन उपन्यासों में अंग्रेजियत के बढ़ते प्रभाव से भारतीयता को बचाने का आग्रह भी दिखता है। इन उपन्यासों के साथ–साथ 'बलवंत भूमिहार' और 'घराऊ घटना' जैसे यथार्थवादी उपन्यासों की भी रचना की गई। इसी दौरान सांप्रदायिकता और धार्मिक–फसाद पर

केंद्रित उपन्यास 'निःसहाय हिंदू' भी लिखा गया। अगर हम इन सारे आरंभिक उपन्यासों को एक साथ पढ़े तो हमारे सामने मध्यवर्गीय (उच्च मध्यवर्गीय भी) युवा, यथार्थवाद और तात्कालिक समाज की एक मुक्कमल तस्वीर उभर कर सामने आएगी।

'परीक्षागुरू' उपन्यास की भूमिका में लाला श्रीनिवासदास लिखते हैं ''इस पुस्तकमैं दिल्लीके एक कल्पित (फर्जी) रईसका चित्र उतारा गया है और उस्को जैसेका तैसा (अर्थात् स्वाभाविक) दिखानेंके लिए संस्कृत अथवा फारसी अरबीके कठिन शब्दोंकी बनाई हुई भाषा के बदले दिल्लीके रहनेवालों की साधारण बोलचालपर ज्यादा दृष्टि रक्खी गई।''[3] हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासकार भूमिका में ही स्पष्ट कर देते थे कि वे किस उद्देश्य के लिए उपन्यास की रचना कर रहे हैं। 'स्त्री–शिक्षा' केंद्रित सारे उपन्यासों में लगभग यह बात पाई जाती है। 'परीक्षागुरू' का उपन्यासकार दिल्ली के एक रईस नौजवान लाला मदनमोहन के बहाने अपनी 'बात' बताना चाह रहा है। उपन्यास के अंत में लेखक वह बात बताते हुए कहता है ''जो बात सौ बार समझानें सै समझमें नहीं आती वह एक बार की परीक्षा सै भली भांति मनमैं बैठ जाती है और इसीवास्ते लोग 'परीक्षा' (को), गुरू, मान्ते हैं।''[4] क्या 'परीक्षागुरू' का महत्व सिर्फ मदनमोहन को सीख देना भर है? हिंदी का पहला कहा जाने वाला उपन्यास क्या इसी बात के लिए रचा गया? या फिर इसमें कई और अर्थ हैं?

'परीक्षागुरू' को हिंदी का पहला उपन्यास माना जाए या नहीं, थोड़ी देर के लिए हम इस प्रश्न को स्थगित करते हैं। इस प्रश्न पर वैसे भी काफी विचार और विवाद हो चुके हैं। नामवर सिंह का मानना है कि ''भारतीय उपन्यास के मूलाधार उन्नीसवीं शताब्दी के ये 'रोमांस' ही हैं, न कि तथाकथित अंग्रेजी ढंग के उपन्यास। उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपालकुंडला' करती है, 'परीक्षागुरू' नहीं। 'परीक्षागुरू' का महत्व अधिक से अधिक ऐतिहासिक है और वह भी सिर्फ हिंदी के लिए।''[5] क्या सचमुच आज के दौर में 'परीक्षागुरू' का कोई महत्व नहीं है? क्या उसकी

एकमात्र उपलब्धि यही है कि कभी आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उसे 'अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास' कहा था? क्या 'परीक्षागुरू', 'उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व' करने में 'चूक' गई। 'परीक्षागुरू' की एक आलोचना श्रीनिवासदास के समकालीन बालकृष्ण भट्ट ने अपने पत्र 'हिंदी प्रदीप' में भी की थी। बालकृष्ण भट्ट ने अपनी आलोचना में ''परीक्षागुरू उपन्यास की भाषा और प्लाट की बंदिश को 'बहुत कुछ सराहने योग्य' बतलाया था।... किंतु सब मिलाकर बालकृष्ण भट्ट को उपन्यास में रूखापन लगा। उन्होंने लिखा – उपन्यास में पदों का वह लालित्य और माधुर्य नहीं आया जैसा बाबू हरिश्चंद्र के लेख में होता है। नाटक व उपन्यास के प्रधान अंग श्रृंगार, हास्य, कभी–कभी वीर और करुण होते हैं। सो उन सबों की इसमें कहीं झलक भी नहीं है।''[6] बालकृष्ण भट्ट उपन्यास के प्लाट की प्रशंसा करते हैं पर उसमें लालित्य और माधुर्य की कमी उन्हें खलती है। 'परीक्षागुरू' पर विचार करते समय हमें यह भी देखना चाहिए कि उस समय हिंदी गद्य साहित्य की स्थिति क्या थी। ''हिंदी में उस समय कथा–कहानियों के नाम पर 'छबीली भठियारिन', 'किस्सा तोता मैना' जैसी एक–एक, दो–दो आने और अधिक से अधिक तीन–तीन, चार–चार आने की पुस्तकें बिकती थीं। अंग्रेजी में भी इंगलैंड के बड़े–बड़े घरानों के पापाचार की कथाओं को आधार, बनाकर लिखे गए रेनाल्ड के 'मिस्ट्रीज आफ लंदन' तथा 'मिस्ट्री ऑफ दि कोर्ट आफ लंदन' जैसे उपन्यास धड़ल्ले से बिक रहे थे।... बालकृष्ण भट्ट ने अपनी समालोचना में एक और बात की चर्चा की थी। उस समय नवोदित मध्यम वर्ग में एक ऐसा सुधारक वर्ग भी उत्पन्न हो गया था जो नॉवेलों का पढ़ना बुरा मानता था। वह उपन्यासों को 'इम्मारल' (असत् उपदेशक) कहता था।''[7] ऐसे हालात में उपन्यास लिखना और उसके माध्यम से भटके हुए उच्चमध्यवर्गीय युवा को 'सही रास्ता' दिखाना काफी उल्लेखनीय था।

यह सच है कि 'परीक्षागुरू' में उपदेश और 'नीति–कथाओं' की भरमार है। अगर उपन्यास में से शेक्सपियर, लार्ड बायरन, गोल्डस्मिथ जैसे साहित्यकारों और हितोपदेश, महाभारत, मनुस्मृति, विष्णु पुराण जैसे ग्रंथों के उद्धरण निकाल दिए जाए तो उपन्यास

का आकार घटकर आधा रह जाएगा। फिर भी इस आधे बचे उपन्यास में भी काफी कुछ ऐसा है जिसे हम 'साहित्यिक दस्तावेज' की तरह संभाल कर रख सकते हैं प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास' के अध्येता ज्ञानचंद जैन परीक्षागुरू का महत्व बताते हुए कहते हैं – ''यदि आज का कोई उपन्यास पाठक श्रीनिवासदास का परीक्षागुरू पढ़े तो हो सकता है कि कुछ पन्ने पढ़ने के बाद ही उसका मन 'उछट' जाय।... परंतु आज का पाठक यदि इस उपन्यास को उसी दृष्टि से पढ़े जिस दृष्टि से कोई पुरातत्त्ववेत्ता खुदाई में प्राप्त किसी मृदभांड के टुकड़े, अभिलेख अथवा टूटी–फूटी मूर्ति का अध्ययन करता है तो उसको इसमें अवश्य रस मिलेगा। यदि वह उसकी एक–एक पंक्ति को जिस ध्यान से अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा किसी स्लाइड का अध्ययन किया जाता है, उसी ध्यान से पढ़ेगा तो उसके समक्ष अनेक नए–नए तथ्यों का उद्‌घाटन होगा। उसे अपने अतीत को उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हमारे यहाँ जिस नए शहरी मध्यम वर्ग ने क्रमिक रूप से आकार ग्रहण किया, वह जिन–जिन रास्तों और पगडंडियों से गुजरा उसे पहचानने तथा हिंदी उपन्यास ने जिस बिंदु से अपनी यात्रा आरंभ की, उसका अन्वेषण करने के लिए बहुत सी मूल्यवान सामग्री प्राप्त होगी। उपन्यास समाज का दर्पण माना जाता है। 'परीक्षागुरू' में 1880 के दशक में हमारे समाज में जो वैचारिक हलचलें हो रही थीं नवोदित मध्यम वर्ग में देशोन्नति को जो नई भावनाएँ हिलोरें ले रही थीं, उसके अनेक चित्र मिलते हैं।''[8] ज्ञानचंद जैन के इस लंबे उद्धरण से यह साफ है कि उनकी दृष्टि में 'परीक्षागुरू' का महत्व नामवर सिंह से कहीं ज्यादा है। ज्ञानचंद जैन ने 'परीक्षागुरू' को सूक्ष्मता से पढ़ने की सलाह दी। मैंने अपने शोध–प्रबंध के दौरान कई बार परीक्षागुरू को पढ़ा। जब–जब भी मैंने नोट्स लिए उपन्यास में कुछ न कुछ अतिरिक्त पाया। हर बार पढ़ने पर सचमुच कुछ नया मिल ही जाता था। इस कारण 'परीक्षागुरू' पर मैं ज्ञानचंद जैन की राय ज्यादा सटीक मानता हूँ, नामवर सिंह की नहीं। अपने प्रसिद्ध निबंध 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और भारतीय उपन्यास' में नामवर सिंह ने 'परीक्षागुरू' को लगभग खारिज कर दिया है। 'परीक्षागुरू' वस्तुतः अपने समाज का 'साहित्यिक दस्तावेज' है।

''नामवर सिंह ने अंग्रेजी ढंग के नॉवेलों को भारतीय उपन्यास के स्वाभाविक विकास में बाधक भी बताया है और जातीय स्मृतियों की रक्षा के लिहाज से उपन्यास या नॉवेल की जगह मराठी में प्रचलित कादम्बरी को अपनाने की भी वकालत की है। पर सवाल यह है कि बकिमचंद्र के जिन दुर्गेशनंदिनी (1864), कपालकुंडला (1866) या मृणालिनी (1869) जैसे रोमांसधर्मी उपन्यासों को भारतीय उपन्यासों की मौलिक विकास प्रक्रिया से जोड़ा गया है, क्या उसमें यथार्थधर्मिता का भी निर्वाह हो सकता था? भारतीय राष्ट्र और जीवन की स्थितियाँ निरंतर जटिल हो रही थीं और क्या रोमांसधर्मिता के बल पर उन्हें व्यक्त किया जा सकता था?''[9] नामवर सिंह ने बांग्ला, उर्दू और उड़िया के आरंभिक उपन्यासों पर विचार करते हुए माना है कि 'भारतीय उपन्यास कृषक जीवन की महागाथा के रूप में उभरा।'[10] इस संदर्भ में वे उड़िया उपन्यास 'छ माण आठ गुंठ' का खासतौर पर उल्लेख करते हैं। नामवर सिंह जिन 'रोमांसधर्मी' उपन्यासों का जिक्र करते हैं, उनमें 'कपालकुंडला' की रचना तो संभव थी पर 'छ माण आठ गुंठ' की नहीं। उनमें 'बाणभट्ट की आत्मकथा' तो संभव है 'गोदान' की नहीं। इस तर्क से देखें तो 'अंग्रेजी ढंग का उपन्यास' होने के कारण 'परीक्षागुरू', 'कपालकुंडला' से कम महत्व की नहीं हो जाती। फिर यह भी एक तथ्य है कि ''आगे चलकर खुद बंकिम ने अपने उपन्यास आनंदमठ तक आते–आते रोमांस या प्रेमकथाओं के दुखांत का आग्रह छोड़कर उस, रूपबंध को अपना लिया जो अंग्रेजी ढंग के नॉवेल के ही ज्यादा नजदीक है। जातीय स्मृतियों की रक्षा और परंपरा का प्रत्याभिज्ञान सिर्फ साहित्य विधा के पारंपरिक रूपों में ही नहीं बल्कि आधुनिक रूपों में भी सुरक्षित रह सकता है। जयशंकर प्रसाद के नाटक तो इसकी मिसाल हैं ही।''[11]

'परीक्षागुरू' उपन्यास को प्रकरण में बाँटा गया है। उपन्यास में कुल 41 प्रकरण है। हर प्रकरण का एक शीर्षक है। जैसे प्रकरण 1 का शीर्षक है 'सौदागर की दुकान', 'प्रकरण 3 का शीर्षक है 'संगतिका फल' 'प्रकरण 40' का शीर्षक है 'सुधारनें की रीति'। प्रकरण को इन शीर्षकों के साथ–साथ 'हितोपदेश', 'विष्णुपुराण', 'भोजप्रबंधसार' आदि के

दोहे भी हैं। इनको पढ़कर पता चल जाता है कि उपन्यासकार इस प्रकरण में क्या कहना चाहता है।

उपन्यास का आरंभ एक अंग्रेज सौदागर की दुकान से होता है, जहाँ लाला मदनमोहन नए–नए फैशन की चीजें देख रहे हैं। 'परीक्षागुरू' उपन्यास में भारतीयों के साथ–साथ अंग्रेज पात्र भी हैं। पर वे अंग्रेजी साम्राज्यवाद और अंग्रेजी प्रशासन के प्रतिनिधि नहीं हैं, बल्कि व्यापारी हैं। वे दिल्ली में व्यापार करते हैं। पूरे उपन्यास में 'मिस्टर ब्राइट' और 'मिस्टर रसल' नामक दो अंग्रेज पात्र हैं। दोनों ही दिल्ली में व्यापार करते हैं। मदनमोहन जब इनकी दुकान में जाता है तो ये मदनमोहन की झूठी प्रशंसा और चापलूसी करते हैं। मदनमोहन जरूरत न होने पर भी हजारों का सजावटी सामान खरीद लेता है। वस्तुतः "नए शिक्षित वर्ग में सबसे बड़ी ललक यह थी कि हमारी गिनती जेंटिलमैनों में हो। सामाजिक जीवन में अंग्रेजी चालों की नकल बढ़ती जा रही थी। अमीर लोग अब अपने घरों की सजावट अंग्रेजी ढंग से करने लगे थे।''[12] मदनमोहन निःसंदेह एक रईस है। उसके पास काफी धन संपदा है परंतु उसकी व्यापार बुद्धि एकमद न्यून है। इस प्रसंग में उपन्यासकार अंग्रेजी सभ्यता के तड़प–भड़क से होने वाली हानियों का जिक्र करता है। ब्रजकिशोर द्वारा इन सजावटी सामानों का विरोध करना वस्तुतः देशोन्नति की चिंता करना है। मदन मोहन की तरह की 'डिप्टी नजीर अहमद' के उपन्यास 'इब्नुलवक्त' का पात्र 'इब्नुलवक्त' भी अंग्रेजी तरीके की बैठक बनवाता है – ''अगर कोई अंजान आदमी इब्नुलवक्त की कोठी में जा खड़ा होता, हरगिज न पहचान सकता था कि इसमें कोई अंग्रेज रहता है या हिन्दुस्तानी।''[13] आरंभिक उपन्यासकार भारतीय युवकों द्वारा अंग्रेजी तड़क–भड़क को अपनाने के खिलाफ है। उपन्यासकार अप्रत्यक्ष रूप से यह भी बताते हैं कि अंग्रेजियत की भौंडी नकल करने में बहुत सारा रूपया व्यर्थ चला जाता है और अनावश्यक धन खर्च करने के कारण अंततः मदनमोहन अपना सारा धन गँवा बैठता है तथा कर्जदार हो जाता है। वह कलकत्ता की हैमिल्टन कम्पनी को ऑर्डर देकर हीरे का पॉकेट चेन, पन्ने की अंगूठी,

मोती के नेकलेस मंगवाता है। यही अंग्रेजी फैशन उसके बर्बादी का कारण बनती है। मदनमोहन दंभ पूर्वक कहता है ''मैं तो अच्छी चीज का गाहक हूँ। चीज पसंद आए पीछे मुझको कीमत की कुछ परवाह नहीं रहती।''[14] मदनमोहन की इस दृष्टि के समानांतर ही लाला ब्रजकिशोर की दृष्टि है। लाला ब्रजकिशोर कहते हैं ''सामानसै सच्ची इज्जत नहीं मिल सक्ती। सच्ची इज्जत तो सच्ची लियाकतसै मिलती है।''[15]

सिर्फ 'परीक्षागुरू' का 'मदनमोहन' ही अंग्रेजी चाल–ढाल की नकल नहीं कर रहा था। 'इब्नुलवक्त' उपन्यास का पात्र 'इब्नुलवक्त' जब एक अंग्रेज साहब के यहाँ दावत पर जाता है तो वह सर से पाँव तक 'अंग्रेजी साहब' बन जाता है। ''नाबेल साहब के पास से उठा तो जानिसार इब्नुलवक्त को उसके बंगले पर ले गया और जाते के हाथ हजायत करो यानी नहला–धुला मौसम और वक्त–मौके के लिहाज से फैशन के मुताबिक अंग्रेजी सूट और ब्रेसिस टाई, कौलर सब कस–कसाकर उसको अच्छा–खासा ऐन–मैन यूरोपियन बना दिया।''[16] उपन्यास में इब्नुलवक्त की मित्रता एक अंग्रेज नाबेल साहब से हो जाती है। इस मित्रता का प्रभाव इब्नुलवक्त पर पड़ता है और वह पाश्चात्य रहन–सहन और वेश–भूषा का समर्थन करने लगता है। उपन्यास में हिंदुस्तानी पहनावे पर भी तंज किया गया है – ''अफसोस! हिंदुस्तान के लोग अकल से मुतलक काम नहीं लेते। एक कपड़े हम लोग पहनते हैं कि बरसों फटने का नाम नहीं जानते और एक कपड़े ये हैं कि पहने और खिसके। ऐसे नाजुक और महीन कपड़े औरतों की जेबों–जीनत के लिए ज्यादा मुनासिब हैं मर्दों को खुदा ने इसी गरज से जयादा त्वानाई दी है कि उनको मेहनत और मुशक्कत करनी है। हिंदुस्तानियों का लिबास उनकी काहिली और अशाइस तबली की दलील है।''[17]

लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरू' (1882) और डिप्टी नजीर अहमद के उपन्यास 'इब्नुलवक्त' (1888) की भारतीयता और यूरोपीय सभ्यता के सांस्कृतिक द्वंद्व के रूप में भी पढ़ा जा सकता है। 'नज़ीर अहमद' और 'लाला श्रीनिवासदास' दोनों अपने–अपने

उपन्यासों में अंग्रेजी सभ्यता के अधानुकरण का विरोध करते हैं। 'हिंदू समाज' की तरह 'मुस्लिम समाज' भी अंतर्द्वंद्व से ग्रस्त था। एक ओर वह प्रगति के लिए अंग्रेजी पढ़ना चाहता था और अंग्रेजी रंग–ढंग अपनाना चाहता था। वहीं दूसरी ओर वह अपने पारंपरिक आस्थाओं को अंग्रेजी शिक्षा के दुष्प्रभाव से बचाना भी चाहता था। उपन्यास का एक पात्र 'हुज्ज्तुल इस्लाम' 'इब्नुलवक्त' से कहता है – ''अव्वल सिरे तो तुमने यही गलत समझा के सरकारी नौकरियों से मुसलमान में खुशहाली आ जाएगी, फिर दूसरी गलती तुमसे हुई के मुसलमानों और अंग्रेजों में इख़्तलात पैदा करने के लिए तुमने अंग्रेजी वज़ह अख्तियार की और तुम्हारी देखा–देखी और बहुतेरों ने और तुम्हारी गरज भी यही थी। समझे कुछ और हो गया कुछ। रहा दीन उसका तुमने और तुम्हारे इत्तिबा ने मिलकर ऐसा इसतिखफाफ किया के बारेश बाबा हम बाज़ी की भी कुछ हकीकत बाकी न रही।''[18]

अंग्रेजी सभ्यता ने भारत में एक सांस्कृतिक द्वंद्व की स्थिति पैदा कर दी थी। अंग्रेजी शिक्षा के कारण पश्चिमी ज्ञान व विज्ञान का प्रवेश भारतीय समाज में हो गया था, पर बुद्धिजीवी वर्ग यह भी अनुभव कर रहा था कि देश की उन्नति के लिए अपनी भाषा की उन्नति ही जरूरी है। 'परीक्षागुरु' में बाबू बैजनाथ के माध्यम से उपन्यासकार ने अंग्रेजी भाषा में दी जाने वाली शिक्षा पर व्यंग्य किया है – ''इसके कई वर्ष, तो केवल अंग्रेजी भाषा सीखनें मैं विद्या के द्वारपर खड़े–खड़े, बीत गए जो अंग्रेजों की तरह ये शिक्षा अपनी देश भाषा मैं होती अथवा काम, जामकी पुस्तकों का अपनी भाषा में अनुवाद हो गया होता तो कितना समय व्यर्थ नष्ट होने सै बचता? और कितनें अधिक लोग उस्सै लाभ उठाते? परंतु प्रचलित रीति के अनुसार इस्को सच्ची हितकारी शिक्षा नहीं हुई थी।''[19] जाहिर है अपनी भाषा में शिक्षा देने की वकालत प्रकारान्तर से अपनी सभ्यता की वकालत है। भारतीय समाज में आज भी लाखों विद्यार्थी अंग्रेजी को सहजता से स्वीकार नहीं कर पाते।

सांस्कृतिक अंतर्द्वंद्व का चित्र रतननाथ सरशार के उपन्यास 'फसाना–ए–आजाद' में कई जगह दिखता है। आरंभिक हिंदी उपन्यासों पर अगर कुछ हद तक नवजागरण और आर्य समाज का प्रभाव था तो उर्दू के आरंभिक उपन्यास भी नवजागरण और सर सैयद अहमद खाँ के विचारों से अछूते न थे। 'फसाना–ए–आजाद' का नायक 'आजाद' जब मिस्त्र और रोम घूमकर वापस हिंदुस्तान आता है तो उसके विचारों में बदलाव होता है। वह पहले वाला 'आजाद' नहीं रह जाता है। "वह बार–बार उन्मुक्त विचारों का उदाहरण देता है तथा सर सैयद अहमद के सुधार आंदोलन का समर्थन करता है। वह यूरोप के वैज्ञानिक ज्ञान के महत्व को स्वीकार करता है। साथ ही स्त्री शिक्षा की भी पूरी शक्ति के साथ समर्थन करता है। उसकी इच्छा है कि नए ज्ञान–विज्ञान के प्रकाश में एक नया समाज बने जो समकालीन चुनौतियों का सामना कर सके।''[20] रतननाथ सरशार ने 'फसाना–ए–आजाद' में लखनऊ के माध्यम से उस दुनिया को प्रस्तुत किया है, जिसमें एक तरफ अतीत का मोह है, दूसरी ओर नई वैज्ञानिक शिक्षा है नया समाज है। ''इसी को ध्यान में रखते हुए प्रसिद्ध पाकिस्तानी उर्दू आलोचक डॉ. तबस्सुम काश्मीरी लिखते हैं– ''फसाना–ए–आजाद' की पुरानी दुनिया उँघती हुई दुनिया है। इस दुनिया के जागते हुए पात्र अतीत के सपने देखते हैं और उस अतीत को वर्तमान में खींचते हैं। जब वे होश में आकर वर्तमान से आँख मिलाते हैं तो उनके बीच अजनबीयत की दीवार खड़ी हो जाती है। वे इस नई दुनिया में प्रवेश करने के इच्छुक नहीं क्योंकि यह दुनिया उनकी पुरानी दुनिया को बहुत बड़ा सदमा पहुँचाती है।... नई यूरोपीय वैज्ञानिक संस्कृति और पुरानी भारतीय धार्मिक संस्कृति की तकराहट यहाँ सर्वत्र दिखाई पड़ती है। उर्दू–हिंदी दोनों प्रकार के उपन्यासों में यह सांस्कृतिक अंतर्द्वंद्व प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप में व्याप्त है।''[21]

'परीक्षागुरू' के 'मदनमोहन' जैसा ही चरित्र 'सौ अजान एक सुजान' के हीराचंद के पोतों का है। सेठ हीराचंद के दोनों पोते 'ऋद्धिनाथ' और 'निधिनाथ', 'मदनमोहन' की तरह ही विलासप्रिय है। उन्हें भी सजावटी सामान एकत्र करने का शौक है। उनके चापलूस उन्हें इन्हीं कामों के लिए बहलाते हैं। ''इन सजावटों के लिए लाख पचास

हजार रूपए आपके लिए क्या हकीकत है। मैं हाल में लखनऊ गया था, एस.बी. कंपनी की दुकान पर शीशेआलात, वगैरह का नया चालान आया है, मैं समझता हूँ आपके कमरों की सजावट के लिए पंद्रह बीस हजार के शीशे काफी होंगे।'' बाबू साहब इन धूर्तों की चापलूसी पर फूल उठते थे। जिसने जो कुछ कहा तत्काल उसे मंजूर कर लेते हैं। आठ बार नौ तेवहार लगे ही रहते थे। दिन बाग बगीचों की सैर यार दोस्तों के मेल मुलाकात में बीतता था, रात नाच रंग और जियाफतों की धूमधाम में कटने लगी। दिल्ली, आगरा, बनारस, पटना के नामी तायफे सदा के लिए अनंतपुर में बुलाकर टिका लिए गए। अपने घर का सब काम काज देखना भालना तो बहुत दूर रहा बड़े बाबू साहब को हुंडी पुरजों पर दस्तखत करना भी निहायत नागवार होता था। मुनीम और गुमाश्तों की बन पड़ी।''[22] अगर हम उपन्यास का शीर्षक हटा दे ंतो यह उद्धरण 'परीक्षागुरू' का ही लगेगा। 'ऋद्धिनाथ', 'निधिनाथ' और 'मदनमोहन' का चरित्र एक जैसा है। इस कड़ी में हम 'गुलेनार' उपन्यास के 'बनवारीलाल' को भी शामिल कर सकते हैं। इन सारे पात्रों के पास बाप–दादा की अकूत संपत्ति है परंतु इनके पास 'विवेक' नहीं है। ये हमेशा चापलूसों से घिरे रहते हैं। अपने हिसाब–किताब से बेखबर रहते हैं, जिस कारण इन्हें आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ता है।

'सौ अजान एक सुजान' और 'परीक्षागुरू', 'कुसंगति का दुष्प्रभाव' बताने वाले उपन्यास हैं। 'परीक्षागुरू' में मदनमोहन के अधिकांश मित्र धूर्त हैं। वे मदनमोहन को न सिर्फ गलत सलाह देते हैं बल्कि उसके रूपए में से अपनी जेब भी भरते हैं। 'सौ अजान एक सुजान' में भी नंदू, बुद्धदास, बसंता, हकीम साहब जैसे 'खलपात्र' दोनों युवकों को घेरे रहते हैं। दोनों उपन्यास बतलाना चाहते हैं कि रईस और धनवान युवक के पास यदि 'स्वविवेक' न हो तो वे, चापलूसों से घिर कर अपनी संपत्ति बर्बाद कर बैठते हैं।

'परीक्षागुरू' में 'ब्रजकिशोर' जिस तरह बार–बार मदनमोहन को उपदेश और सीख देता है उसी प्रकार 'सौ अजान एक सुजान' में 'चंदू' दोनों युवकों को 'सीख' देता है।

उपन्यास का आठवां प्रस्ताव ऐसे ही उपदेश और नीति कथन से भरा पड़ा है। 'ऋद्धिनाथ' और 'निधिनाथ' को समझाते हुए चंदू कहता है – ''बाबू, तुम समझते हो सदा दिन ही रहेगा रात कभी होगी ही नहीं। बड़े सेठ साहब कितनी मेहनत और उद्योग से तुम्हारे लिए कुबेर की सी संपदा कर गए हैं, तुम्हारी सपूती इसी में है कि तुम उसे बनाए रहो। तुम कहोगे यह जात का दरिद्र ब्राह्मण अमीरी की कदर जाने क्या। पर मैं कहता हूँ वह अमीरी किस काम की जिससे पीछे फकीरी झेलनी पड़े। सच है :

धनवंतों के घर द्वार।
सब सुख आवैं बारम्बार।।
जिसके होवै पैसा हाथ।
उसका देवैं सब कोई साथ।।
उद्योगी के घर पर अड़ी।
लक्ष्मी झूमै खड़ी खड़ी।।''[23]

इन दोनों उपन्यासों में पुरानी पीढ़ी के लोगों का भी वर्णन किया गया है। परीक्षागुरू के प्रकरण 24 में उपन्यासकार ने 'मदनमोहन' के पिता का जिक्र किया है। 'सौ अजान एक सुजान' में उपन्यासकार ने ऋद्धिनाथ और निधिनाथ' के दादा और पिता का जिक्र किया है। उपन्यासकारों ने नई पीढ़ी की तुलना में पुरानी पीढ़ी को ज्यादा मेहनती, कुशल और समझदार दर्शाया है। 'मदनमोहन' के पिता का जिक्र करते हुए उपन्यासकार कहता है – ''मदनमोहन का पिता पुरानी चाल का आदमी था। वह अपना बूतादेखकर काम करता था और जो करता था वह कहता नहीं फिरता था। उस्नें केवल हिंदी पढ़ी थी।... वह कुछ तकलीफ सै नहीं रहता था परंतु लोगों की झूँठी भड़क दिखानें के लिए फिजूलखर्ची भी नहीं करता था। उस्की सवारी मैं नागोरी बैलों का एक सुशोभित तांगा था, और वह खासे मलमल सै बढ़कर कभी वस्त्र नहीं पहनता था। वह अपनें स्थान को झाड़ पोंछकर स्वच्छ रखता था परंतु झाड़फूस आदि को फिजूलखर्ची मैं

समझता था। उसके मकान और दुकानपर बहुत थोड़े आदमी नोकर थे परंतु हरेक मनुष्य का काम बटा रहता था, इसलिए बड़ी सुगमता सै सब काम अपनें, अपनें समय होता चला जाता था।''[24] 'सौ अजान एक सुजान' का सेठ हीराचंद भी मदनमोहन के पिता की तरह व्यापार में कुशल है और फिजूलखर्ची से घृणा करता है। इस पूरी प्रक्रिया पर टिप्पणी करते हुए ज्ञानचंद जैन कहते हैं – ''बदलते सामाजिक मूल्यों को रेखांकित करने के लिए उपन्यास में नए ढंग के रईसों के साथ पुराने ढंग के रईसों का भी चित्रण किया गया है। लेखक ने दिखाया है कि देश में अंग्रेजी हुकूमत की जड़ें मजबूत होने से पहले हमारे यहाँ ऐसे अनेक धनी सेठ थे जो व्यापारिक बुद्धि, सूझबूझ तथा संगठन कुशलता में ईस्ट इंडिया कंपनी के अंग्रेज सौदागरों के कान काटते थे।''[25]

परीक्षागुरू (1882) और 'सौ अजान एक सुजान' (1906 में प्रकाशित) उच्च मध्यवर्ग के भ्रष्ट युवक की कथा कहने के साथ–साथ तात्कालिक समाज पर भी टिप्पणी करते हैं। दोनों उपन्यासों का मूल भाव यही है कि विपत्ति से गुजरकर ही आदमी को सही गलत की पहचान होती है। 'परीक्षागुरू' का मदनमोहन हवालात की हवा खाता है तो 'सौ अजान एक सुजान' के ऋद्विनाथ और निधिनाथ जेल जाते–जाते बचते हैं।

स्त्री केंद्रित उपन्यासों में उपन्यासकार स्त्री को 'घर के भीतर' कुशल बनाना चाहते थे, वहीं इन उपन्यासों में उपन्यासकार युवकों को 'बाहरी दुनिया में कुशल व्यवहार' की शिक्षा दे रहे थे।

'परीक्षागुरू' का मदनमोहन अगर अपनी पैतृक संपत्ति को बेहिसाब तरीके से खर्च कर रहा था तो 'मिर्जा हादी रुस्वा' के उपन्यास 'शरीफजादा' का नायक 'मिर्जा आबिद हुसैन' अपनी मेहनत से एक–एक पैसा जोड़ रहा था। 'मिर्जा आबिद हुसैन' जब 'मिडिल क्लास' में थे तो उनके पिता गुजर गए। कुछ समय बाद माँ की भी मौत हो गई। आमदनी का कोई जरिया नहीं था। घर में पहले की कोई जायजाद नहीं थी। ''घर में एक खुद हैं, एक बीवी, एक लड़का कोई तीन बरस का, एक लड़की छह माह महीने की

गोद में। अभी तक सूरते–रोजगार नहीं और न कहीं से उम्मीद है। मगर इस्तकलाल यह है कि अभी तक पढ़े जाते हैं। इम्तिहान के छह महीने और बाकी हैं किसी तरह हो, अबकी जरूर पास होना चाहिए। आखिर कुछ न बन पड़ा। एक फत्तू कुंजड़ा रहता था। मकान उसके पास सौ रूपए पर गिरवी रखा, रहन–बा कब्जा था। खुद महमूद नगर के नाले पर एक कच्चा–सा मकान एक रूपया माहवार किराया पर लेकर रहने लगे। खैर इम्तिहान के जमाने तक के लिए इत्मिनान हो गया। जी तोड़ मेहनत की। खुदा–खुदा करके पास भी हो गए। अब नौकरी की तलाश है।''[26] इन विपरीत परिस्थितियों में भी मिर्जा आबिद हुसैन हौसला नहीं हारता। वह बच्चों को ट्यूशन पढ़ाता है। इंजीनियर बनने के लिए परीक्षा देता है। एक–एक पैसा सोच समझकर खर्च करता है और अंततः वह सफल आदमी बनता है।

'शरीफजादा' उपन्यास एक अनाथ और गरीब नौजवान के तरक्की की कहानी है। लेखक दिखाना चाहता है कि विपरीत परिस्थितियों में रहते हुए भी हम सफलता प्राप्त कर सकते हैं। इस पूरी यात्रा में मिर्जा आबिद हुसैन की पत्नी का चरित्र भी प्रेरणा देने वाला है। उसका पति बच्चों को ट्यूशन पढ़ाता है तो वह टोपी बनाकर बेचती है। वह सीने–पिरोने के हुनर को रोजगार से जोड़ती है। अपने पति को हौसला देते हुए कहती है ''पाँच रूपए बहुत होते हैं। खुदा ने चाहा तो अब फाका न होगा। मेरी टोपी भी अब रूपए को जाने लगी है। महीने में चार टोपी अगर तयार होगीं तो चार रूपए कहीं नहीं गए हैं। तुम अपना दिल मजबूत रखो।''[27] एक तरफ 'उपदेशात्मक उपन्यासों' में धन की फिजूलखर्ची से बचने की सलाह दी जा रही थी वहीं 'शरीफजादा' जैसे 'यथार्थवादी उपन्यास' एक–एक पैसे को सहजने की और मेहनत करने की शिक्षा दे रहे थे। 'सौ अजान एक सुजान' में सेठ हीराचंद के बेटे बाप–दादा की अकूत संपत्ति को लुटाते हैं, वहीं 'शरीफजादा' में 'मिर्जा आबिद हुसैन' मेहनत का एक–एक पैसा जोड़कर रईस बन जाता है। यह उपन्यास 'परिश्रम का फल मीठा होता है' जैसे नीति कथन की याद दिलाता है। हालाँकि उपन्यासकार कहीं भी नीति कथन का प्रयोग नहीं करता।

'परीक्षागुरू' में 'ब्रजकिशोर' जैसे चरित्रों के माध्यम से उपन्यासकार 'उपदेश' देता है पर 'शरीफजादा' में 'मिर्जा आबिद हुसैन' का जीवन ही पाठकों को संदेश देता है। उपन्यास के अंत में लेखक कहता है "'मिर्जा आबिद हुसैन' का तरीका–ए–जिंदगी बिल्कुल अनोखा है। हमने किसी शख्स को जो ओसत दरजे का हो, इतनी मेहनत करते नहीं देखा। मेहनत करने को इतना तत्पर कोई हिंदुस्तानी हमारी नजर से नहीं गुजरा।''[28]

मध्यवर्गीय जीवन और यथार्थवाद के संदर्भ में 'भुवनेश्वर मिश्र' के दो उपन्यास अत्यंत ही महत्वपूर्ण हैं। 'घराऊ घटना' और 'बलवंत भूमिहार'। ''भुवनेश्वर मिश्र कृत 'घराऊ घटना' उपन्यास का प्रथम पुस्तकाकार प्रकाशन सन् 1893 में हुआ था। इसके पूर्व कलकत्ता से प्रकाशित हिंदी साप्ताहिक पत्र 'हिंदी बंगवासी' में इसके कतिपय अंश छपे थे।... 'घराऊ घटना' उपन्यास में हिंदी उपन्यास साहित्य के इतिहास में सबसे पहली बार संस्कारबद्ध हिंदू परिवार के चित्र मार्मिक अनुभूतियों और गहरी विश्वसनीयता के साथ आए हैं।... शास्त्रीय दृष्टि से 'घराऊ घटना' दुःखांत या सुखांत उपन्यास नहीं है। इस उपन्यास में सुखांत या दुःखांत होने का अवसर ही नहीं है। 'घराऊ घटना' में जीवन है – अनुभूत जीवन, भोगा हुआ जीवन, भोगा हुआ यथार्थ भी।''[29]

'घराऊ घटना' करीब 63 पृष्ठों का उपन्यास है। लेखक ने उपन्यास को दो खंडों में विभाजित किया है। उपन्यास में मुख्यतः दो ही पात्र हैं। नायक का नाम है झगडूलाल और उसकी पत्नी का नाम है चमेली। यह उपन्यास मूलतः घरेलू घटनाओं का 'कोलाज' है। पढ़ने पर लगता है कि यह डायरी शैली में लिखी गईं कृति है। उपन्यासकार घरेलू घटनाओं का ब्यौरेवार वर्णन करता है। पूरे उपन्यास में कोई विशेष घटना या कथानक नहीं है। फिर भी इस उपन्यास का खासा महत्व है। 1893 से लेकर 1908 तक इसके चार संस्करण छप चुके थे, जो उस काल में इसकी लोकप्रियता को सिद्ध करते हैं।

उपन्यास में हास्य–व्यंग्य के कई प्रसंग हैं। ''लेखक अपने को कथानक से एकाकार करके उसके अंतरंग घरेलू जीवन का कच्चा चिट्ठा आपबीती के रूप में

प्रस्तुत करता है। आरंभ गौने की पहली रात के वर्णन से किया गया है। इसके बाद प्रतिदिन के घरेलू जीवन के विविध प्रसंगों–यथा गौने के महीने–भर बाद पहली बरसाइत, साल भर बाद पत्नी की नैहर यात्रा, गौने के चार बरस बाद भी बच्चे का जन्म न होने पर जादू–टोना, पहले बच्चे के जन्म पर उत्सव, गंगा स्नान के अवसर पर छोटी साली का आगमन, पत्नी के रूष्ट हो जाने पर उसे मनाने के लिए गोटादार चुनरी ला देने का करार तथा तीजव्रत जैसी घरेलू घटनाओं में आधार पर कथा का विस्तार किया गया है।''[30] इतना सब होने पर भी इसमें 'औपन्यासिक तत्वों' का अभाव है। इसमें 'कथा तत्व' कम है, रोजमर्रा के जीवन की छोटी–छोटी घटनाएँ ज्यादा हैं, मेरे मत से यह उपन्यास कम किसी 'गृहस्थ दंपत्ति का रोजनामचा' ज्यादा है। हालाँकि ज्ञानचंद जैन का कहना है ''मैं इतना ही कह सकता हूँ कि आँचलिकता का रंग लिए हुए, 1890 के दशक में लिखा और एक सामान्य मध्यवर्गीय परिवार के घरेलू जीवन का इतना सजीव और यथार्थवादी चित्रण करनेवाला कोई दूसरा उपन्यास मुझे प्रेमचंद के पूर्व के लिखे उपन्यासों में नजर नहीं आया।''[31]

भुवनेश्वर मिश्र का दूसरा उपन्यास 'बलवंत भूमिहार' न सिर्फ 'घराऊ घटना' से ज्यादा बेहतर है बल्कि इसमें 'कथा–तत्व' भी ज्यादा है। यह भी एक यथार्थवादी उपन्यास है। ''सन् 1896 में लिखित 'बलवंत भूमिहार' को उसके तीखे यथार्थ के कारण कोई प्रकाशक नहीं मिल सका। अंततः इसका प्रकाशन सन् 1901 में सुप्रसिद्ध उपन्यासकार देवकीनंदन खत्री ने लहरी प्रेस, लाहौरी टोला, बनारस से किया। जब 'बलवंत भूमिहार' उपन्यास का प्रकाशन हुआ तो मुजफ्फरपुर जिले के जमींदारों ने उपन्यास की सभी प्रतियों को खरीदकर उन्हें गंगा में विसर्जित कर दिया। यह सन् 1901 की घटना है। सौभाग्यवश मुझे उक्त पुस्तक की एक सुरक्षित प्रति कहीं मिल गई।''[32]

'बलवंत भूमिहार' मुजफ्फरपुर जिले (बिहार) के दो भूमिहार जमींदार परिवारों के पुश्तैनी संघर्ष की कहानी है। इस कहानी के सामानांतर ही बलवंत और यमुना की प्रेम

कहानी भी चलती है। उपन्यास की भूमिका में लेखक ने लिखा है ''बिहार प्रदेश के उत्तरी भाग के जमींदारों की संख्या में अधिक लोग भूमिहार जाति के पाए जाते हैं... इसकी कथा आज से प्रायः तीस वर्ष पूर्व की सी दी गई है, पर जैसा चरित्र भूमिहारों का इसमें लिखा गया है, प्रायः वैसा ही चरित्र उन लोगों का आज तक है। मैंने उस चरित्र में दोषारोपण नहीं किया है।''[33]

उपन्यास के लिए सबसे महत्वपूर्ण तत्वों में से एक है 'यथार्थ के प्रति आग्रह' और लेखक की 'निष्पक्ष दृष्टि'। 'बलवंत भूमिहार' में ये दोनों तत्व प्रचुरता से मौजूद हैं। तकरीबन 111 पृष्ठों के इस उपन्यास में तत्कालीन समाज गहराई से व्यक्त हुआ है। उपन्यास में पात्रों और घटनाओं की बहुलता है। उपन्यास 15 अध्यायों में विभाजित है, हर अध्याय में एक नई घटना है। कई जगह लेखक ने कौतूहलपूर्ण शैली अपनाई है, जिसे पढ़ते हुए देवकीनंदन खत्री की याद आती है। कई प्रसंगों में भुवनेश्वर मिश्र, खत्री जी तरह कौतूहलपूर्ण वातावरण रचते हैं। एक चित्र देखिए –

''जाओ, तुरंत कपड़े पहिन आओ और इस आदमी को अपने साथ ले अभी पिछवाड़े की राह निकलकर पूरब तरफ जाओ। झखरा टोले के इधर पीपल के बड़ पेड़ के नीचे तुम्हें दो घोड़े मिलेंगे, तुम दोनों उनपर सवार हो लेना और बराबर सतबलपुर चले जाना। तुम्हारे मामा तुम्हारी राह देखते होंगे। उनके हाथ इस आदमी को सौंपकर तुम लौट आना, लेकिन देखना कि रास्ते में यह आदमी न भागने पावे और न तुम्हारा व तुम्हारे मामा का नाम–पता जानने पावे, क्योंकि यह नहीं जानता है कि तुम कौन हो, यह घर किसका है और तुम इसे कहाँ ले जाओगे। और खबरदार! सिवाय मेरे तुम्हारे और तुम्हारे मामा के यह भेद कोई आदमी नहीं जानने पावे। समझते हो।''[34] उपन्यास में पुस्तैनी दुश्मनी का अंत बलवंत और यमुना के विवाह से होता है। उपन्यास का अंत सुखांत है।

हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यास सिर्फ उपदेशात्मक नहीं हैं। जिस काल में लेखक सुधारवाद और उपदेशात्मक शैली में उपन्यास लिख रहे थे, उसी काल में

यथार्थवादी शैली के भी उपन्यास लिखे गए। 'समाज सुधार' के लिए लिखे जा रहे उपन्यासों के समानांतर ही सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने वाले उपन्यास भी लिखे गए। इन यथार्थवादी उपन्यासों में कोई 'उपदेश' या 'सीख' देने की प्रवृत्ति नहीं थी, इन्होंने तात्कालिक समाज का चित्र भर प्रस्तुत कर दिया है। 'उमराव जान अदा', 'शरीफजादा', 'बलवंत भूमिहार', 'घराऊ घटना' जैसे उपन्यासों में 'परीक्षागुरू', 'भाग्यवती', 'मिरातुल उरूस', 'वामा शिक्षक', 'इब्नुलवक्त' आदि उपन्यासों की तरह बीच–बीच में कोई 'नीति कथन' नहीं है।

संदर्भ

1 लाला श्रीनिवासदास : परीक्षागुरू, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 57
2 मिर्जा हादी रुस्वा : शरीफजादा (अनुवाद–संपादन : डॉ. कृष्णदेव झारी), लिट्रेसी हाऊस, महरौली, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ. 31
3 लाला श्रीनिवासदास : परीक्षागुरू, पूर्वोक्त, पृ. 6
4 वही, पृ. 155
5 नामवर सिंह : प्रेमचंद और भारतीय समाज (संपादक : आशीष त्रिपाठी), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, मार्च 2011, पृ. 47
6 ज्ञानचंद जैन : प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास, पूर्वोक्त, पृ. 92
7 वही, पृ. 93
8 वही, पृ. 92 और 94
9 वैभव सिंह : भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पूर्वोक्त, पृ. 33
10 नामवर सिंह : प्रेमचंद और भारतीय समाज, पूर्वोक्त, पृ. 7
11 वैभव सिंह : भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पूर्वोक्त, पृ. 33
12 ज्ञानचंद जैन : प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास, पूर्वोक्त, पृ. 94
13 डिप्टी नजीर अहमद : इब्नुलवक्त, कौमी कॉन्सिल बराए–फरोग उर्दू जबान, नई दिल्ली 1973, पृ. 112
14 लाला श्रीनिवासदास : परीक्षागुरू, पूर्वोक्त, पृ. 8
15 वही, पृ. 8
16 डिप्टी नजीर अहमद : इब्नुलवक्त, पूर्वोक्त, पृ. 73
17 वही, पृ. 34
18 डॉ. अशफाक मुहम्मद खान : नजीर अहमद के नॉवेल, तन्कीदी मुताल्ला, उत्तर प्रदेश, उर्दू अकादमी, लखनऊ, 2007, पृ. 120
19 लाला श्रीनिवासदास : परीक्षागुरू, पूर्वोक्त, पृ. 43
20 हैदर अली : हिंदी–उर्दू के प्रारंभिक उपन्यासों में सुधारवादी चेतना, ज्योतिपर्व प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2016, पृ. 117
21 वही, पृ. 167–168
22 बालकृष्ण भट्ट : सौ अजान एक सुजान (संपादक : मधुरेश), यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012, पृ. 36–37
23 वही, पृ. 48
24 लाला श्रीनिवासदास : परीक्षागुरू, पूर्वोक्त, पृ. 101–102
25 ज्ञानचंद जैन : प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास, पूर्वोक्त, पृ. 143
26 मिर्जा हादी रुस्वा : शरीफजादा, पूर्वोक्त, पृ. 6
27 वही, पृ. 16
28 वही, पृ. 104
29 भुवनेश्वर मिश्र : घराऊ घटना (प्रस्तुति : रामनिरंजन परिमलेंदु) विद्या विहार, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृ. 6
30 ज्ञानचंद जैन : प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास, पूर्वोक्त, पृ. 246
31 वही, पृ. 253
32 भुवनेश्वर मिश्र : बलवंत भूमिहार (प्रस्तुति : रामनिरंजन परिमलेंदु) विद्या विहार, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृ. 8 (प्राक्कथन से उद्धृत)
33 वही, पृ. 16
34 वही, पृ. 47

पंचम अध्याय

हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों का शिल्पगत अध्ययन

5.1 औपन्यासिक संरचना, कथा–विन्यास एवं शिल्प

5.2 प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ एवं भाषा शैली

5.1 औपन्यासिक संरचना, कथा–विन्यास एवं शिल्प

''एक उपन्यास के बारे में कुछ भी उपयोगी हम तब तक नहीं कह सकते, जब तक हम इसके बनने के प्रश्नों पर तेजी से नहीं पहुँचते और इनकी किसी उद्देश्य हेतु छानबीन नहीं करते।''[1]

– पर्सी लबॉक

उपन्यास मूलतः आधुनिक युग की विधा है। आधुनिकता और यथार्थवाद इसे रोमांस तथा आख्यान से अलग करते हैं। हालाँकि कुछ कृतियाँ आख्यानमूलक और रोमांसधर्मी होने के बावजूद 'उपन्यास' के पद को पूरा करती हैं। उपन्यास का अध्ययन उसके शिल्पगत अध्ययन के बिना अधूरा है। किसी उपन्यास की औपन्यासिक संरचना और उसके शिल्प का अध्ययन सिर्फ उसके बाहरी ढाँचे का अध्ययन नहीं होता। यह अध्ययन दिखाता है कि किन ऐतिहासिक परिस्थितियों में एक विशिष्ट शैली की रचना संभव हुई। किसी भी रचना को गहराई से समझने के लिए हमें उसके रूप और अंतर्वस्तु पर भी विचार करना होगा। रचना के परिप्रेक्ष्य में रूप और अंतर्वस्तु का महत्व बनाते हुए लूसिएँ गोल्डमान ने कहा था कि, साहित्य को समझने हेतु 'फॉर्म ऑफ कंटेंट' का विश्लेषण होना चाहिए। लूसिएँ गोल्डमान की इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह कहते हैं ''यह फार्म ऑफ कंटेंट क्या है? ध्यान रखना होगा कि उन्होंने (गोल्डमान) यह नहीं कहा कि कंटेंट की जगह 'फार्म' की एनालिसिस करनी चाहिए। 'फार्म ऑफ दि कंटेंट' कहा है, क्योंकि अंतर्वस्तु एक निश्चित रूप विधान में व्यक्त होती है। फॉर्म का अर्थ वहाँ है कि प्रत्येक साहित्यिक कृति कुछ मानसिक सारणियों और कोटियों में व्यक्त होती है, जिन्हें 'मेंटल कैटगरीज' कहते हैं। 'मेंटल कैटगरीज' या मानसिक सारणियाँ किसी साहित्यिक कृति के रचना विधान का निर्माण करती हैं, आर्गेनाइज करती हैं, उसको संगठित करती हैं। कोई उपन्यास हो या नाटक हो अथवा कोई प्रबंध

काव्य हो, तो उस प्रबंध काव्य का एक निश्चित आदि, मध्य और अंत होता है उसकी बनावट की संरचना होती है।... संरचना और बनावट के नियम हैं, का मतलब छंद विधान और अलंकार मुख्य नहीं है, बल्कि इस बनावट में एक निश्चित जीवन–दृष्टि होती है। जीवन–दृष्टि के अनुसार हम पूरा विधान करते हैं।''[2]

'भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद' विषयक व्याख्यान में नामवर सिंह ने इस बात पर जोर दिया है कि यूरोप में लम्बे–लम्बे कथात्मक प्रबंध गद्य लिखे गए परंतु सबको 'नॉवेल' नहीं माना गया। हेनरी जेम्स ने लियो तोल्सतोय की विश्व प्रसिद्ध कृति 'वार एण्ड पीस' तथा 'अन्ना केरेनिना' को भी 'नॉवेल' मानने से इन्कार कर दिया। वस्तुतः उपन्यास का उदय सिर्फ मध्यवर्ग से जुड़ा हुआ नहीं है, बल्कि इसके साथ कुछ मूल्य भी जुड़े हुए हैं। उनमें से प्रमुख हैं व्यक्तिवाद और यथार्थवाद। अपनी मान्यता को पुष्ट करने के लिए नामवर सिंह, जार्ज लुकाच की पुस्तक 'थ्योरी ऑफ नॉवेल' (रचनाकाल 1911) का हवाला देते हुए कहते हैं – ''उन्होंने (लुकाच) कहा कि नॉवेल एक विशेष प्रकार का रूप विधान है, जिसकी आत्मा और निर्धारक तत्व है। Probiematic Hero अर्थात समस्याग्रस्त नायक। मैं फिर कहूँगा कि 'हीरो' शब्द का पर्याय हमारा 'नायक' शब्द नहीं है।... समस्याग्रस्त नायक ऐसा पुरुष है जिसकी अपने समाज से अनबन हो, जिसको पूरा अहसास हो कि उसके आस–पास का पूरा समाज भ्रष्ट है, मूल्यहीन है। ऐसे भ्रष्ट और मूल्यहीन समाज में अपने अकेलेपन के गहरे अहसास के साथ वह वांछित मूल्यों और आदर्शों के लिए छटपटाता है। जिस कृति में यह मिले वह उपन्यास है न मिले वह उपन्यास नहीं है। इस दृष्टि से लुकाच ने स्टेंडिल, फ्लाबेयर, दोस्त्योवस्की और तोल्सतोय के उपन्यासों को चुना तो दूसरी ओर बहुत सारे उपन्यास इस कसौटी पर खरे नहीं उतरे।''[3] नामवर सिंह के अपने इस कथन में लुकाच के मत से सहमति

दिखाते हैं परंतु 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और भारतीय उपन्यास' नामक निबंध में वे 'परीक्षागुरू' के मुकाबले बंकिमचंद्र की 'कपालकुंडला' को श्रेष्ठ घोषित करते हैं। नामवर सिंह 'रोमांस' पर बल देते हुए (बंकिमचंद्र के उपन्यासों के संदर्भ में) भारतीय उपन्यास के लिए 'कादम्बरी' संज्ञा स्वीकारने की वकालत करते हैं। जाहिर है 'कादम्बरी' में वे सब विशेषताएँ नहीं पाई जाती, जिनकी तरफ जार्ज लुकाच ने इशारा किया था। उपन्यास की संरचना और शिल्प पर बात करना उपन्यास की सैद्धांतिक बहसों से टकराना है, परंतु इन्हें नजरअंदाज करना और भी नुकसानदेह होगा।

उपन्यास के लिए 'यथार्थ' को काफी महत्वपूर्ण माना गया है। ऑयन वॉट ने अपनी पुस्तक 'उपन्यास का उदय' में यथार्थवाद को उपन्यास के लिए आवश्यक तत्व मानते हुए लिखा है – ''उपन्यास में यथार्थ विशिष्ट रूप में मात्र दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं, अपितु यथार्थवाद की सामान्य मनःस्थिति, अन्वेषण की विधा तथा समस्याओं को प्रस्तुत करने का ढंग है।''[4]

भारत में जब उपन्यास का उदय हुआ तो भारतीय समाज का यथार्थ पश्चिम के यथार्थ से अलग था। पश्चिम में पूँजीवाद और औद्योगिकीकरण के कारण मध्यवर्ग अस्तित्व में आ चुका था। इन्हीं कारणों से हमारे आरंभिक उपन्यासों की अंतर्वस्तु और शिल्प में पश्चिम से भिन्नता है। मैनेजर पाण्डेय का मानना है ''यूरोप में उपन्यास का उदय जिन स्थितियों में हुआ था उनके ठीक विपरीत परिस्थितियाँ यहाँ मौजूद थीं। भारत में न तो औद्योगीकरण हुआ था और न मध्यवर्ग विकसित हुआ था। यहाँ जो नाम मात्र का औद्योगीकरण हो रहा था वह भारतीय समाज के स्वाभाविक विकास का परिणाम न था। वह साम्राज्यवाद की लूट के लिए फैले व्यापार और बाजार का एक हिस्सा था। उपनिवेशवाद ने भारतीय सामंतवाद के मूल ढाँचे को बनाए रखा और उसके

साथ एक नए किस्म का सामंतवाद भारतीय समाज पर थोप दिया।... उपनिवेशवादी व्यवस्था में यहाँ जो मध्यवर्ग पैदा हुआ था, उसका चरित्र यूरोप के मध्यवर्ग से बहुत भिन्न था।... भारत में जिस मध्यवर्ग का विकास हुआ था उसकी मूल्य–चेतना दुविधाग्रस्त थी। उसमें एक ओर परम्परा बनाम आधुनिकता का द्वंद्व था तो दूसरी ओर आधुनिकता के नाम पर भ्रामक आधुनिकता की ओर झुकाव भी था। संभवतः यही कारण है कि आरंभिक उपन्यासों में कहीं भारतीय और पश्चिमी मूल्यों का द्वंद्व मिलता है तो कहीं सतही आधुनिकता के नाम पर पश्चिमी मूल्यों की नकल मिलती है। शायद इसीलिए उपन्यासों को उस समय चरित्र बिगाड़ने वाला माना जाता था। फिर भी लोग चोरी–छिपे उपन्यास पढ़ते ही थे।''[5]

हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों में गैर–यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी शिल्प दोनों का प्रयोग हुआ है। हर उपन्यासकार ने औपन्यासिक संरचना के हिसाब से इन शिल्पों का प्रयोग किया है। हिंदुस्तान आख्यानों और कथा–कहानियों का देश है। एक ओर कथासरित्सागर, पंचतंत्र, सिंहासन बत्तीसी और बेताल पचीसी की परम्परा है तो दूसरी ओर किस्सागोई और दास्तान की। जाहिर है सदियों से चली आ रही इन 'शैलियों' का प्रभाव आरंभिक उपन्यासों पर पड़ना ही था।

आरंभिक हिंदी उपन्यासों में जिन उपन्यासकारों ने गैर–यथार्थवादी शिल्प का प्रयोग किया उनमें प्रमुख हैं ठाकुर जगमोहन सिंह और देवकीनंदन खत्री। उर्दू में रतननाथ सरशार की कृति 'फसाना–ए–आजाद' (प्रकाशन 1880) में गैर–यथार्थवादी शिल्प है। यह उपन्यास के बजाए दास्तान की याद दिलाती है।

हिंदी के आरंभिक उपन्यासों में 'श्यामा स्वप्न' पूर्णतः गैर–यथार्थवादी शिल्प की रचना है। यह पश्चिमी परम्परा के अनुसार लिखे जा रहे उपन्यासों

से पूर्णतः भिन्न है। इसकी शैली प्राचीन भारतीय आख्यानों की याद दिलाती है। इसके शिल्प पर विचार करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने बहुत ही प्रशंसात्मक टिप्पणी की है। वे लिखते हैं – ''अपने हृदय पर अंकित भारतीय ग्राम्य जीवन के माधुर्य का जो संस्कार ठाकुर साहब ने अपने 'श्यामा स्वप्न' में व्यक्त किया है, उसकी सरसता निराली है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के रुचि, संस्कार के साथ भारतभूमि की प्यारी रूपरेखा को मन में बसाने वाले वे पहले हिंदी लेखक थे।''[6] इसके साथ ही आचार्य शुक्ल ने 'श्यामा स्वप्न' की भाषा को अत्यंत ही सरस और काव्यात्मक माना है। ''कवियों के पुराने प्यार की बोली में देश की दृश्यावली को सामने रखने का मूक समर्थन तो इन्होंने किया ही है।''[7]

'श्यामा स्वप्न' स्वप्न में निर्मित कथा है। नायक रात्रि के चार प्रहर में चार विभिन्न प्रकार के स्वप्न देखता है। वस्तुतः ये चारों स्वप्न मिलकर ही 'श्यामा स्वप्न' उपन्यास की रचना करते हैं अशोक वाजपेयी ने इसके शिल्प को फैंटेसी के नजदीक माना है। उनका मानना है कि 'श्यामा स्वप्न' 'हिंदुस्तान की जातीय परंपरा के अनुकूल लिखा गया उपन्यास है।'

'श्यामा स्वप्न' की भाषा कई जगह तुकांत गद्य के रूप में है। लेखक गद्य में कविता की सी शैली अपनाता है। 'श्यामा स्वप्न' के प्रथम याम के स्वप्न का प्रारंभ कुछ इस शैली में होता है – ''आज भोर यदि तमचोर के रोर से जो निकट की खोर ही में जोर से शोर किया नींद न खुल जाती तो न जाने क्या–क्या वस्तु देखने में आती। इतने ही में किसी महात्मा ने ऐसी परभाती गाई कि फिर वह आकाश सम्पत्ति हाथ न आई। वाह रे ईश्वर! तेरे सरीखा जंजालिया कोई जलिया भी न निकलैगा। तेरे रूप और गुण दोनों वर्णन के

बाहर हैं। आज क्या–क्या तमाशे दिखलाए। यह सोचना तो व्यर्थ था क्योंकि प्रतिदिन इस संसार में तू तमाशा दिखलाता ही है। कोई सिर पीट रहा है कोई जीवाशा में भूला है, कोई मिथ्याशा ही कर रहा है, कोई किसी के नैन के चैन का प्यासा है और जल विहीन दीन मीन के सदृश तलफ रहा है – बस। इन सब बातों का क्या प्रयोजन। जो कहना है आरंभ करता हूँ। आज का स्वप्न ऐसा विचित्र है कि यदि उसका चित्र लिख लिया जाए तौ भी भला लगै। कल्ह संध्या को ऐसी बदली छाई कि मेरे सिर में पीड़ा आई।''[8] इन पंक्तियों को पढ़ते हुए लगता है जैसे हम अनुप्रास अलंकार से युक्त तुकांत गद्य पढ़ रहे हों। 'श्यामा स्वप्न' की भाषा पर विचार करते हुए 'ठाकुर जगमोहन सिंह समग्र' के संपादक रमेश अनुपम कहते हैं – ''उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जिस खड़ी बोली को भारतेंदु हरिश्चंद्र एक नया रूपाकार प्रदान करने का प्रयत्न कर रहे थे, उस खड़ी बोली में ब्रजभाषा का प्रभाव भी था और रीतिकालीन श्रृंगारिकता का भी। पर खड़ी बोली का अपना रूप माधुर्य भी कुछ कम नहीं था। ठाकुर जगमोहन सिंह मूलतः कवि थे। उनकी भाषा काव्यात्मक भाषा थी। संस्कृतगर्भित तत्सम भाषा और ब्रजभाषा के मेल से वे जिस काव्यात्मक भाषा को 'श्यामा स्वप्न' में रच रहे थे, वह लयप्रधान चित्रात्मक भाषा थी। ठाकुर जगमोहन सिंह काव्यशास्त्र में निपुण थे। अलंकारें का सधा हुआ प्रयोग करना वे जानते थे। 'श्यामा स्वप्न' के प्रथम याम के स्वप्न का प्रारंभ वे जिस भाषा में करते हैं, उसमें यमक अलंकार तथा अनुप्रास अलंकार का सुंदर निरूपण करना वे नहीं भूलते हैं। मेर, तमचोर, रोर, खोर, सोर, जंजालिया, जालिया अनुप्रास अलंकार के ही सुंदर उदाहरण है।''[9] तकरीबन 130 पृष्ठों के 'श्यामा स्वप्न' का जितना हिस्सा गद्य का है उतना ही हिस्सा पद्य का भी है। लेखक ने जगह–जगह पर दोहा, छप्पै, लावनी, कुंडलिया आदि का प्रयोग किया है।

कहीं–कहीं तो दो–तीन पृष्ठों में कविता के माध्यम से प्रकृति का वर्णन किया गया है –

''यह सुन श्यामा अपनी बहिन और बृंदा के साथ उठी और इसी पर्वत की कंदरा में बैठी। यह कंदरा बड़ी विचित्र थी मानौ विश्वकर्मा ने स्वयं श्यामा के बैठने को बनाया था। नाना प्रकार के पक्षी गान करते थे। मत्त हँस सारस पपीहा कोइल इत्यादि पक्षी नीचे बहती हुई चित्रोत्पला में नहाते और कलोल करते। प्रकृति का उद्यान यहीं था। बस–

साल ताल हिंताल तमालन बंजुल धवा पुनागा
चम्पक नाग विटप जहँ फूले कर्निकार रस पागा।
कंचन गुच्छ विचित्र सुच्छ जहँ किसलै लाल लखाहीं।
लताभार सुकुमार चमेलिन पाटल विलग सजाहीं।
तरुण अरुण सम हेम विभूषित दूषित नहीं कोउ भाँति।
वेदी लसत विदूर फटिकमय सलिल तीर लास पाँती।
जहँ पुरैन के हरित पात बिच पंकज पाँति सुहाई।
मनु पन्नन के पत्र पत्र पे कनक सुमन छवि छाई।
नील पीत जलजात पात पर विहंग मधुर सुर बोलैं।
मधुकर माधवि मदन मत्त मन मैं न अछर से डोलैं।
हरिचंदन चंदन ललाम मय पीत नीच वन वासै।
स्यंदन विविध वदन जगवंदन सुखकंदन दुख नासै।''[10]

गैर यथार्थवादी शिल्प का उपन्यास होने के कारण 'श्यामा स्वप्न' के पात्र भी 'यथार्थवादी' नहीं लगते। ''इस कथा के पात्र स्वप्न के अयथार्थ व्यक्ति हैं, जिनके जीवन में केवल रंगीनी और भोग–विलास की प्रधानता है। ये पात्र मध्यकालीन प्रेमाख्यानकों की छाया–मूर्तियाँ हैं, इनका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं।... लेखक का मूल उद्देश्य प्रकृति और नारी सौंदर्य का परंपरागत वर्णन तथा श्रृंगार रस का सांगोपांग चित्रण है। लगता है लेखक के सामने अपने पाठक वर्ग के रूप में प्राचीन काव्य रसिक है। कथा तथा वर्णनों के बीच–बीच

में रीतिकालीन कविताएँ भी उद्धृत की गई हैं, जो इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक बनती हैं। नवीनता की दृष्टि से उल्लेख्य बात केवल यह है कि इसमें अंतरजातीय प्रेम और विवाह का प्रतिपादन किया गया है।''[11]

आरंभिक हिंदी उपन्यासों पर अगर आख्यानों का प्रभाव था तो उर्दू उपन्यासों पर दास्तानगोई का। रतननाथ सरशार कृत 'फसाना–ए–आजाद' मे दास्तानगोई में प्रचुर तत्व हैं। 'फसाना–ए–आजाद' चार खंडों में फैली एक वृहद कथा है, जिसमें तकरीबन तीन हजार पृष्ठ हैं। 'फसाना–ए–आजाद' का ढाँचा 'दास्तान' के काफी निकट है। इसमें 'दास्तान' की तरह ही सुसंगत कथानक का अभाव है। 'उपन्यास' में छोटी–छोटी कई कहानियों की श्रृंखला है। जिस तरह उर्दू 'दास्तान' के नायक कठिन परिस्थितियों पर भी आसानी से विजय पा लेते हैं, उसी प्रकार 'आजाद' का चरित्र है। उर्दू प्रसिद्ध दास्तान 'दास्तान अमीर हमजा' का प्रभाव, 'फसाना–ए–आजाद' पर देखा जा सकता है। अमीर हमजा के साथी उमर ऐयार की तरह 'आजाद' का भी एक साथी है –'खोजी'। दास्तानों में जिस प्रकार तुक प्रधान आलंकारिक गद्य का प्रयोग किया जाता है 'फसाना–ए–आजाद' की भाषा लगभग वैसी ही है। 'फसाना–ए–आजाद' को दास्तान परंपरा से जोड़ते हुए 'The Novel In India' पुस्तक में Ralph Russell लिखते हैं – ''Azad, its hero is typical, two, dimensional dastan hero-handsome, brave, intelligent, talented, a great lover and a great champion of the right. There is the same absence of plot, the same endless succession of loosely connected episodes, the same pattern of innumerable difficulties, triumphantly surmounted, and the same black and white tendentiousness. … Finally there is a marked resemblance even in style and language, for sarshar is almost as fond of

rhyming prose as the dastan writers were. Thus it would not be hard to defend the statement that the Tale of Azad is in the direct line of descent from the dastan.''[12]

दास्तान परंपरा का प्रभाव होने के बावजूद 'फसाना–ए–आजाद' में कई चीजें हैं जो उसे उपन्यास के निकट ले जाती है। उपन्यास उन अतिलौकिक और अप्राकृतिक घटनाओं से मुक्त है जो दास्तान में पाई जाती है। 'फसाना–ए–आजाद' में तात्कालिक समाज का वृहद चित्रण हुआ है। इसमें अंग्रेजी राम और मुस्लिम समाज का विस्तार से वर्णन किया गया है। इन्हीं कारणों से '' 'आजाद कथा' में आधुनिक यथार्थवादी लेखन की अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जो दास्तान पंरपरा में नहीं थी। इस प्रकार दास्तान परंपरा की कृति होने पर भी 'आजाद कथा' में अनेक ऐसी बातें हैं जो उसे 'उपन्यास' के निकट ले आती है।''[13]

'गैर–यथार्थवादी शिल्प' के समानांतर 'यथार्थवादी शिल्प' से युक्त उपन्यासों की भी रचना हुई। यथार्थवाद के अनुसार रचनाकार को जीवन के विभिन्न पहलूओं को निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखना चाहिए। हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों का आरंभ नवजागरण और समाज सुधार के दौर में हुआ। इस कारण इनके यथार्थवाद पर उपदेशात्मकता और समाज सुधार का प्रभाव है।

हिंदी और उर्दू के यथार्थवादी उपन्यासों को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। पहली श्रेणी में वैसे उपन्यास हैं जिनमें 'उपदेशात्मक तत्वों' की प्रधानता है। ऐसे उपन्यासों में 'परीक्षागुरू', 'भाग्यवती', 'वामा शिक्षक', 'सौ अजान एक सुजान', 'मिरातुल ऊरूस', 'इब्नुलवक्त' आदि शामिल हैं। दूसरी

श्रेणी के उपन्यासों में यथार्थवाद तात्कालिक समाज को अभिव्यक्त करता है। इनमें 'उमराव जान अदा', 'शरीफजादा', 'बलवंत भूमिहार', 'घटाऊ घटना' आदि महत्वपूर्ण हैं।

आरंभिक दौर के कई उपन्यासों की रचना एक विशेष प्रकार के उद्देश्य से की गई थी। इनका एक विशेष पाठक वर्ग भी था। पढ़े–लिखे मध्यवर्ग को आधार बनाकर इन उपन्यासों की रचना की गई। अपनी पुस्तक 'रियलिज़्म एण्ड रियलिटी' में मीनाक्षी मुखर्जी का मानना है कि 'यदि अंग्रेजी पढ़े–लिखे वर्ग के बीच उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ सामाजिक रूपांतरण नहीं हुए होते तो शायद भारत में उपन्यास अपने यथार्थपरक रूप में जड़ें नहीं जमा पाता।'[14]

हिंदी के आरंभिक उपन्यासकार अपने शिल्प के प्रति काफी सजग थे। उन्हें पता था कि 'उपन्यास' एक नवीन विधा है, इस कारण वे अपने पाठकों को 'उपन्यास कैसे पढ़े' जैसे विषय पर भी संबोधित कर रहे थे। 'परीक्षागुरू' (1882) की भूमिका में लाला श्रीनिवास दास लिखते हैं – ''अब तक नागरी और उर्दू भाषा मैं अनेक तरह की अच्छी–अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं, परंतु मेरे जान इस रीति से कोई नहीं लिखी गई, इसलिए अपनी भाषा मैं यह नई चालकी पुस्तक होगी।... यह सच है कि नई चाल की चीज देखनेंको सबका जी ललचाता है परंतु पुरानी रीतिके मनमैं समाये रहने और नई रीतिको मन लगाकर समझनेंमें थोड़ी मेहनत होनेसै पहले, पहल पढ़नेवाले का जी कुछ उलझने लगता है और मन उछट जाता है इस्सै उसका हाल समझमैं आनेंके लिए मैं अपनी तरफसे कुछ खुलासा किया चाहता हूँ।''[15] 'परीक्षागुरू' का रचनाकार इस बात को लेकर आशंकित है कि पाठक उपन्यास को किस प्रकार ग्रहण करेंगे। जाहिर है तब हिंदी में उपन्यास विधा का आरंभ ही हो रहा था। इसी कारण अपनी भूमिका में श्रीनिवासदास नाटक और उपन्यास में पाए जाने

वाले अंतरों की भी चर्चा करते हैं। ''अलबत्ता किसी नाटक मैं यह रीति पहलैसै पाई जाती है परंतु उस्की इस्की लिखनेकी रीति जुदी, जुदी है नाटकोंमैं जिसका वचन होता है उसका नाम आदिमैं लिख देते हैं और वह पैराग्राफ उस्का बचन समझा जाता है। परंतु इस्मैं ऐसा नहीं होता इस्मैं ऐसा ('' '') चिन्ह (अर्थात् इन्वरटेडकोमा या कुटेशन) के भीतर कहनेंवाले का वचन लिखा जाता है।''[16] अपने इस वक्तव्य में श्रीनिवासदास यह भी बताते हैं कि 'पैराग्राफ' किसे कहते हैं। जिस समय परीक्षागुरू की रचना हो रही थी उस समय का पाठक इन्वरटेडकोमा, पैराग्राफ, सेमीकॉलन और पूर्णविराम के प्रयोग से अनभिज्ञ था। जाहिर है हिंदी के पाठकों के लिए उपन्यास एक 'नई चाल की चीज' थी। ऐसे में आरंभिक उपन्यासों में पश्चिमी उपन्यासों की तरह का यथार्थवाद खोजना उचित नहीं।

यह अकारण नहीं है कि 'परीक्षागुरू' में जगह–जगह उपदेशों और नीति कथनों की भरमार है। प्रकरण 6 में लाला ब्रजकिशोर एक ही साँस में वाल्मीकि रामायण, विष्णु पुराण, रघुवंश, चाणक्य नीति, कुरान आदि से उपदेश दे देता है। पुस्तक में जितने 'नीति कथन' और प्रेरक प्रसंग हैं, उनसे एक छोटी किताब बन सकती है। उपन्यास के सारे उपदेशात्मक कथन लाला ब्रजकिशोर द्वारा कहे गए हैं। ऐसा लगता है उपन्यासकार ने ब्रजकिशोर को माध्यम बनाकर अपनी बात कही है।

उपदेशात्मक प्रवृत्ति का होने के बावजूद 'परीक्षागुरू' तात्कालिक समय और समाज से जुड़ता है। लेखक विज्ञान का उदाहरण देकर बताता है कि अच्छे आदमी और बुरे आदमी का फर्क कोयला और हीरे की तरह होता है। ''आपने सुना होगा कि हीरा और कोयला दोनों मैं कार्बोन है और उन्के बन्नें की रसायनिक क्रिया भी एक सी है और दोनों मैं कार्बोन रहता है केवल इतना

अंतर है हीरे में निरा कार्बोन जमा रहता है और कोयले मैं उस्की कोई खास सूरत नहीं होती जो कार्बोन जमा हुआ, दृढ़ रहनें सै बहुत कठोर, स्वच्छ, स्वेत और चमकदार होकर हीरा कहलाता है वही कार्बोन परमाणुओं में फैल फुट और उलट पुलट होनें के कारण काला, झिर्झिरा, बोदा और एक सूरत में रहकर कोयला कहलाता है। येही भेद अच्छे मनुष्यों मैं और अच्छी प्रकृतिवाले सावधान मनुष्यों मैं है।''[17] उपन्यासकार ने बहुत ही कुशलता से विज्ञान की नई–नई जानकारियों को कथानक में फिट कर दिया है। 'परीक्षागुरू' में 'विष्णुपुराण' के उद्धरण हैं तो विज्ञान से जुड़े भी कई उदाहरण है। उपन्यासकार 'परंपरा' और 'आधुनिकता' दोनों के मेल से उपन्यास की रचना कर रहा था।

'परीक्षागुरू' के कथा–विन्यास पर संस्कृत नाटकों का हल्का प्रभाव दिखता है। हर प्रकरण के आरंभ में प्रेरक नीति कथन कहे गए हैं। लाला ब्रजकिशोर के माध्यम से उपन्यासकार अपने विचारों को व्यक्त करता है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि हिंदी में जब उपन्यास का उदय हो रहा तब यहाँ विशाल पाठक वर्ग नहीं था। शिक्षा भी नाम मात्र की ही थी। लेखक प्राचीन कथा पद्धति के सहारे यथार्थवादी रचना कर रहे थे। गोपाल राय अपनी पुस्तक 'उपन्यास की संरचना' में लिखते हैं ''उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक में लिखित कथाओं में 'यथार्थवाद' का प्रवेश अनजाने रूप में ही हो गया। भारतीय नवजागरण के प्रच्छन्न दबाव में कथा का विषय अचानक समकालीन जीवन का सच हो गया पर कथा की संरचना मौखिक कथाओं की ही रही। उसमें इतना बदलाव आया कि कथा में दिक्–काल और भाषा यथार्थ के निकट आ गई।''[18]

आरंभिक उर्दू उपन्यासों में 'मिरातुल उरुस' की शैली और शिल्प 'वामा शिक्षक' तथा 'भाग्यवती' के निकट है। इन तीनों उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य स्त्री शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालना है। कथा रैखिय गति के आगे बढ़ती है। पात्रों के चरित्र में भी कोई द्वंद्व नहीं है। सारे पात्र अच्छे या बुरे की श्रेणियों में विभाजित हैं। 'अच्छे पात्रों' का महत्व बताने के लिए 'बुरे पात्रों' की रचना की गई है। इन 'बुरे पात्रों' की पृष्ठभूमि में 'अच्छे पात्रों' की खूबियाँ निखरकर सामने आती है। इन यथार्थवादी उपन्यासों में उपदेशात्मकता का गहरा पुट है। कहीं–कहीं उपदेश इतने लम्बें हो गए हैं कि वे कथा की स्वाभाविक गति में बाधा उत्पन्न करते हैं।

आरंभिक उर्दू उपन्यासों में 'मिर्जा हादी रुस्वा' की कृति 'उमराव जान अदा' अपनी औपन्यासिक संरचना से पाठकों को चमत्कृत करती है। इसे हम ठोस यथार्थवादी उपन्यास भी कह सकते हैं। उपन्यासकार ने भूमिका में ही साफ किया है कि वह न सिर्फ उमराव जान को जानता है बल्कि उमराव ने स्वयं उसे अपनी कहानी सुनाई है। उपन्यास का कथा–विन्यास और शिल्प आज भी किसी अच्छे उपन्यास को चुनौती दे सकता है। 'परीक्षागुरू' और 'भाग्यवती' में आने वाले दोहे नीति कथन हैं और कथा के स्वाभाविक विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं। 'उमराव जान' में बीच–बीच में शेर और गज़ल का प्रयोग किया गया है पर ये स्वाभाविक लगते हैं। कथा के विकास में बाधक नहीं बनते, बल्कि कई जगह इनके द्वारा कथानक बहुत ही संक्षेप में मार्मिकता के साथ व्यक्त हो जाता है। 'उमराव जान' उपन्यास के आरंभ में कहती है –

''किसको सुनाएँ हाले–दिलेजार ऐ 'अदा'
आवारगी में हमने जमाने की सैर की।''[19]

वहीं अंत में अपने जीवन का लिखा हुआ हाल देखकर वह कहती हैं –

''न पूछो नामा–ए–आमाल की दिलावेजी
तमाम उम्र का किस्सा लिखा हुआ आया।''[20]

उपन्यास का अंतिम शेर जैसे पूरे उपन्यास का निचोड़ हैं एक भले घर की स्त्री का वेश्या बनना और घुट–घुट कर जीवन काटना जैसे मार्मिक भावों का सटीक अभिव्यक्ति इस शेर द्वारा हुई है –

''मरने के दिन करीब हैं शायद कि ऐ हयात
तुझसे तबीयत अपनी बहुत सीर हो गई।''[21]

(ऐ ज़िदगी, तुझसे अपनी तबीयत बहुत भ़र गई अब मरने के दिन नज़दीक हैं।)

उमराव जान 'अदा' में उपन्यासकार अपनी तरफ से कोई उपदेश नहीं देता। ना ही वह प्रेमचन्द के सेवासदन (बाद की रचना) की तरह वेश्या जीवन के हल का कोई आदर्शवादी ढाँचा प्रस्तुत करता है। वह हमारे सामने यथार्थ का एक जीता–जागता चित्र रख देता है। उपन्यास में 'फ्लैश बैक पद्धति' शिल्प का प्रयोग किया गया है। लखनऊ की बोली और संस्कृति का सटीक चित्रण हुआ है। फिराक गोरखपुरी का मानना है कि ''उनकी (मिर्जा हादी रुस्वा) मानव स्वभाव के अंदर बड़ी पैठ थी और मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में उनके उपन्यासों का दर्जा बड़ा ऊँचा है। उनके चरित्र समाज के प्रत्येक वर्ग के होते हैं और मानव स्वभाव के अच्छे–बुरे सारे पहलू वे पूर्ण समन्वय के साथ दिखा जाते हैं। उन्होंने 'उमराव जान अदा' में पहली बार एक वेश्या को मानवीय गुणों से परिपूर्ण दर्शाया है और इस उपन्यास की मानवीय अपील गज़ब की है।''[22]

उर्दू के आरंभिक उपन्यासकार नजीर अहमद के उपन्यास यथार्थवादी शैली के हैं। उनके उपन्यास 'मिरातुल उरूस' को पढ़ते हुए स्त्री केंद्रित आरंभिक हिंदी उपन्यासों की याद आती है। हालाँकि 'मिरातुल उरूस' में 'वामा शिक्षक' और 'भाग्यवती' के मुकाबले उपदेशात्मकता का तत्व बहुत ही कम है। फिर भी कई जगह कुरान, हदीस और शिष्टाचार की बातों का उल्लेख है। नजीर अहमद की भाषा शैली तत्कालीन समाज का परिचय देती है। 'मिरातुल उरूस' में कई जगह उपदेशात्मक तत्व हैं पर यह रतननाथ सरशार के 'फसाना–ए–आजाद' की तरह दास्तानगोई की परंपरा से नहीं जुड़ती। ''नजीर अहमद के लेखन का दास्तानों तथा उनके कल्पना संसार से कोई संबंध नहीं है। उनकी गद्य शैली भी इस तथ्य को प्रतिपादित करती है। सरशार में तुकपूर्ण गद्य और अतिरंजित वर्णनों के प्रति बहुत अधिक झुकाव है। नजीर अहमद में दास्तान शैली सर्वथा गायब है। उन्होंने सरल बोलचाल के निकट के गद्य का इस्तेमाल किया है, जिसमें साहित्यिक ऊँचाई तक पहुँचने की क्षमता सरशार से अधिक है।... पात्र यथार्थपूर्ण ढंग से चित्रित किए गए हैं। उनके अनेक पात्र स्वतंत्र ढंग से स्वाभाविक रूप से विकसित होते दिखाई पड़ते हैं।''[23]

संदर्भ

1 पर्सी लवॉक : दि क्राफ्ट ऑफ फिक्शन, बी.आई पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1979, पृ. 272

2 नामवर सिंह : आलोचना और विचारधारा (संपादक : आशीश त्रिपाठी), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 63–64

3 नामवर सिंह : प्रेमचंद और भारतीय समाज (संपादक : आशीश त्रिपाठी), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली दूसरी आवृत्ति, मार्च 2011, पृ. 56–57

4 ऑयन वॉट : उपन्यास का उदय (अनुवादक : धर्मपाल सरीन), हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1990, पृ. 6

5 मैनेजर पाण्डेय : उपन्यास और लोकतंत्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013, पृ. 78–80

6 रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2013, पृ. 325

7 वही, पृ. 326

8 रमेश अनुपम : ठाकुर जगमोहन सिंह समग्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2014, पृ. 31

9 वहीं, पृ. 18

10 वहीं, पृ. 121–122

11 सत्यकाम : भारतीय उपन्यास की दिशाएँ, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012, पृ. 60–61

12 T.W. Clark: The Novel in India, page 110

13 सत्यकाम : भारतीय उपन्यास की दिशाएँ, पूर्वोक्त, पृ. 35

14 मीनाक्षी मुखर्जी : रियलिज्म एण्ड रियलिटी : दि नॉवेल एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2005, पृ. 99–100

15 लाला श्रीनिवासदास : परीक्षागुरू, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 5

16 वहीं, पृ. 5

17 वहीं, पृ. 31–32

18 गोपाल राय : उपन्यास की संरचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 61

19 मिर्जा हादी रुस्वा : उमराव जान 'अदा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2012, पृ. 7

20 वहीं, पृ. 90

21 वहीं, पृ. 96

22 फिराक गोरखपुरी : उर्दू भाषा और साहित्य, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, तृतीय संस्करण 2004, पृ. 194

23 सत्यकाम : भारतीय उपन्यास की दिशाएँ, पूर्वोवत, पृ. 35

5.2 प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ एवं भाषा शैली

''जवान होने के बाद ऐशो–आराम में पड़ गई। उस जमाने में गा–बजाके मर्दों को रिझााना मेरा पेशा था। इसमें औरों के मुकाबले मुझे जितनी कामयाबी मिलती थी, उतनी ही मैं खुश होती थी, जहाँ कामयाबी नहीं होती थी, रंज होता था। मेरी सूरत दूसरों की बनिस्बत कुछ अच्छी न थी, मगर गाने और शेरो–शायरी के शौक की वजह से मैं सबसे बढ़ी–चढ़ी रही। अपनी उम्रवालों में मुझे ज्यादा बड़ा दर्जा मिला हुआ था। इसका नतीजा यह हुआ कि जितनी मेरी इज्जत बढ़ती, मैं अपनी निगाहों में खुद को इज्जतदार समझने लगी।''[1]

– उमराव जान 'अदा' उपन्यास में उमराव का स्वकथन

''पंडितानी ने कहा, सहस्त्रनाम गीता तो आप उससे (भाग्यवती से) सुन ही चुके हैं पर उसे पीछे मैंने उसका भाषा व्याकरण, ऋजुपाठ, हितोपदेश और शिक्षा–मंजरी पढ़ाई और अ बवह भूगोल नामक ग्रंथ पढ़ रही है और फिर मेरी इच्छा है कि थोड़ी–सी गणित विद्या पढ़ा के पीछे से आत्मचिकित्सा का आरंभ करा दूँगी क्योंकि उसके पढ़ने से प्राणी को लोक–परलोक दोनों भाँति के व्यवहार प्रतीत हो जाते हैं और गृहस्थ धर्म और मनुष्य धर्म को सर्व प्रकार से जान लेता है।

पंडित जी ने पूछा, भाग्यवती को तुमने कुछ सीना–पिरोना और भोजन बनाना आदि व्यवहार भी सिखाए हैं वा नहीं?

पंडितानी बोली, हाँ! ये व्यवहार तो मैं उसे साथ–ही–साथ सिखाती रही हूँ।''[2]

– भाग्यवती उपन्यास का एक अंश

हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों के कई चरित्र आज भी हमारा पीछा करते हैं। नवजागरण और समाज सुधार के दौर में लिखे गए इन उपन्यासों में प्रगतिशील तत्वों के साथ–साथ पारंपरिक तत्व भी हैं। आधुनिकता और परंपरा का सांस्कृतिक द्वंद्व भी कई उपन्यासों में दिखता है। ऐसे में अगर हम इन उपन्यासों के प्रमुख पात्रों का अध्ययन करें, तो हमारे कई तथ्य स्पष्ट होंगे। हिंदुस्तान में मध्यवर्ग के उदय के साथ ही उपन्यास का उदय हुआ। उपन्यासों के प्रमुख पात्रों का अध्ययन करके हम इस मध्यवर्ग की आकांक्षा–आशा से परिचित हो सकते हैं। ''ज्ञानचंद जैन ने ठीक ही संकेत किया है कि इस नव–प्रस्फुटित मध्यवर्ग के प्रमुख घटकों में ब्राह्मण, बनिया और कायस्थ थीं। हिंदी उपन्यास के एकदम शुरू में ये लेखक इस ओर भी पर्याप्त सजग दिखाई देते हैं कि अपने समय और समाज के अंकन के लिए

उस जाति विशेष के समाज को ही केंद्र में रखकर चलें, स्वयं जिसका हिस्सा होने के नाते जिससे वे अच्छी और पूरी तरह परिचित थे। पंडित गौरीदत्त और पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी ने ब्राह्मण होने के नाते अपने समाज को चुना तो लाला श्रीनिवास ने बनिया होने के सबब से 'परीक्षागुरू' में अपने इस समाज को ही आधार बनाया। इसी प्रकार 'वामा शिक्षक' के लेखकों ने कायस्थ समाज को केंद्र में रखकर अपने उपन्यास की रचना की। इससे उस क्षेत्र और समाज विशेष के रीति–रिवाज, रहन–सहन, विचार और जीवन–पद्धति, तीज–त्यौहार, विभिन्न संस्कार और खास तौर से भाषा की अर्थछवियों–ध्वनियों एवं उच्चारण आदि की स्वाभाविकता पर जोर दिया गया।''[3]

हिंदी उपन्यासों की तरह आरंभिक उर्दू उपन्यासकार भी उन पात्रों को ही अपने उपन्यास का नायक बना रहे थे, जिन्हें वे व्यक्तिगत स्तर पर जानते हो। 'उमराव जान अदा' की भूमिका में 'मिर्जा हादी रुस्वा' स्पष्ट कर चुके हैं कि वे उमराव जान को व्यक्तिगत तौर पर जानते हैं। इसी तरह 'शरीफजादा' उपन्यास के नायक 'मिर्जा आबिद हुसैन' से भी वे परिचित थे। उपन्यास के अंत में वे लिखते हैं ''हम इस किताब के साथ उनका फोटो भी जरूर प्रकाशित करते मगर इसकी हमें इजाजत नहीं है। लेकिन हम इस मौके पर उनकी आकृति का एक शब्दचित्र खींचे देते हैं।''[4] जिस तरह मिर्जा हादी 'शरीफजादा' की कहानी लिखकर प्रकाशित करवाते हैं, उसी तरह 'परीक्षागुरू' का मदनमोहन भी अपनी भूल और मूर्खता की कहानी 'जनहित' में प्रकाशित करवाना चाहता है ताकि दूसरों को जीवन से शिक्षा मिले। वह कहता है ''मेरी मूर्खता सै मुझपर जो दुख पड़ना चाहिए था पड़ चुका अब अपना झूँटा बचाव करने सै कुछ फायदा नहीं मालूम होता। मैं चाहता हूँ कि सब लोगों के हित निमित्त इन दिनों का सब वृतांत छपवा कर प्रसिद्ध कर दिया जाए लाला मदनमोहन ने कहा।''[5]

आरंभिक उपन्यास यथार्थ की अभिव्यक्ति करने के साथ–साथ कुछ जीवन मूल्यों की भी शिक्षा दे रहे थे। उनके यथार्थवाद पर सुधारवाद और नैतिक उपदेशों की छाया थी। स्त्री केंद्रित उपन्यासों में पढ़ी–लिखी और गृह–कार्यों में कुशल स्त्री की छवि गढ़ी जा रही थी। उच्च–मध्यवर्ग के युवाओं को आधार बनाकर लिखे जा उपन्यासों में सद्आचारण और फिजूलखर्ची से बचने की सलाह दी जा रही थी। इन उपन्यासों के प्रमुख पात्रों का क्रमवार अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

''परीक्षागुरू पुरुष–पात्र प्रधान उपन्यास कहा जा सकता है। उसमें केवल एक ही नारी चरित्र है – मदनमोहन की स्त्री, परंतु उसके चित्रण में लेखक ने वही कुशलता दिखाई है जो अन्य बड़े या छोटे पुरुष पात्रों के चरित्र–चित्रण में। मदनमोहन की स्त्री के रूप में उसने एक सच्ची पतिव्रता हिंदूरमणी का चित्रप्रस्तुत किया है। वह अपने पति की सच्ची प्रीतिमान, शुभचिंतक, दुख–सुख की साथिन और आज्ञाधारिणी थी।''[6]

'परीक्षागुरू' उपन्यास में पात्रों की भरमार है, परंतु सभी पात्र पुरुष ही हैं। 41 प्रकरण के उपन्यास में प्रकरण 21 में पहली बार मदनमोहन की स्त्री के रूप में एकमात्र स्त्री–पात्र का प्रवेश होता है। आधे उपन्यास तक एक भी स्त्री–पात्र नहीं है। यह भी गौरतलब है कि पूरे उपन्यास में लेखक ने कहीं भी मदनमोहन की स्त्री के नाम का उल्लेख नहीं किया है। पाठक को अंत तक पता नहीं चलता कि मदनमोहन की पत्नी का नाम क्या है? लेखक ने हर जगह 'मदनमोहन की स्त्री' पद का प्रयोग किया है।

मदनमोहन और ब्रजकिशोर परीक्षागुरू से प्रमुख पात्र हैं। मदनमोहन का व्यक्तित्व काफी ढीला–ढाला और लुंज–पुंज है। वह हमेशा चापलूस मित्रों से

घिरा रहता है। मदनमोहन पर उसके साथ हावी रहते हैं। वे मदनमोहन को किसी मुद्दे पर बोलने से पहले स्वयं ही बोल पड़ते हैं। ऐसा लगता है कि चापलूसों की ये चौकड़ी चारों ओर से मदनमोहन को घेरे हुए है। मदनमोहन का अपना कोई मत नहीं है, वह हमेशा इनकी हाँ में हाँ मिलाता है। इन्हीं कारणों से उसकी संपत्ति का नुकसान होता है और उसे जेल जाना पड़ता है। प्रकरण 31 में उपन्यासकार ने जो ब्यौरा दिया है, उसका हिसाब करने पर ज्ञात होता है कि मदनमोहन पर 1.28 लाख रूपए का कर्जा है। सन् 1880 के दशक में एक लाख अट्ठाइस हजार की रकम काफी बड़ी राशि थी। उपन्यास के अंत में लाला ब्रजकिशोर मदनमोहन को संकटों से निकालते हैं।

मदनमोहन 'असावधान प्रवृत्ति' का व्यक्ति है, जबकि ब्रजकिशोर 'सजग व सावधान प्रवृत्ति' का व्यक्ति है। उपन्यासकार संदेश देना चाहता है कि असावधान और लापरवाह व्यक्ति की दौलत खत्म होते देर नहीं लगती। हाँ, अगर उसे ब्रजकिशोर जैसे सजग और बुद्धिमान मित्र का साथ मिले तो उसका जीवन संभल सकता है। ''लेखक ने लाला ब्रजकिशोर को बहुत कुछ उस ढंग का ऊँचे नैतिक मानदंडवाला वकील दिखाया है जिस ढंग से कुछ दशक बाद मोहनदास कर्मचंद गांधी ने विलायत से बैरिस्टरी पास करके स्वदेश वापस लौटने पर वकालत शुरू की। वह अपनी तरफ के मुकदमें वालों का झूठा पक्षपात नहीं करते थे। बहुधा अन्याय से सताए हुए गरीबों के मुकदमें में मेहनताना लिए बिना पैरवी करते थे।... लाला ब्रजकिशोर यद्यपि नए सुधरे विचारों के पक्षधर थे तथापि पुरानी–पुरानी सब बातों को बुरी और नई–नई सब बातों को अच्छी नहीं मानते थे। वह अपनी धरती से जुड़े थे।... लाला ब्रजकिशोर नवधनिक लाला मदनमोहन को समझाते हैं कि सच्ची सज्जनता क्या होती है।''[7]

'परीक्षागुरू' की भाषा शैली अपने समय का प्रतिनिधित्व करती है। 1880 के आस–पास जो हिंदी बन रही थी, उपन्यास में इसका प्रमाण मिलता है। उपन्यास में कई ऐसे शब्द हैं, जिनका प्रयोग आज हम उस रूप में नहीं करते। मैं उदाहरण के लिए 'परीक्षागुरू' से कुछ वैसे शब्दों की सूची दे रहा हूँ। इन शब्दों को देखकर हम जान सकते हैं, कि 1880 के दशक में आज के शब्द किस प्रकार लिखे जाते थे –

उपन्यास में प्रयुक्त शब्द	**आज की स्थिति में उनका प्रयोग**
1. सक्ता	सकता
2. उस्सै	उससे
3. फाशन	फैशन
4. उन्के	उनके
5. रूपे	रूपए
6. हाँ (उनके हाँ)	यहाँ
7. उन्का	उनका
8. मच्छी	मछली
9. जिस्पर	जिस पर
10. उस्ने	उसने
11. सुन्ते	सुनते
12. सै	से
13. बन्ती	बनती
14. इस्सै	इससे
15. इस्समय	इस समय

16. जान्ती	जानती
17. धर्म्म	धर्म
18. उन्की	उनकी
19. पीछै	पीछे
20. पतिब्रता	पतिव्रता

'परीक्षागुरू' की भाषा में कई जगह चित्रात्मकता भी है। लेखक ने जहाँ–जहाँ प्रकृति का वर्णन किया, वहाँ ऐसा लगता है जैसे हम आँखों से दृश्य देख रहे हो। एक दृश्य देखिए–

''आह! वहाँ की शोभाका क्या पूछना है? आमके मौर की सुगंधी सै सब अमरैयैं महक रही है। उन्की लहलही लताओं पर बैठकर कोयल कुहुकती रहती है। घनघोर वृक्षों की घटासी छटा देखकर मोर नाचा करते हैं। नीचै झरना झरता है ऊपर बेल और लताओं के मिलनें सै तरह, तरह की रमणीक कुँजै और लता मंडप बन गए हैं। रंग, रंग के फूलों की बहार जुदी ही मनकों लुभाती है। फूलों पर मदमाते भौरों की गुँजार और भी आनन्द बढ़ाती है। शीतल मंद सुगधिंत हवा सै मन अपने आप खिल जाता है निर्मल सरोवरों के बीच बारहदरी में बैठकर चद्दर और फुआरों की शोभा देखने सै जी कैसा हरा हो जाता है?''[8]

जिन आरंभिक हिंदी उपन्यासों में पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है उनमें प्रमुख है भुवनेश्वर मिश्र का घराऊ घटना। उपन्यास में बंगाली पात्र की भाषा है – ''पोंडितजी मोहाशोय। आमरा देश में ऐक रकम का साप होते हैं ओशका काटने से आदमी ताड़ा ताड़ी मोर जाता है।''[9] वहीं उपन्यास में दाई अपनी देशी बोली बोलती है –

डेवढ़ी पर पहुँचने पर दाई बोली, ''हे दैयो! बौआ ठाढ़ बारन।''[10]

दाई बोली, ''दुलहिन बरी पकावलिन आ गिरवर बौआ के माय कोहड़क तरकारी भूँजलिन।''[11]

'घराऊ घटना' में उपन्यासकार ने एक दंपत्ति के रोजमर्रा के जीवन का चित्रण किया है। पति–पत्नी में होने वाली तकरार का बड़ा ही यथार्थपूर्ण चित्र उकेरा है –

''आँगन में जाते ही देखा कि ओसारे के एक खंभे से सटी मेरी श्रीमती बैठी है। पर श्रीमति की सूरत ही बदली थी। कपड़ा बहुत ही मैला, सिर के बाल बिखरे, बदन में कोई जेवर नहीं, हाथों में सिर्फ एक–एक चूरी और नाक–भौं–आँख सबके सब गोस्से से तम–तम करते हुए थे। जिस समय मेरा पैर आँगन में पड़ा उस समय वह दरवाजे ही की ओर मुँह किए, बैठी थी, परंतु मेरी सूरत देखते ही वह घिरनी की तरह घूमकर मेरी तरफ पीठ करके बैठी रही। मैंने समझ लिया गोस्सा शांत नहीं हुआ है, आज भर पेट अन्न मिल सके तो गनीमत हो।''[12] 'घराऊ घटना' की भाषा पर टिप्पणी करते हुए ज्ञानचंद जैन कहते हैं – ''एक अच्छे किस्सागो की भाँति वह जो भी वर्णन करता है, उसका सांगोपांग चित्र खड़ा कर देता है। छोटे से छोटे पात्र अपनी बोली बानी, अपने स्वाभाविक हाव–भाव के साथ मूर्तिमंत हो कर आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। चरित्र–चित्रण में भी लेखक ने अपनी कुशलता का भरपूर परिचय दिया है। भाषा पर आँचलिकता का गहरा प्रभाव है। उसमें धरती की मिट्टी की सोंधी गंध है, तनिक भी कृत्रिमता नहीं है और लोक–प्रचलित कहावतों, मुहावरों और सूझ–बूझ भरी उपमा, उत्प्रेक्षा, तुलना आदि अलंकारों से कसी हुई है।''[13]

हिंदी के तीन आरंभिक उपन्यासों 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामा शिक्षक' और 'भाग्यवती' जो एक साथ पढ़ने पर हमारे सामने 1870–80 से

उत्तर भारत का पारंपरिक समाज उपस्थित हो जाता है। चरित्र–चित्रण और भाषा–शैली के मामले में 'भाग्यवती', 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'वामा शिक्षक' से ज्यादा प्रभावी है। ''चरित्र–चित्रण में, जो उपन्यास विधा की जान होती हो, भाग्यवती पूर्ववर्ती दोनों कथा–पुस्तकों से इक्कीस बैठती है। उसके कथोपकथन में सर्वप्रथम इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर ध्यान दिया गया है कि पात्र विशेष की बोली, उसके बोलने का ढंग, उसके चरित्र–वैशिष्ट्य का परिचायक होता है। इसी के फलस्वरूप उसके लेखक ने पंजाब में लाहौर के निकट एक नगर में रहने वाले पंजाबी खत्री लाला जवाहरमल से पंजाबी बुलवाई है, कुरुक्षेत्र के एक बड़े भारी महंत से, जो एक राजा के गुरू थे, बाँगरी बुलवाई है और पूर्वी कहारों से पूर्वी बोली बुलवाई है। लेखक ने बनियों और पुलिसवालों की बोल–चाल की भाषा का अंतर भी दिखाया है। वैश्य जहाँ उर्दू–मिश्रित भाषा का प्रयोग करता है वहीं पुलिसवाला फारसी–मिश्रित भाषा का। इसके विपरीत पंडित उमादत्त तथा भाग्यवती की भाषा संस्कृत–मिश्रित दिखाई है।''[14]

जिस काल में आरंभिक हिंदी उपन्यासों की रचना हुई उस काल में हिंदी गद्य आकार ले रहा था नवजागरण के दौर का एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी रहा है कि हिंदी गद्य की भाषा कैसी हो? कुछ रचनाकार और विचारक उसे संस्कृत के निकट ले जाना चाहते थे, कुछ अरबी–फारसी के तो कुछ उसे आम जन–जीवन के इसी कारण से "आरंभिक काल की कथा रचनाओं में भाषा की दो परंपराएँ साफ तौर पर दिखाई पड़ती हैं। बोलचाल के गद्य की परंपरा 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामा शिक्षक', 'भाग्यवती', 'सुंदर', 'निस्सहाय हिंदू', 'परीक्षागुरू' आदि में विकसित होती है। इसके समानांतर बालकृष्ण भट्ट, जगमोहन सिंह, किशोरीलाल गोस्वामी आदि के उपन्यासों में संस्कृत गद्यकाव्य

की परंपरा का अनुसरण किया गया है। उपन्यास के लिए इनमें से भाषा का कौन–सा रूप ग्राह्य है, यह अभी स्पष्ट नहीं हुआ था।''[15]

चरित्र–चित्रण और भाषा शैली की दृष्टि से उर्दू उपन्यास 'उमराव जान अदा' महत्वपूर्ण उपन्यास है। एक वेश्या के जीवन का यथार्थवादी चित्रण करके 'मिर्जा हादी रुस्वा' ने उर्दू उपन्यास को व्यापकता प्रदान कर दी। एहतेशाम हुसैन का मानना है कि ''उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'उमराव जान अदा' है, जिसमें एक वेश्या की आत्म–कथा उसी के मुख से बयान की गई है। उस समय तक लोक इस विषय को अपनाते डरते थे, और साहित्य के विशाल और पवित्र–भवन में उसे लाते हुए संकोच होता था।... इस बात पर सभी आलोचक सहमत हैं कि वास्तविकता की दृष्टि से यह उर्दू के महत्वपूर्ण उपन्यासों में है। एक वेश्या के चित्र के पीछे प्रत्येक वर्ग के लोग खड़े दीख पड़ते हैं और वह लखनऊ हमारे सामने आ जाता है, जो 19वीं शताब्दी के अंत में दम तोड़ रहा था।''[16]

'उमराव जान अदा' केवल अमीरन के 'वेश्या उमराव' बनने की कथा नहीं है, बल्कि यह उस सामंती संरचना की कहानी है जिसमें कई अमीरन 'वेश्या' बना दी गई। उपन्यास उस 'गिरोह' का भी पर्दाफ़ाश करता है, जो लड़कियों का अपहरण करके उन्हें देह–व्यापार में धकेल देता है। उपन्यास का एक अंश है –

''पीरबख्श : इसका हमारा जिम्मा। हम तो बेच देंगे। अरे मियाँ, तुम्हारी बातें, पकड़ेगा कौन। लखनऊ में ऐसे मामले दिन–रात हुआ करते हैं हमारे साले को जानते हो?

दिलावर खाँ : करीम?

पीरबख्श : हाँ! उसकी रोटी इसी पर है। बीसियों लड़के–लड़कियाँ पकड़ ले गया, लखनऊ में जाके बेच लिए।

दिलावर खाँ : कितने के बिकते हैं?

पीरबख्श : जैसी सूरत हुई।''[17]

उमराव जान की भाषा मार्मिकता के निकट है। जिसके द्वारा 'स्त्री–त्रासदी' और एक वेश्या के जीवन के मार्मिक पहलूओं का चित्रण हुआ है। कहीं–कहीं हास्यपूर्ण गद्य का भी प्रयोग है – ''कुछ आदमियों की सूरत ऐसी होती है कि अपने–आप हँसने को जी चाहता है जैसे किसी की मुँडी हुई खोपड़ी देखकर हथेली खुजाने लगती है, चपत लगाने को जी चाहता है।''[18]

हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों का फ़लक बहुत व्यापक है। आमतौर पर इन उपन्यासों को सुधारवाद या 'स्त्री शिक्षा' तक सीमित कर दिया जाता है, जबकि यह पूर्णतः सत्य नहीं है। अधिकांश उपन्यासों का मूल स्वर निःसंदेह 'स्त्री शिक्षा' पर जोर देना है, पर क्या इस कारण उन चंद उपन्यासों को नजरअंदाज कर देना चाहिए जो 'यथार्थवाद' का चित्रण कर रहे थे। आरंभिक उपन्यासों के पात्रों को हम '19वीं सदी के दस्तावेज़' के रूप में देख सकते हैं। ये पात्र हमारे अतीत का हिस्सा हैं। ये पात्र हमें अपने जमाने की झाँकी दिखाते हैं। इनके साथ कुछ वक़्त बिताने पर हमारे सामने 19वीं सदी का हिंदुस्तान स्पष्ट हो जाता है।

संदर्भ

1 मिर्जा हादी 'रुस्वा' : उमराव जान 'अदा', पूर्वोक्त, पृ. 91
2 श्रद्धाराम फुल्लौरी : भाग्यवती (संपादन : मधुरेश), पूर्वोक्त, पृ. 28–29
3 वहीं, पृ. 12 (उपन्यास की भूमिका में मधुरेश का कथन)
4 मिर्जा हादी रुस्वा : शरीफजादा, पूर्वोक्त, पृ. 107
5 लाला श्रीनिवासदास : परीक्षागुरू, पूर्वोक्त, पृ. 174–175
6 ज्ञानचंद्र जैन : प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास, पूर्वोक्त, पृ. 109
7 वहीं, पृ. 102 और 105
8 लाला श्रीनिवासदास : परीक्षागुरू, पूर्वोक्त, पृ. 67
9 भुवनेश्वर मिश्र : घराऊ घटना, पूर्वोक्त, पृ. 142
10 वहीं, पृ. 145
11 वहीं, पृ. 198
12 वहीं, पृ. 191
13 ज्ञानचंद जैन : प्रेमचंद पूर्व के हिंदी उपन्यास, पूर्वोक्त, पृ. 246
14 वहीं, पृ. 71
15 गोपाल राय : हिंदी उपन्यास का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ. 67
16 एहतेशाम हुसैन : उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पूर्वोक्त, पृ 207
17 मिर्जा हादी 'रुस्वा', उमराव जान 'अदा', पूर्वोक्त, पृ. 15
18 वही, पृ. 66

उपसंहार

हिंदी और उर्दू के आरंभिक उपन्यासों से गुजरते हुए हमारे सामने 19वीं सदी का भारत स्पष्ट होता है। इन उपन्यासों का उदय नवजागरण के काल में हुआ, जिस कारण इन पर नवजागरण कालीन मूल्यों का गहरा प्रभाव है। भारत में उपन्यास के उदय की चर्चा करते समय अक्सर 'अंग्रेजी ढंग के नॉवेल' की चर्चा की जाती है। यह भी महत्वपूर्ण तथ्य है कि हिंदी और उर्दू के गद्य और इनके उपन्यासों का उदय लगभग एक ही साथ हुआ। यही वह दौर है जब हिंदुस्तान में मध्यवर्ग का उदय हो रहा था। आरंभिक उपन्यासों को पढ़ते हुए हमें इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिए।

वस्तुतः उपन्यास केवल यथार्थ की खोज और उसकी गति की पहचान का आख्यान ही नहीं है, वह नवीन सम्भावनाओं की तलाश का आख्यान भी है। उसमें वर्तमान की सीमाओं के पार जाने की आकांक्षा के कारण एक बेहतर सम्भाविक संसार की रचना की कोशिश भी होती है। इस दृष्टि से देखने पर हिंदी–उर्दू के आरंभिक उपन्यासों के संदर्भ में कुछेक महत्वपूर्ण प्रश्न भी उठते हैं– क्या हिंदी–उर्दू के आरंभिक उपन्यासकार सिर्फ यथार्थ के छवि–चित्र दे रहे थे, उपदेश दे रहे थे या उनके पास भविष्य के समाज का भी कोई नक्शा था। वस्तुतः भारत में उपन्यास का उदय तब हुआ जब वह पराधीन था। भारत की विभिन्न भाषाओं में आरंभ में अंग्रेजी के रहस्य रोमांस, जासूसी और सतही यथार्थवादी उपन्यासों की भरमार थी।

काशीनाथ विश्वनाथ राजवाड़े ने उपन्यास पर सन् 1902 में लिखे अपने प्रसिद्ध निबंध में लिखा है कि भारतीय यथार्थवादी उपन्यासों का मूल स्रोत ही

विदेशी नहीं है बल्कि नमूने के तौर पर जिन उपन्यासों को चुना गया, वे भी वहां के सामान्य स्तर के उपन्यास ही रहे हैं। अंग्रेजी के उपन्यासकारों में हीन स्तर के रोनाल्ड्स के घटिया उपन्यासों का आस्वादन करने वाले माई के लाल अपने यहां अधिक हैं। बहुत हुआ तो कुछ लेखकों ने रोनाल्ड्स से परे छलांग लगाई और मुश्किल से पहुंचे तो हेनरीवुड, लार्ड रीटन जैसे सामान्य लेखकों तक ही। ऐसे में यह स्वाभाविक ही था कि आरंभिक दौर के भारतीय उपन्यासों का स्तर बहुत उंचा न हो। फिर भी इस सन्दर्भ में एक सकारात्मक पहलू यह है कि भारतीय उपन्यास धीरे–धीरे ही सही आधुनिक मूल्यों से अपना सम्बंध स्थापित कर रहे थे। जिन पारम्परिक मूल्यों के बंधनों से उपन्यास जकड़े हुए थे वे बन्धन धीरे–धीरे ढीले हो रहे थे।

हिन्दी और उर्दू के उपन्यासों का आरम्भ 1870 ई॰ के आस–पास हुआ। उस समय हिन्दी में पाठक नहीं के बराबर थे। पुरुषों की साक्षरता दर 11.4÷ और स्त्रियों की 0.5÷ थी। इसके अलावा स्कूली और कॉलेजी शिक्षा में हिन्दी का स्थान नगण्य था। उस समय का पढ़ा–लिखा आदमी अंग्रेजी और उर्दू का जानकार समझा जाता था, हिन्दी का नहीं। हिन्दी गँवारों की भाषा समझी जाती थी। कचहरियों और सरकारी संस्थाओं में अंग्रेजी और उर्दू का एकाधिकार था, अतः हिन्दी पढ़ने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। अधिकतर पढ़े–लिखे लोग नागरी अक्षरों तक की जानकारी नहीं रखते थे। हिन्दी जानने वालों, बोलने वालों का अभाव था। यह हिन्दी का कृष्ण पक्ष था, शुक्ल पक्ष यह था कि बावजूद इन चीजों के बिहार से लेकर पंजाब तक हिन्दी अपने विविध रूपों में जनता की मातृभाषा और व्यवहार भाषा थी। देवकीनंदन खत्री की विशेषता इसी कारण सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि उन्होंने इस विशाल क्षेत्र से भारी संख्या में हिन्दी के 'श्रोताओं' और 'वक्ताओं' को

'पाठकों' में बदल दिया। खत्री जी ने अकारण ही ऐसी कथाओं का निर्माण नहीं किया जिसमें अपढ़ से लेकर खूब पढ़े–लिखे व्यक्तियों तक की समान रूप से रूचि थी। वस्तुतः आरंभिक हिन्दी उपन्यासकारों के सामने दोतरफा चुनौती थी। एक तो उन्हें ऐसी सरल भाषा में कथाएँ लिखनी थी जिसे समझने के लिए किसी विशेष स्कूली ज्ञान की जरूरत न हो, दूसरे उन्हें तत्कालीन पारम्परिक समाज के अहं को भी संतुष्ट करना था, ताकि लोग उपन्यास की किसी बात को पढ़कर नाक–भौं न सिकोड़े। जो लोग आरंभिक हिन्दी उपन्यासों में आधुनिकता के अभाव की चर्चा करते हैं, उन्हें ये ध्यान रखना चाहिए तात्कालीन परिस्थितियों में ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

कई हिन्दी उपन्यासकारों के लिए उपन्यास उनके जातीय अहं की तुष्टि का भी माध्यम बना। ऐतिहासिक रोमांस की परम्परा के उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास तो गौण है ही, कहीं–कहीं उन्होंने इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं को भी बिल्कुल उलट दिया है। उदाहरणार्थः इतिहास ग्रन्थों के अनुसार राजपूत राजाओं ने अपनी कन्याओं का विवाह मुसलमान बादशाहों से किया था। गोस्वामी जी ने इस तथ्य का प्रत्याख्यान किया है। 'हीराबाई वा बेहयाई का बारेका (1904)' में गोस्वामी जी ने सिद्ध किया है कि कमला देवी के नाम पर हीराबाई नाम की मुसलमान युवती अल्लाउद्दीन के पास भेज दी गई और उसका विवाह उससे हो गया। हम समझ सकते हैं कि तत्कालीन समाज में जातीय अहं की तुष्टि का जो सामान्य भाव था, आरंभिक उपन्यासकार उस दबाव से मुक्त नहीं हो पा रहे थे। इसी दबाव के कारण उपन्यास जैसी यथार्थवादी विधा में भी वे आख्यान का तत्व मिला रहे थे। हालांकि मामला इतना निराशाजनक और अंधकारमय भी नहीं है। यही किशोरीलाल गोस्वामी अपने उपन्यास 'स्वर्गीय कुसुम वा

कुसुम कुमारी (1889)' में देवदासी प्रथा और वेश्यागमन की तथा 'चंपला वा नव्य समाज चित्र (1903)' उपन्यास में ज्योतिष सम्बंधी अंधविश्वासों की कटु आलोचना कर रहे थे। यानी एक ही उपन्यासकार एक ही समय में पारम्परिक और आधुनिक दोनों दृष्टियों के साथ चल रहा था। आधुनिकता और यथार्थ के सन्दर्भ में जिस उपन्यासकार का जिक्र हम गंभीरता से कर सकते है– वह हैं भुवनेश्वर मिश्र। उन्होंने दो उपन्यासों की रचना की– 'घराउं घटना (1893)' और 'बलवन्त भूमिहार (1901)'। भुवनेश्वर मिश्र अपने उपन्यास 'बलवन्त भूमिहार' में कौतूहलोत्पादक घटनाओं से रहित कथा के माध्यम से उत्तरी बिहार के जमींदारों के पारिवारिक, सामाजिक तथ्य जमींदारी विषयक परिस्थितियों का यथार्थ और स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत कर रहे थे। दुर्भाग्यवश इन उपन्यासों पर हिन्दी आलोचकों की गंभीर दृष्टि नहीं पड़ी। हिन्दी उपन्यास को यथार्थ से जोड़ने में मेहता लज्जाराम शर्मा ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मेहता जी की भूमिका इस लिहाज से महत्वपूर्ण है कि उन्होंने अपने उपन्यासों को रोचक बनाने के लिए कहीं भी तिलस्मी, ऐयारी और अलौकिक कार्यों का सहारा नहीं लिया। यह दूसरी बात है कि लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरू' की तरह जगह–जगह उपदेश देने का मोह वे नहीं छोड़ पाए हैं।

हिन्दी की तुलना में उर्दू गद्य के विकास की परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल थी। 1837 में उर्दू के अदालती भाषा हो जाने की वजह से हिन्दू भी रोजगार के लिए उर्दू पढ़ने लगे। 1801 ई॰ में मीर अम्मान कृत 'बागोबहार' फोर्ट विलियम कॉलेज के तत्वावधान में प्रकाशित हो चुकी थी और उर्दू गद्य कथा के विकास की दृष्टि से रजब अली बेग 'सरूर' कृत 'फसाना–ए–अजायब' जैसी महत्वपूर्ण कृति कई खण्डों में 1838–1842 तक प्रकाशित हुई।

आरंभिक हिन्दी उपन्यासकार लाला श्रीनिवास दास जिस प्रकार अपने उपन्यास 'परीक्षागुरू' को 'नई चाल की पुस्तक' बता रहे थे वैसा ही कुछ दावा उर्दू उपन्यास में अब्दुल हलीम शरर (1860–1926) भी कर रहे थे। 'शरर' हिन्दी के किशोरीलाल गोस्वामी की तरह ही उर्दू के ऐतिहासिक रोमांस के कथाकार थे। उन्होंने अपनी सभी रचनाओं में जोर देकर 'नई रोशनी' की वकालत की है। अगर हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकार किशोरी लाल गोस्वामी हिदू जाति के अहं को तुष्ट करने वाली कथा का निर्माण कर रहे थे, तो उर्दू में यही काम 'अब्दुल हलीम शरर' कर रहे थे। शरर के समस्त ऐतिहासिक रोमांस प्रधान उपन्यासों में इस्लाम के गौरवशाली अतीत का चित्रण हुआ है। ईसाई पात्र उनके उपन्यासों में लम्पटता का पर्याय हैं और गिरजाघर व्यभिचार व षड्यंत्र के अड्डे। देखने वाली बात यह है कि इसी काल में 'उमराव जान अदा' (1899) जैसा ठोस यथार्थवादी उपन्यास उर्दू में लिखा जा रहा था। कहना ना होगा कि हिन्दी और उर्दू के आरंभिक उपन्यास अलग–अलग भाषाओं में लिखे जाने के बावजूद एक ही प्रवृत्ति से संचालित हो रहे थे।

वस्तुतः हिन्दी–उर्दू समाज भूगोल के स्तर पर एक ही है। ऐसे में इन दोनों भाषाओं में आरंभिक भाषाओं की प्रवृत्तियों का टकरा जाना सहज ही है। इस बात की पुष्टि के लिए आरंभिक पंजाबी उपन्यासों का भी उदाहरण दिया जा सकता है। यह अकारण नहीं है कि आरंभिक पंजाबी उपन्यासों पर हिन्दी के आरंभिक उपन्यासों की स्पष्ट छाप है। पंजाबी उपन्यास 'दम्पत्ति प्यार' के लेखक ने उपन्यास की भूमिका में 'मेहता लज्जाराम शर्मा' के 'आदर्श दम्पत्ति' के आधार पर स्वतंत्र अनुवाद को स्वीकार किया है। 'सुखदेव कौर' पर भी 'परीक्षा गुरू' की स्पष्ट छाप है। अगर आरंभिक हिन्दी उपन्यास अंग्रेजी

उपन्यासों से प्रेरणा पा रहे थे, तो कई ऐसी भारतीय भाषायें भी थीं जो परस्पर एक–दूसरे को प्रभावित कर रही थीं। औपनिवेशिक शासन से त्रस्त भारतीय समाज के उपन्यासकारों की चिन्ताऐं एक जैसी होनी स्वभाविक भी थी।

मैंने जिन उपन्यासों को अपने अध्ययन का आधार बनाया है, उनमें से अधिकतर आज के अनुसार उपन्यास की विशेषताओं से युक्त नहीं है। परंतु इस कारण उनका महत्व कम नहीं हो जाता। उपन्यास के उद्‌भव के लिए कुछ अनुकुल स्थितियों की जरूरत होती है। भारत में उपन्यास का उदय बेहद प्रतिकूल स्थितियों में हुआ। 19वीं सदी में भारत में न तो औद्योगिकरण हुआ था, न ही मध्यवर्ग का व्यापक विस्तार हुआ था। उत्तर भारत में शिक्षित लोगों की संख्या भी बहुत कम थी। 1880 के दशक में हिंदी का गद्य भी शैशवावस्था में था। इन प्रतिकूल स्थितियों के बावजूद हिंदी में उपन्यास का हुआ। इन कारणों से आरंभिक हिंदी उपन्यासों में अपरिपक्वता दिखाई पड़ती है। वस्तुतः इस 'अपरिपक्वता' का भी अपना सौंदर्यशास्त्र हैं

हिंदी और उर्दू को आरंभिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर इनकी कुछ समान विशिष्टताएँ सामने आती हैं इन उपन्यासों में 'स्त्री शिक्षा' का मुद्दा प्रमुखता से आता है। 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामा शिक्षक', 'भाग्यवती', 'मिरातुल उरूस' आदि का मूल स्वर स्त्री शिक्षा ही है। औपनिवेशिक शासन व्यवस्था में जिस प्रकार प्रशिक्षित और अकुशल श्रमिक के बीच का भेद गहरा हो रहा था, उसी प्रकार परिवार के भीतर भी 'पढ़ी' और 'बेपढ़ी' गृहिणी का फर्क उभरने लगा था। पढ़ा लिखा मध्यवर्गीय युवक अपने लिए शिक्षित जीवन साथ की तलाश कर रहा था ताकि उसकी आने वाली पीढ़ियों की अच्छी परवरिश हो। आरंभिक उपन्यासकार चूँकि परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व से गुजर रहे थे, इस कारण 'स्त्री–चरित्रों' की कुछ सीमाएँ भी हैं। हर पढ़ी–लिखी स्त्री से उम्मीद की जाती थी कि वे अपनी धार्मिक

परंपराओं का अनुसरण करें यह अकारण नहीं है कि इन उपन्यासों में विष्णुपुराण, धर्मशास्त्र और कुरान का हवाला देकर पुरुषों को स्त्री से श्रेष्ठ बताया गया है। इनकी कुछ सीमाएँ हैं तो कुछ विशेषताएँ भी हैं। आरंभिक उपन्यासों की पढ़ी–लिखी स्त्रियाँ कई बार 'कुशल गृहिणी' की सीमा का अतिक्रमण कर जाती हैं। वे पति, परिवार और बच्चों के लिए अभिभावक की भूमिका भी निभाती हैं। 'मिरातुल उरूस' की 'असगरी' के सामने सारे पुरुष पात्र फीके लगते हैं। 'भाग्यवती' उपन्यास में 'भाग्यवती' के सामने कोई पुरुष पात्र टिक नहीं पाता। 'वामा शिक्षक' की 'किशोरी' अपने परिवार की अभिभावक है। वह सारे पुरुष पात्रों से 'बीए'। ये पढ़ी–लिखी स्त्रियाँ अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद काफी प्रगतिशील हैं। जिस दौर में इन उपन्यासों की रचना हो रही थी, उस समय शिक्षित स्त्री से आशा की जा रही थी कि वह अपने परिवार के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को समझे। वह परिवार का कुशल संचालन करे। आरंभिक उपन्यासकार पढ़ी–लिखी स्त्री को 'आज्ञाकारी' और 'कुशल गृहिणी' बनाना चाहते थे पर कई स्त्रियाँ इस ढाँचे का अतिक्रमण कर जाती है। जैसे–जैसे कथा का विकास होता है पुरुष पात्र पीछे छूटते जाते हैं, स्त्रियों का व्यक्तित्व निखरता जाता है। निःसंदेह ये स्त्रियाँ 'पति को परमेश्वर' मानने की मानसिकता से ग्रसित हैं, तो भी ये काफी हद तक प्रगतिशील, आत्मनिर्भर और स्वावलंबी हैं।

आरंभिक उपन्यासों को कई बार सुधारवाद और स्त्री–शिक्षा तक सीमित कर दिया जाता है। जबकि इसी दौर में 'उमराव जान अदा', और 'स्वर्गीय कुसम वा कुसुमकुमारी' जैसे यथार्थवादी उपन्यास लिखे गए। इनमें 'स्त्री–शिक्षा' के बजाए 'स्त्री त्रासदी' की कथा है। बच्ची अमीरन के उमराव जान बनने और कुसुम के वेश्या बनने की कहानी एक साथ सामंतवादी और जड़ धार्मिक परंपराओं की पोल खोल देती है।

आरंभिक उपन्यासों के केंद्र में 'स्त्री; के साथ–साथ उच्च मध्य वर्गीय युवा भी थे। 'परीक्षागुरू', 'सौ अजान एक सुजान', 'इब्नुलवक्त', 'शरीफजादा' और 'गुलेनार' को इस संदर्भ में पढ़ा जा सकता है। उच्च एवं मध्य वर्गीय युवा के बहाने इनमें 'भारत बनाम यूरोप' की भी चर्चा की गई। इन उपन्यासों में 'सांस्कृतिक अंतर्द्वंद्व' भी दिखता है। अंग्रेजी सभ्यता ने भारत में सांस्कृतिक द्वंद्व की स्थिति पैदा कर दी थी। अंग्रेजी शिक्षा के कारण पश्चिमी ज्ञान व विज्ञान का प्रवेश भारतीय समाज में हो गया था, पर एक वर्ग इस अंग्रेजी शिक्षा को भारतीयता पर खतरे के रूप में देख रहा था। पंडित रतननाथ सरशार की कृति 'फसाना–ए–आजाद' में एक तरफ अतीत का मोह है, दूसरी ओर नई वैज्ञानिक शिक्षा है। इन उपन्यासों में अप्रत्यक्ष रूप से नई पीढ़ी की तुलना में पुरानी पीढ़ी को ज्यादा कुशल और व्यवहारिक बताया गया है।

हिंदी में उपन्यास की आलोचना का इतिहास उतना ही पुराना है जितना उपन्यास लेखन का। सन् 1882 में प्रकाशित 'परीक्षागुरू' उपन्यास की आलोचना बालकृष्ण भट्ट ने अपने पत्र 'हिंदी प्रदीप' में की थी (1883)। सन् 1889 में 'हिंदी प्रदीप' में काशीप्रसाद जायसवाल का 'हिंदी उपन्यास लेखकों को उलाहना' शीर्षक एक लेख छपा था। सन् 1905 में 'समालोचक' में चंद्रधर शर्मा गुलेरी का 'हिंदी के उपन्यास लेखकों के नाम' शीर्षक से एक लेख छपा था। स्पष्ट है कि उपन्यास की रचना के साथ उसके सैद्धांतिक पक्षों पर भी विचार हो रहा था। भारतीय उपन्यासों का स्वरूप कैसा हो, इस प्रश्न पर काफी चर्चा हुई। 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल बनाम भारतीय उपन्यास' का उल्लेख हम शोध में कर चुके हैं। वस्तुतः भारतीय उपन्यासों ने मॉडल के रूप में विदेशी प्रभाव को तो अपनाया ही, आख्यान, कथागोई और दास्तान की परंपरा से भी काफी कुछ ग्रहण किया।

ग्रंथानुक्रमणिका

आधार ग्रंथ (हिंदी) –

- किशोर, श्री जैनेन्द्र : ***गुलेनार***, हित चिन्तक प्रेस, काशी संस्करण 1907 (नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, के पुस्तकालय में पुस्तक की प्रति क्रम संख्या 843.1/जै. 2 से सुरक्षित)
- गोस्वामी, किशोरीलाल : ***स्वर्गीय कुसुम वा कुसुमकुमारी***, श्री सुदर्शन प्रेस, वृन्दावन, मथुरा, द्वितीय संस्करण, 1915
- पण्डित गौरीदत्त : ***देवरानी जेठानी की कहानी***, संपादक डॉ. पुष्पपाल सिंह, रेमाघव पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड नोएडा, प्रथम पेपरबैक, संस्करण 2006
- फिल्लौरी, श्रद्धाराम : ***भाग्यवती*** (भूमिका और प्रस्तुति : मधुरेश) यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012
- भट्ट, पण्डित बालकृष्ण : ***सौ अजान एक सुजान*** (संपादन : मधुरेश) यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012
- मिश्र, भुवनेश्वर : ***बलवंत भूमिहार*** (प्रस्तुति : रामनिरंजन परिमलेंदु) विद्या विहार, नई दिल्ली, संस्करण 2010
- मिश्र, भुवनेश्वर : ***घराऊ घटना*** (प्रस्तुति : रामनिरंजन परिमलेंदु) विद्या विहार, नई दिल्ली, संस्करण 2010
- मुंशी, ईश्वरीप्रसाद, मुंशी, कल्याण राय : ***वामा शिक्षक*** (संपादन और प्रस्तुति : डॉ. गरिमा श्रीवास्तव), राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2014

- दास, लाला श्रीनिवास : ***परीक्षागुरु***, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008

- ठाकुर, जगमोहन सिंह : ***श्यामा स्वप्न***, ठाकुर जगमोहन सिंह समग्र, सम्पादक : रमेश अनुपम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण 2014

- श्री राधाकृष्णदास : ***निःसहाय हिंदू***, ग्रंथलोक, शाहदरा, दिल्ली, संस्करण 2009

आधार ग्रंथ (उर्दू) –

- अहमद, ऩज़ीर : ***दुलहन का दर्पण*** (मिरातुल उरुस), अनुवादक : जगन्नाथ प्रभाकर, सेतु प्रकाशन, झाँसी, प्रथमावृत्ति सं. 2028 विक्रमी

- अहमद, नज़ीर : ***इब्नुलवक़्त***, कौमी कॉन्सिल बराए–फ़रोग उर्दू जबान, नई दिल्ली, 1973

- अहमद, नज़ीर : ***बनातुननाश***, कौमी कॉन्सिल बराए–फ़रोग, उर्दू ज़बान, दिल्ली, 1983

- रुस्वा, मिर्जा हादी : ***उमराव जान 'अदा'*** (अनुवादक गिरीश माथुर), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति 2012

- रुस्वा, मिर्ज़ा हादी : ***शरीफ़जादा*** (अनुवाद– सम्पादन : डॉ. कृष्णदेव झारी), लिट्रेसी हाऊस, महरौली, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010

- सरशार, रतननाथ : ***फ़साना–ए–आजाद***, भुवन वाणी ट्रस्ट, मौसम बाग़, लखनऊ, संस्करण 1993

संदर्भ ग्रंथ/सहायक स्रोत (Secondary Sources/References)

- अग्रवाल, पुरुषोत्तम : ***विचार का अनंत***, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
- अम्मन, मीर : ***बागोबहार*** (हिंदी अनुवाद : नूरनबी अब्बासी), साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली, 1996
- अम्मन, मीर : ***बाग़ो–बहार*** (संपादन–लिप्यंतरण : अब्दुल बिस्मिल्लाह), परिचय प्रकाशन, दिल्ली, 2001
- अंसारी, उसलूब अहमद : ***उर्दू के पन्द्रह नाविल***, यूनीवर्सल बुक हाउस, अलीगढ़, 2003
- अंसारी, उसलूब अहमद : ***उर्दू के पन्द्रह नाविल***, यूनीवर्सल बुक हाउस, अलीगढ़, 2003
- ऑर्सीनी, फ्रांचेस्का : ***हिंदी का लोकवृत्त 1920–1940*** (अनुवाद : नीलाभ), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011
- ऑर्सीनी, फ्रांचेस्का : ***प्रिन्ट एण्ड प्लेजर : पॉपुलर लिटरेचर एण्ड 'इंटरटेनिंग फिक्शन इन कोलोनियन' नॉर्थ इंडिया***, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत, 2009
- आज़मी, वक़ार : ***दास्तान से अफसाने तक***, एजूकेशनल बुक हाउस, अलीगढ़, 1980
- अली, हैदर : ***हिंदी–उर्दू के प्रारम्भिक उपन्यासों में सुधारवादी चेतना***, ज्योतिपर्व प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2016

- क्लार्क, टी. डब्ल्यू. (एड.) : ***दि नॉवेल इन इंडिया : इट्स बर्थ एण्ड डेवलपमेंट***, जार्ज एलन एण्ड अनविन लि. लंदन, 1970
- कुमार, राधा : ***स्त्री संघर्ष का इतिहास*** (1800–1990) (अनुवादक : रमाशंकर सिंह), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
- गुप्त, आलोक (सं.) : ***भारतीय उपन्यास की अवधारणा और स्वरूप***, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, 2012
- गुप्त, आलोक (सं.) : ***भारतीय उपन्यास की अवधारणा***, रंगद्वार प्रकाशन, गुजरात, 1999
- गुप्त, बालमुकुंद : ***बालमुंकुद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध*** (संपादक : सत्यप्रकाश मिश्र), लोकभारती प्रकाशन, 2005
- गोरखपुरी, फिराक : ***उर्दू भाषा और साहित्य***, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, 2004
- चटर्जी, पार्थ : ***एम्पायर एण्ड नेशन***, एसेन्शियल राइटिंग्स 1985–2005, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत, 2012
- जबीं, नगीन : ***उर्दू नाविल का समाजी और सियासी मुताला***, दरियाबाद, इलाहाबाद, 2002
- ताराचंद : ***भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास*** (खण्ड दो), प्रकाशन विभाग, दिसंबर, 1969
- पणिक्कर, के.एन. : ***औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष***, (अनुवाद : आदित्य नारायण सिंह), ग्रंथ शिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2009

- फॉर्स्टर, ई. एम. : ***उपन्यास के पक्ष*** (अनुवाद : राजुल भार्गव), रास्जस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1982
- भट्ट, बालकृष्ण : ***बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध*** (संपादक : सत्यप्रकाश मिश्र), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011
- मधुरेश : ***हिंदी उपन्यास का विकास***, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
- मुखर्जी, मीनाक्षी : ***रियलिज्म एण्ड रियलिटी : द नॉवेल एण्ड सोसाइटी इन इंडिया***, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005
- दामोदरन, के. : ***भारतीय चिन्तन परम्परा*** (अनुवादक : जी. श्रीधरन), पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2001
- वर्मा, निर्मला : ***शब्द और स्मृति***, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2011
- वॉट, ऑयन : ***उपन्यास का उदय*** (डेफो, रिचर्डसन और फील्डिंग का अध्ययन), अनुवादक : धर्मपाल सरीन, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1990
- रईस, कमर : ***रतननाथ सरशार,*** साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1991
- रजा, जाफर : ***अब्दुल हलील शरर***, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2002
- राय, गोपाल : ***उपन्यास की संरचना***, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
- राय, गोपाल : ***हिंदी उपन्यास का इतिहास***, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

- लबॉक, पर्सी : ***दि क्रॉफ्ट ऑफ फिक्शन***, बी.आई. पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1979

- लेविस, एफ.आर. : ***दि ग्रेट ट्रेडिशन*** : जॉर्ज इलियट, हेनरी जेम्स, जोसफ कोनरॉड, पेंगुइन बुक्स, ऐन एसोसियेशन विद चट्टो एण्ड विन्डस, मिडलसेक्स, इंग्लैंड, 1977

- लुकाच, जार्ज : ***थ्योरी ऑफ द नॉवल***, एम आई टी प्रेस, 1971

- लूकाच, जार्ज : ***इतिहास दृष्टि और ऐतिहासिक उपन्यास***, (अनुवाद : कर्ण सिंह चौहान), ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2009

- सक्सेना, प्रदीप : ***तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यविरोधी चरित्र***, शिल्पायन, नई दिल्ली, 2007

- स्मिथ, गैरी : ***दि नॉवल एण्ड दि नेशन : स्टडीज इन दि न्यू आइरिश फिक्शन***, प्लूटो प्रेस, लंदन, 1997

- सिंह, ओमप्रकाश (सं.) : ***भारतेंदु हरिश्चंद्र ग्रंथावली***, भाग–6, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008

- सिंह, मुरली मनोहर प्रसाद (सं.) : ***हिंदी–उर्दू साझा संस्कृति***, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 2011

- सिंह, नामवर : ***प्रेमचंद और भारतीय समाज*** (संपादक : आशीष त्रिपाठी), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

- सिंह, नामवर : ***हिंदी का गद्यपर्व*** (सं. आशीष त्रिपाठी), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011

- शिशिर, कर्मेन्दु : ***हिन्दी नवजागरण और जातीय गद्य परम्परा***, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2008
- शिशिर, कर्मेन्दु (सं.) : ***नवजागरणकालीन पत्रकारिता और सारसुधानिधि***, भाग–1, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2008
- शिशिर, कर्मेन्दु : ***भारतीय नवजागरण और समकालीन संदर्भ,*** नयी किताब, दिल्ली, 2013
- श्रीवास्तव, गरिमा : ***भारतीय साहित्य के निर्माता : लाला श्रीनिवास दास***, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 2008
- हुसैन, एहतेशाम : ***उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास***, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
- रमाबाई, पण्डित : ***हिंदू स्त्री का जीवन*** (अनु. शंभू जोशी), संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2006
- सिंह, बच्चन : ***हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास***, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- पाण्डेय, भवदेव : ***बंग महिला : नारी मुक्ति का संघर्ष***, साक्षरा प्रकाशन, दिल्ली, 2011
- चंद्र, बिपिन (संपादक) : ***आधुनिक भारत का इतिहास***, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्युटर्स, नई दिल्ली, 2009
- सक्सेना, प्रदीप : ***1857 और नवजागरण के प्रश्न***, नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, 2004

- पाण्डेय, मैनेजर : ***उपन्यास और लोकतंत्र,*** वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013
- पाण्डेय, मैनेजर : ***साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका***, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1981
- नसीम, कमल : ***उर्दू साहित्य कोश***, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1998
- फ़ारुकी, शम्सुर्रहमान : ***उर्दू का आरम्भिक युग***, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2008
- शर्मा, पद्मसिंह : ***हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी***, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009
- नक़वी, नुरूल हसन : ***नजीर अहमद***, साहित्य अकादमी, दिल्ली, 1984
- हुसैन, सैयद एहतिशाम : ***उर्दू अदब की तनकीदी तारीख***, तरक्की उर्दू ब्यूरो, 1988
- नारंग, गोपीचन्द : ***बीसवीं सदी में उर्दू अदब***, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, 2002
- तिवारी, रामचन्द्र : ***हिंदी का गद्य साहित्य***, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2009
- शर्मा, रामविलास : ***भारतेंदु हरिश्चन्द्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ***, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
- शर्मा, रामविलास : ***महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण***, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012

- फॉक्स, रैल्फ : ***उपन्यास और लोकजीवन*** (अनुवाद : नरोत्तमदास), पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2009
- यादव, राजेन्द्र : ***अठारह उपन्यास***, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- वर्मा, लाल बहादुर : ***यूरोप का इतिहास*** (पुनर्जागरण से क्रांति तक, 1453–1789 तक), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 1998
- तलवार, वीरभारत : ***रस्साकशी***, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
- तलवार, वीरभारत : ***राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य***, हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 1993
- सिंह, वैभव : ***भारतीय उपन्यास और आधुनिकता***, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2013
- मिश्र, शिवकुमार : ***यथार्थवाद***, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
- सत्यकाम : ***भारतीय उपन्यास की दिशाएँ***, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
- दास, शिशिर कुमार : ***ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर***, 1800–1910, वेस्टर्न इम्पैक्ट : इंडियन रेस्पांस, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2008
- सरकार, सुमित : ***आधुनिक भारत*** (1885–1947) (अनुवाद–सुशीला डोभाल), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
- जैन, ज्ञानचंद : ***प्रेमचंद–पूर्व के हिंदी उपन्यास***, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, 1998

- सिंह, गोपेश्वर : **नलिन विलोचन शर्मा**, संकलित निबंध, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2011
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद : ***हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास***, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007
- शंभुनाथ (सं.) : ***1857, नवजागरण और भारतीय भाषाएँ***, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, 2008

सहायक पत्र–पत्रिकाएँ

- ***अभिनव भारती*** : 2006–07, प्रकाशक : अलीगढ़ यूनिवर्सिटी (संपादक : प्रदीप सक्सेना)
- ***आलोचना*** : जुलाई–सितम्बर 2007 अंक (संपादक– नामवर सिंह)
- ***उद्‌भावना*** : अंक 75 (संपादक : प्रदीप सक्सेना)
- ***कथादेश*** : जुलाई 2007 अंक (संपादक : हरिनारायण)
- ***पक्षधर*** : उपन्यास आलोचना महाविशेषांक (भाग–1), जुलाई–दिसंबर, 2015 (संपादक : विनोद तिवारी)
- ***पक्षधर*** : उपन्यास आलोचना महाविशेषांक (भाग–2), जनवरी–जून, 2016, आलोचना जनवरी–मार्च 1988 (संपादक : विनोद तिवारी)